प्रेमचन्द : घर में

शिवरानी देवी

प्रेमचन्द : घर में

लेखिका

शिवरानी देवी प्रेमचन्द

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस बनारस

प्रथम संस्करण, दिसम्बर, १९४४
युद्ध-जनित बढ़ा हुआ मूल्य ५)

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस

दो शब्द

पाठकों के सामने इस पुस्तक को रखते हुए मुझे वही सुख अनुभव हो रहा है जो एक आदमी को अपना कर्तव्य पूरा करने से होता है। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य उस महान् आत्मा की कीर्ति फैलाना नहीं है, जैसा कि अधिकांश जीवनियों का होता है। इस पुस्तक में आपको घरेलू संस्मरण मिलेंगे पर इन संस्मरणों का साहित्यिक मूल्य भी इस दृष्टि से है कि इनसे उस महान् साहित्यिक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से भी वह व्यक्ति कितना महान्, किनना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है। और यह बताने का अधिकार जितना मुझे है उतना और किसी को नहीं, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में हम दोनों 'एक ही नाव के यात्री' थे और हमने साथ-साथ ही ज़िन्दगी के सब तूफ़ानों को झेला था, दुःख में और सुख में मैं हमेशा उनके साथ, उनके बगल में थी। आदमी की पहचान तकलीफ़ के भँवर में पड़कर ही होती है और चूँकि हम दोनों साथ-साथ उन तकलीफ़ों से लड़े, साथ-साथ रोये और हँसे, इसी लिए मुझे उनकी विशालता का थोड़ा-सा अन्दाज़ लगाने का मौक़ा मिला।

उनके प्रति और उनके असंख्य प्रेमियों के प्रति यह मेरी बेवफ़ाई होती अगर मैं उनकी मानवता का थोड़ा-सा परिचय न देती। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक साहित्यिक आलोचकों को भी प्रेमचंद-साहित्य समझने में मदद पहुँचायेगी क्योंकि उनकी आदमियत की छाप उनकी एक-एक पंक्ति और एक-एक शब्द पर है।

पुस्तक के लिखने में मैंने केवल एक बात का अधिक से अधिक ध्यान रखा है और वह है ईमानदारी, सचाई। घटनाएँ जैसे-जैसे याद आती गयी हैं, मैं उन्हें लिखती गयी हूँ। उन्हें सजाने का मुझे न तो अवकाश था और न साहस। इसलिए हो सकता है कहीं-कहीं पहले की घटनाएँ बाद में और

बाद की घटनाएँ पहले आ गयी हों। यह भी हो सकता है कि अनजाने ही में मैंने किसी घटना का ज़िक्र दो बार कर दिया हो। ऐसी भूलों को पाठक क्षमा करेंगे।

साहित्यिकता के भूखे पाठकों को सम्भव है इस पुस्तक से कुछ निराशा हो क्योंकि साहित्यिकता मेरे अन्दर ही नहीं है। पर मेरी ईमानदारी उनके दिल के अन्दर घर करेगी, यह मैं जानती हूँ; क्योंकि मैंने किसी बात को बढ़ाकर कहने की कोशिश नहीं की है गोकि तीस साल से ऊपर तक ज़िन्दगी के हर दुःख और सुख में उनकी साथी होने के नाते मैं जानती हूँ कि अगर उनके गुणों का बखान करने में मैं तिल का ताड़ भी बनाती, तो भी उनके चरित्र की विशालता का पूरा परिचय न मिल पाता। पर मैंने तो सभी बातें, बग़ैर अपनी तरफ़ से कुछ भी मिलाये, ज्यों की त्यों कह दी हैं।

—लेखिका

समर्पण

स्वामी,

तुम्हारी ही चीज़ तुम्हारे चरणों में चढ़ाती हूँ।

इस तुच्छ सेवा को अपनाना।

तुम्हारी दासी या रानी

शिवरानी

प्रेमचन्द : घर में

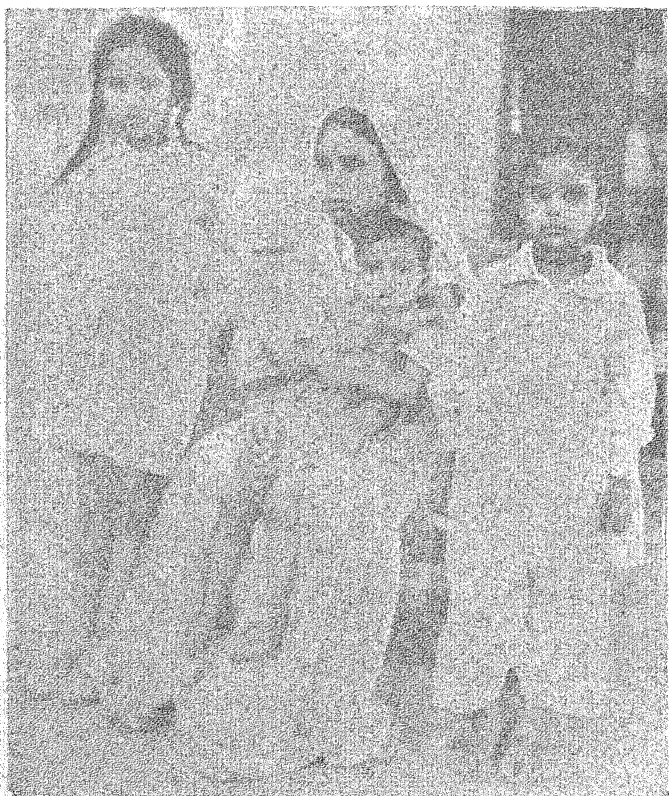


प्रेमचन्द

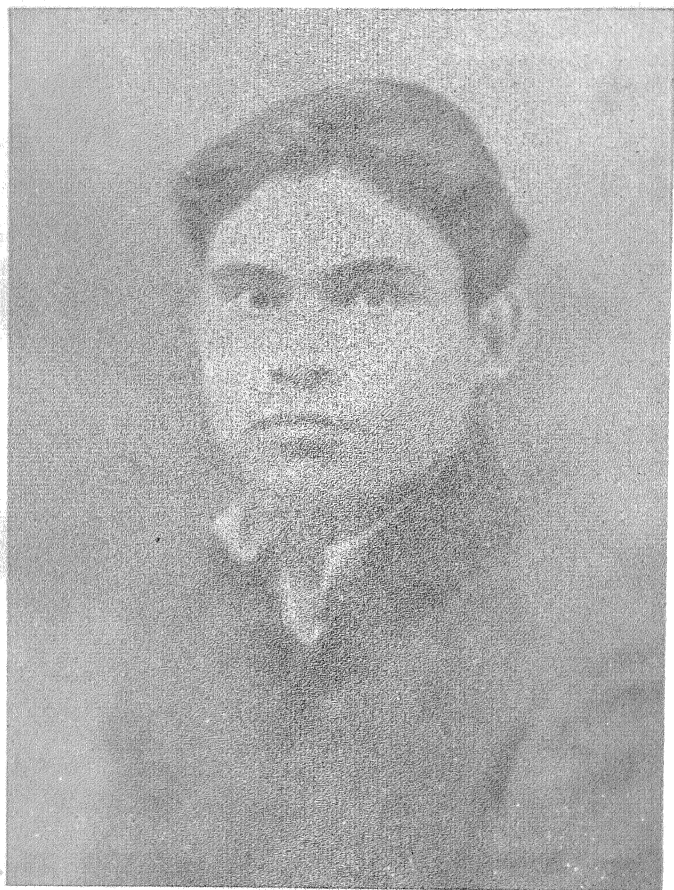




शिवरानी देवी, चि० विनोदकुमार श्रौर प्रबोधकुमार



लड़की—कमला देवी और उसके बच्चे



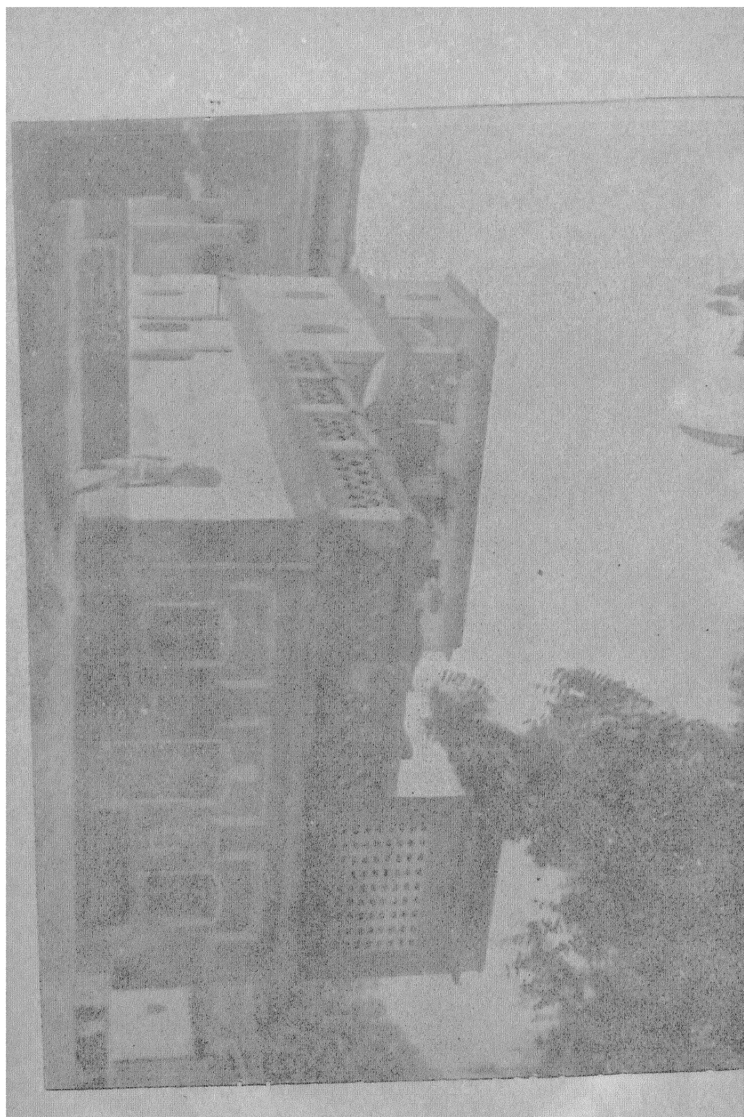
लड़का—श्रीपतराय



लड़का—अमृतराय



वह घर जहाँ प्रेमचन्द का जन्म हुआ



बचपन

आपका जन्म बनारस से चार मील दूर लमही गाँव में सावन बदी १०, संवत् १९३७ (३१ जुलाई सन् १८८० ई०,) शनिवार को हुआ था। पिता का नाम अजायबराय था। माता का नाम आनन्दी देवी। आप कायस्थ दूसरे श्रीवास्तव थे। आपके तीन बहनें थीं। उनमें दो तो मर गईं, तीसरी बहुत दिनों जीवित रहीं। उस बहन से आप ८ वर्ष छोटे थे। तीन लड़कियों की पीठ पर होने से आप तेतर कहलाते थे। माता हमेशा की मरीज़ थीं। आपके दो नाम और थे—पिता का रखा नाम, मुंशी धनपतराय, चाचा का रखा हुआ नाम मुंशी नवाबराय। माता-पिता दोनों को संग्रहणी की बीमारी थी। पैदा होने के दो-तीन साल बाद आपको ज़िला बाँदा जाना पड़ा। आपकी पढ़ाई पाँचवें वर्ष शुरू हुई। पहले मौलवी साहब से उर्दू पढ़ते थे। उन मौलवी साहब के दरवाज़े पर सब लड़कों के साथ पढ़ने जाते थे। आप पढ़ने में बहुत तेज़ थे। लड़कपन में आप बहुत दुर्बल थे। आपकी विनोदप्रियता का परिचय लड़कपन ही से मिलता है। एक बार की बात है—कई लड़के मिलकर नाई का खेल खेल रहे थे। आपने एक लड़के की हजामत बनाते हुए बाँस की कमानी से उसका कान ही काट लिया। उस लड़के की मा झल्लाई हुई उनकी माता से उलाहना देने आई। आपने जैसे ही उसकी आवाज़ सुनी, खिड़की के पास दुबक गये। माँ ने दुबकते हुए उन्हें देख लिया था, पकड़कर चार झापड़ दिये।

माँ—उस लड़के के कान तूने क्यों काटे ?

'मैंने उसके कान नहीं काटे; बल्कि बाल बनाया है।'

'उसके कान से तो ख़ून बह रहा है और तू कह रहा है कि मैंने बाल बनाये।'

'सभी तो इसी तरह खेल रहे थे।'

'अब ऐसा न खेलना।'

'अब कभी न खेलूँगा।'

एक और घटना है। चाचा ने सन बेचा। और उसके रुपए लाकर उन्होंने ताक पर रख दिये। आपने अपने चचेरे भाई से सलाह की जो उम्र में आप से बड़े थे। दोनों ने मिलकर रुपए ले लिये। आप रुपए उठा तो लाये; मगर उन्हें ख़र्च करना नहीं आता था। चचेरे भाई ने उस रुपए को भुनाकर बारह आने मौलवी साहब की फ़ीस दी। और बाक़ी चार आनों में से अमरूद, रेवड़ी वगैरह लेकर दोनों भाइयों ने खायी।

चाचा साहब ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे और बोले—तुम लोग रुपया चुरा लाये हो?

आपके चचेरे भाई ने कहा—हाँ, एक रुपया भैया लाये हैं।

चाचा साहब गरजे—वह रुपया कहाँ है?

'मौलवी साहब को फीस दी।'

चाचा साहब दोनों लड़कों को लेकर मौलवी साहब के पास पहुँचे और बोले—इन लड़कों ने आपको पैसे दिये हैं।

'हाँ, बारह आने दिये हैं।'

'उन्हें मुझे दीजिए।'

चाचा साहब ने उनसे फिर पूछा—चार आने कहाँ हैं?

'उसका अमरूद लिया।'

इस बात का उल्लेख करते हुए एक दिन उन्होंने अपने बचपन के बारे में ख़ुद सुनाया था—'चाचा अपने लड़के को पीटते हुए घर लाये। मेरी शक्ल अजीब हो गई थी। मैं डरता घर आया। माँ एक लड़के को पिटता देखकर मुझे भी पीटने लगीं। चाची ने दौड़कर मुझे छुड़ाया। मुझे ही क्यों छुड़ाया, अपने बच्चे को क्यों नहीं छुड़ाया, मैं नहीं जान सका। शायद मेरी दुर्बलता-वश उन्हें दया आ गई हो।'

'अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिनों तक पहना है। जब तक मेरे पिताजी जीवित रहे तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज़्यादा

का जूता कभी नहीं ख़रीदा। और चार आने से ज़्यादा गज का कपड़ा कभी नहीं ख़रीदा। मैं सम्मिलित परिवार में था, इसलिए मैं अपने को अलग नहीं समझता था। मैं अपने चचेरे भाइयों को मिलाकर पाँच भाई था। जब मुझसे कोई पूछता तो मैं यही बतलाता कि हम पाँच भाई हैं। मैं गुल्ली-डण्डा बहुत खेलता था।

'जब मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ बीमार पड़ीं। छः महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा झलता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबंध में रहते थे। मेरी बहन ससुराल में थीं। उनका गौना हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मैं उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस रोज़ पहले मेरी बहन आई। घर से मेरी दादी भी आईं। जब मेरी माँ मरने लगीं तो मेरा, मेरी बहन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ में देकर बोलीं—ये तीनों बच्चे तुम्हारे हैं।

'बहन, पिता तथा बड़े भाई सब रो रहे थे। पर मैं कुछ भी नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहन अपने घर चली गईं। दादी, भैया और पिताजी रह गये। दो-तीन महीने बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली आईं। मैं और भैया रह गये। भैया दूध में शक्कर डालकर मुझे ख़ूब खिलाते थे; पर माँ का वह प्यार कहाँ! मैं एकान्त में बैठकर ख़ूब रोता था।

'पाँच-छः महीनों के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा काम—मौलवी साहब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तोड़कर चूसना और मटर की फली तोड़कर खाना—चलने लगा।

'पिताजी जब बहन के यहाँ जाते तो अपने साथ मुझे अवश्य ले जाते। मैं अपनी दादी से कहानियाँ ख़ूब सुनता। दादी और भैया में झगड़ा भी हो जाता। मैं दादी से अपनी तरफ़ मुँह करने को कहता, भैया अपनी तरफ़। दादी मुझे अधिक मानती थीं।

'फिर मेरे पिता की बदली जीमनपुर हुई। वहाँ पिताजी के साथ में, मेरी दादी गये। भैया इन्दौर गये।

'कुछ दिनों के बाद चाची आईं। यह शादी दादी को अच्छी नहीं लगी। चाची के साथ उनके भाई विजयबहादुर भी आये। चाची आते ही मालकिन बनीं। चाची विजयबहादुर को अधिक मानती थीं, मुझे कम। पिताजी डाकख़ाने से जो भी चीज़ खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे उन्हें खुद खायँ। वे उनकी लाई हुई चीज़ों को पिता के सामने रखतीं तो पिताजी बोलते 'मैं ये चीज़ें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानतीं तो पिताजी झल्लाकर बाहर चले जाते।

'किसी तरह एक साल बीता। बहन अपने घर गईं, दादी भी घर आईं और मर गईं।

'पिताजी ने जो मकान ले रखा था, उसका किराया डेढ़ रुपए था। निहायत गन्दा मकान था। उसी के दरवाज़े पर एक कोठरी थी, वही मुझे सोने के लिए मिली। मैं विनोद के लिए बग़ल में एक तमाखूवाले के मकान चला जाया करता। मेरी उम्र उस समय १२ साल की थी।'

गोरखपुर : कज़ाकी

'पिताजी का तबादला गोरखपुर को हुआ। मकान यहाँ भी उसी तरह का था। इसमें भी वही दरवाज़े की कोठरी थी। गोरखपुर जब मैं आया तो मेरी उमर तेरह साल की थी। मिशन हाई स्कूल में छठें दर्जे में मेरा नाम लिखाया गया। चाची साथ थीं। दादी तो मर चुकी थीं।

'मुझे पतंग उड़ाने का शौक था; मगर पैसे पास न थे। विजयबहादुर और मैं बाले मियाँ के मैदान की ओर जाते और वहाँ कनकैयों को देखते रहते और जहाँ कनकैया गिरी कि टूटी डोर मिल जाती, तब मैं अपना शौक़ पूरा करता।

'कमरे में हम दोनों रात के वक़्त ही रहते थे। विजयबहादुर मुझसे

उमर में कम थे। वह हमारे साथ थे। यहाँ भी तम्बाकूवाले की दूकान मुझे मिल गई। और मुझे जब छुट्टी मिलती, तमाखूवाले की दूकान पर चला जाता, क्योंकि घर पर कोई भी दिलचस्पी न थी। वहीं मुझे लिखने का भी शौक़ हुआ था। मैं लिखता और फाड़ता, लिखता और फाड़ता। कभी-कभी मेरे पिताजी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी में भी आ जाते थे। जो कुछ मैं लिखकर रखता, वे देख लेते और पूछते, "नवाब, कुछ लिख रहे हो?" मैं शर्माकर गड़ जाता। मगर इस विषय में पिताजी को कोई दिलचस्पी न थी। क्योंकि एक तो उन्हें काम के मारे छुट्टी न मिलती थी, दूसरे इस विषय के वे जानकार भी न थे। मैं रात को चाहे जहाँ रहूँ, उनसे इससे कोई बहस नहीं। मैं बाहर रहता था, वे अन्दर। शायद पहले के लोग इसे अपनी ड्यूटी नहीं समझते थे।

'मेरे पड़ोस में रामलीला होती थी, रामलीला के राम, सीता, लक्ष्मण मुझे बहुत अच्छे लगते थे। मेरे पास उस समय जो भी चीज़ रहती, मैं राम के लिए लेकर दौड़ता। पैसे भी जो रहते, उन्हीं को दे आता। वे अगर मुझसे बात करते तो मैं सातवें आस्मान पर पहुँच जाता। बड़ी ख़ुशी होती थी। मैं भी कैसा भोंदू था। आजकल के बच्चे मुझसे ज़्यादा चालाक होते हैं।

'पैसों की दिक़्क़त तो मुझे हमेशा रहती थी। मुझे बारह आने महीने में फ़ीस लगती थी। उन बारह आनों में से मैं एकाध आने हर महीने खा जाता था! जिस मुहल्ले में मैं था, उसमें छोटी जात के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे। इसलिए फ़ीस देने में मुझे बड़ी दिक़्क़त होती थी। घर में माँ तो थीं नहीं। चाची ही से माँगता। वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी। इसलिए अपनी माताकी याद मुझे बार-बार सताती थी। सच कहता हूँ, झूठ बोलना भी एक फ़न है। सच कहने के ही कारण मैं मारा जाता। जिस घर में मैं था, वह एक अहीरिन का था। वह विधवा थी। इनमें और मेरी चाची में काफ़ी हँसी-मज़ाक़ होता था। मैं भी सुनता। मुझे उनके हँसी-मज़ाक़ में मज़ा आता। मुझे तेरह साल की उम्र

में ही उन बातों का ज्ञान हो गया था, जो कि बच्चों के लिए घातक हैं।

'पिताजी का तबादला जमनिया हुआ। मैं भी साथ आया। वहाँ जो हरकारा था, वह मुझे बहुत प्यार करता था। वह मुझे कन्धे पर लेकर दौड़ता। मैं उसके आने की राह देखा करता। वह बाहर से ईख, अमरूद, गाजर मेरे लिए लाता। इसी से वह मुझे बहुत प्रिय था। एक दफ़ा पिताजी ने उसे निकाल दिया। जब वह दूसरे दिन नहीं आया, तब मैंने चाची से पूछा— आज कज़ाकी क्यों नहीं आया चाची ?

'मुझे क्या मालूम, क्यों नहीं आया।'

'ख़ैर, मैं ख़ामोश था। अन्दर से मेरा जी कुरेद रहा था। जब पिताजी रात को आये तो डरते-डरते मैंने पूछा—बाबूजी, कज़ाकी कहाँ गया ?

'पाजी निकाल दिया गया।'

मैंने डरते-डरते कहा—बाबूजी, आदमी बड़ा अच्छा है।

पिता—गधा था।

'मैं ख़ामोश। रात भर मुझे नींद नहीं आई। मैं सोचता, बेचारा कितना भला आदमी है। मैं बड़ा होने पर ऐसे आदमी को हमेशा अपने पास रखूँगा। मैं सुबह उसके यहाँ दौड़ा गया और बुला लाया। चुपके से भंडारे में जाकर आटा, दाल, चावल निकाल लाया। उस साल मैं आठवीं में पढ़ता था। चाची ने भी उसे रखने के लिए सिफ़ारिश की। और मेरे हाथ से सब सामान लेकर थोड़ा-थोड़ा देने को कहा।'

बड़े बाबू

'एक रोज़ मेरे पिता के दोस्त बड़े बाबू ने मुझे बुलाया। मैं गया। मेरी पीठ पर हाथ फेरकर बोले—तू दुबला क्यों हो गया है ? क्या दूध-घी तुझे नहीं मिलता ? तेरी माँ नहीं देती ? तुम दूध ख़ूब पिया करो। घी भी ख़ूब खाया करो।

'उनके इन शब्दों को सुन मैं रो पड़ा। उन्होंने मुझे गले से लगा लिया।

कहा—बेटा, रो मत। दूसरे रोज़ मैंने देखा कि चाची ने मेरी दाल में कच्चा घी डाल दिया।

मैंने कहा—मेरी दाल में कच्चा घी क्यों डाल दिया ?

'कच्चा नहीं पक्का है।'

मैंने कहा—दाल में घी डाला ही क्यों ?

'तुम्हीं तो घर-घर रोते हो कि मुझे कुछ नहीं मिलता।'

'मैंने किससे कहा ?'

'बड़े बाबू से कहा है कि मेरी चाची मुझे घी-दूध नहीं देती। और किससे कहेगा !'

'मैंने नहीं कहा।'

'तूने नहीं कहा तो वे वैसे ही शिकायत करते थे ? खुद खाता नहीं, मुझे बदनाम करता है।'

'मैंने कुछ नहीं कहा।'

'झूठा, मक्कार।'

'मुझे रोना आ गया।'

मैं—जब आपको खाना नहीं था तो रोने क्यों लगे ?

वे—अब तुम मुझे कैसे खिलाती हो। स्त्री में स्त्रीत्व ही नहीं, बल्कि मातृत्व होना चाहिए। जब तक वह भाव न हो, तब तक किसी प्यार, पालन कुछ भी सम्भव नहीं।

मैं—जब यह बात थी तो आख़िर आप कैसे खाना चाहते थे ?

वे—मुझे घी शक्कर के साथ अच्छा लगता है। वैसे नहीं। दाल में मुझे पसन्द नहीं।

मैं—अब कैसे आप खाते हैं ?

'इस तरह किसे ग़रज़ पड़ी थी कि मुझे खिलाता। इसी से मैं खाता भी न था। पहले दूध खिलाना बच्चों के लिए ज़रूरी न था। न किसी और के लिए था।'

मैं—यह आप कैसे कहते हैं कि बच्चों को ज़रूरी न था। मेरे यहाँ तो सब दूध खाते थे।

'तुम ज़मींदार की लड़की हो।'

'तो फिर रहिए साहब, जैसे आप रहते थे।'

पाँच रुपये का का गुड़

'एक साल के बाद मुझे बनारस आना पड़ा। उम्र पन्द्रहवीं। नवें में पढ़ता था।

पिताजी—धनपत, तुझे कितना ख़र्चा लगेगा ?

मैं—पाँच रुपया दे दिया कीजिएगा।

'पिताजी ने समझा, सस्ते बला टली। और मैं बनारस जब आया तब मैंने समझा कि दो रुपए तो फ़ीस ही के लग जायँगे। बाक़ी बचे तीन रुपए। एक रुपए का दूध। यह सब मिलाकर पूरा ख़र्चा नहीं बैठता। मैंने सोचा, प्राइवेट पढ़ूँ। दिन भर शहर में रहता। सुवह चाची गुड़ अपने पास से दे देती थीं। दिन भर बनारस में रहता और पढ़ता। घर से किसी तरह की इम्दाद मिलने की आशा न थी। क्योंकि ग़रीबी का घर था। एक कुप्पी के सामने रात को बैठकर टाट बिछाकर पढ़ता।

'ख़ैर, जब इम्तहान करीब आया तो उसी बीच पिताजी ने पाँच रुपए का गुड़ ख़रीदकर रखने के लिए मेरे पास भेजा था, क्योंकि मेरी शादी होनेवाली थी। मैंने गुड़ तो ख़रीद लिया। और हमने—यानी मैंने, मेरे चचेरे भाई तथा गाँव के कई मित्रों ने उस गुड़ को बारी-बारी से खाना शुरू किया। रोज़ ही सेर-दो सेर गुड़ निकलने लगा। जब मैंने देखा कि गुड़ की सन्दूक़ भी काफ़ी ख़ाली हो चुकी है, तो मैं सोचता, अब इसे न छुऊँगा। मगर गुड़ खाने की ऐसी लत पड़ गई थी कि इस प्रतिज्ञा को निभा न पाता। एक रोज़ मैंने सन्दूक की चाभी को दरवाज़े की दराज़ में डाल दिया। सोचा कि अब न खाऊँगा। न रहेगी बाँस न बजेगी बाँसुरी। फिर भी जब मण्डली इकट्ठा हुई तो मैं गुड़ न

खाने की प्रतिज्ञा न रख सका। प्रतिज्ञा तोड़नी ही पड़ी। और दराज़ में से कुंजी निकाली ही गई। और उसमें से फिर खाना शुरू हुआ। जब वह आधा हो गया तब मैंने उसकी चाभी कुएँ में डाल दी। जब पिताजी घर आये और चाची से गुड़ माँगा, तो सन्दूक का ताला तोड़ना पड़ा।

'चाची गुड़ देखकर बहुत झल्लाईं।'

'मेरी शादी हुई। मैं अपनी शादी में बड़ा खुश था। मण्डप छाने के लिए बाँस मैंने खुद काटा था।'

विवाह

'मेरा विवाह बस्ती ज़िले के मेंहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के ज़मींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया, तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मज़ाक़ का बाज़ार गर्म था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी-मज़ाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मज़ाक करती थीं, मैं अकेला उनसे परेशान था। ख़ैर किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया। कई रोज़ का अरसा हो गया था। ऊँटगाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज़्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा ख़ून सूख गया।'

मैं—ठीक तो थीं। तुम भी सीधी ग़रीब को पाकर अपने को कुछ लगाते हो!

'नहीं जी, बेशर्मी मुझे पसंद न थी। जो जितनी ही दूर रहता है, उसे उतना ही देखने के लिए दिल में कुतूहल होता है।'

मैं कहती—इसके माने तो यह हुए कि औरतें हमेशा पुरुषों से तेज़ रहती हैं। यह तो अच्छी रही। मरे को मारे शाह मदार। बड़े से दबना, छोटे को दबाना ; यह तो कोई अच्छी बात नहीं।

'अजी, तुम्हारे साथ पहले से मेरी शादी हुई होती तो मेरा जीवन इससे आगे होता।'

मैं—जब तक इन्सान अँधेरी रात न देखे तब तक रोशनी की वक़त उसे कैसे मालूम हो! तुम अपनी चाची के साथ मेरी भी मिट्टी पलीद कर देते। फिर तुम्हीं ने कौन-सी मदद मेरी की। मुझे ख़ुद इस घर में स्थान बनाना पड़ा। अपने लिए नहीं, बल्कि आपके लिए भी। अगर आप मेरी बीवी होते तो मैं बताती कि स्त्रियों के साथ कैसे रहना चाहिए।

'अच्छा, तुम यह समझती हो कि मैं रहना नहीं जानता था?'

'पुरुष का काम यह है कि उसे ब्याह कर लाये तो उसका मालिक बने।'

वे हँसकर बोले—अब तो मैंने आपको मालिक बना दिया।'

'मुझे मालिक बना दिया। एक की मिट्टी पलीद कर दी। जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा होती है। जिसे मैं बुरा समझती हूँ, वह हमारे ही यहाँ हो और हमारे हाथों हो। मैं स्वयं तकलीफ़ सहने को तैयार हूँ; परन्तु स्त्री जाति की तकलीफ़ मैं नहीं देख सकती। उसी का प्रायश्चित्त शायद मुझे भी करना पड़ेगा; हालाँकि मैं बेगुनाह हूँ। मेरे पिता को मालूम होता तो आपके साथ मेरी शादी हर्गिज़ न करते।

'वह बदसूरत तो थीं ही। उसके साथ-साथ ज़बान की भी मीठी न थीं। यह इन्सान को और भी दूर कर देता है।'

मैं—आप दावे के साथ कह सकते हैं कि आपका अपना चरित्र अच्छा था?—ख़ामोश! जब आदमी ख़ुद वैसा न हो तो दूसरे से आशा करना व्यर्थ है।

'मैंने उनको उनके घर पहुँचा दिया और ख़ुद अपने यहाँ रह गया। मेरी क्या ज़्यादती?'

मैं—आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर में बैठी हैं। यह क्या स्त्रियों के साथ अन्याय नहीं है? मैं भी बदसूरत होती, तो आप मुझे भी छोड़ देते। अगर मेरा बस होता तो मैं सब जगह ढिंढोरा पिटवाती

कि कोई भी तुम्हारे साथ शादी न करे।

'इसी लिए तो तुम्हें मालूम न हुआ। पहले क़िस्सा भी तो सुनो। पीछे गरम होना। मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह मेरी शादी चाची के पिता ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले—लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफ़सोस ! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री ! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। चाची ने कहा—देखा जायगा।

'जब मेरी चाची जमनिया जाने लगीं तो मेरी बीवी को भी साथ लेती गईं। छः महीने भी वहाँ पिताजी न रहने पाये कि उनका तबादला लखनऊ हो गया। मैं तो नवें में पढ़ता था। पिताजी लखनऊ जाते समय सबको मढ़वाँ पहुँचा गये। मैं तो पहले ही से वहीं था। अब यह सब बला मेरे सिर पड़ी। चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं। उसकी शिकायत भी चाची एकान्त में मुझसे किया करती थीं। वह भी अपनी क़िस्मत को रोती थी। बीच में मेरी आफ़त थी। अगर बीच में चाची न होतीं तो शायद मेरी उनकी ज़िन्दगी एक साथ बीत भी जाती।'

मैं बोली—इसका मतलब यह है कि आप बिल्कुल भोंदू थे।

'कह तो दिया कि सचमुच मैं भोंदू था। मैं किसी के ऊपर शासन न कर सकता था।'

'तभी न उसका जीवन मिट्टी में मिला दिया। खेद !'

अपने पिता के मरने के बाद का अपना जीवन ख़ुद उन्होंने लिखा है। इसके साथ उसे भी मैं यहाँ देती हूँ।

चुनारगढ़

"मैं जाड़े के दिनों में चुनारगढ़ से घर आया था। और मेरे साथ विजय-बहादुर भी थे जो मेरी इन माता के भाई थे। उनके पिता जीवित तो थे

मगर उन्होंने अपने लड़के को भी मेरे सिर पर रख दिया। मैं वहाँ पाँच रुपए का ट्यूशन भी करता था। खाने-वाने का इन्तज़ाम विजयबहादुर ही करते थे। पैसे जो मिलते थे, वह तो पहले ही ख़र्च हो जाते थे। फिर उधार पर चलता था। मेवा अगर एक रुपए का आता तो चार-छः रोज़ ही में ख़तम हो जाता। फिर उधार पर चलता। रोटियाँ उधार पर चलती थीं। बोर्डिंग-हाउस का बनिया था, उसी से लेता था। एक बार की बात है, मैं घर आया, चार-पाँच दिन घर रहा। जिस रोज़ मुझे जाना था, चाची से रुपए माँगे। बोलीं—रुपए ख़र्च हो गये। गाँव में किससे उधार लेता? गाड़ी के बहुत पहले मैं और विजयबहादुर चल दिये। मैंने अपना गरम कोट शहर में दो रुपए में बेंचा, जो कि एक साल पहले मैंने बड़ी मुश्किलों से बनवाया था। जाड़ों के दिन थे। गरम कोट था। सूती पहनकर उसे बड़े जतन से रखा था। तब मैं चुनारगढ़ विजयबहादुर के साथ पहुँचा।

इलाहाबाद

"जब मैं इलाहाबाद गया तो मुझे दस रुपये मिलते थे, दस रुपये में सात रुपये घर भेजता था। पाँच रुपये का ट्यूशन करके आठ रुपये में अपना गुज़र करता था। सुबह उठकर हाथ-मुँह धोकर रोटी पकाता, रोटियाँ सेंककर स्कूल जाता। उन्हीं दिनों मैंने कृष्णा नाम का एक छोटा-सा उपन्यास लिखा था और इण्डियन प्रेस में छपवाया था। ये दो साल के दिन उधारखाते में बीते। सन् १९०४ में मैं पास हुआ। छुट्टियों के दिन थे, मैं घर आया था। उन्हीं दिनों मुझमें और मेरी बीवी में झगड़ा हो गया था और इसके साथ-साथ चाची ने काफ़ी शिकायत भी उनकी की थी। क्रोध में आकर मैंने उनको डाँटा। वे भी झल्लाईं मुझ पर। मैंने कहा—तुम अपने घर जाओ, इससे कहीं बेहतर होगा। मैंने विजयबहादुर से कहा इनको पहुँचा आओ। मेरा कहना था कि वे उन्हें पहुँचा आये। उसी के एक साल पहले मेरी चाची अपने मायके गई हुई थीं। मेरी बीवी थी, मैं था। घर में मेरी चची और

चचेरी भाभी थीं। ख़ैर, उन दिनों उनके पैर में तकलीफ़ थी। कभी-कभी वे भूत-प्रेत की तरह आव-बाव बकती थीं। एक पण्डित ओझाई का काम करते थे, वैद्य का भी काम करते थे। मेरी चाची ने कहा—उन्हें बुला लाओ। मैं उन्हें बुला लाया। पण्डितजी आये और ओझों की तरह कुछ उन्होंने अलाय-बलाय किया। मैं भी दोपहर तक बैठा-बैठा उन्हीं के साथ हवन करता रहा। पैर में मालिश करने को तेल बताया। मैंने उन्हीं से तेल बनवाया। उनके पैरों की मालिश करने के लिए नाइन ठीक की। जब वे अच्छी हुईं तो मुझसे बहन को बुलाने को कहा। मैंने यह भी किया। इस पर जब चाची घर आईं तो रुपयों का हिसाब उन्होंने पूछा। मैंने बता दिया कि रुपए इस-इस तरह ख़र्च हो गये। हिसाब दे दिया। उस समय चाची की निगाह में मैंने ये दो बड़ी बुराइयाँ कीं। तभी से उनमें और भाभी में पटती न थी। मेरी बहन को भी इन्होंने काफ़ी तकलीफ़ दी। झगड़ा आये दिन हुआ करता था।

"बहन को मैंने बिदा कर दिया। वह अपने घर गई। हाँ, उनकी यह ख़्वाहिश रही कि मैं उन्हें हमेशा साथ रखूँ। मगर मैं क्या करता, मेरी परिस्थिति ही और थी। इसके बाद मैं कानपुर में तीस रुपए पर मास्टर होकर घर आया।

"दिसम्बर में मैं चचेरे भाई तथा विजयबहादुर को लेकर कानपुर आया। १०) रुपए का ट्यूशन भी कर लिया। वहीं सन् १९०५ में मेरी शादी हुई।"

शिवरानी देवी

मेरी पहली शादी ग्यारहवें साल में हुई थी। वह शादी कब हुई इसकी मुझे ख़बर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे ख़बर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही मैं विधवा हुई। इसलिए मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा। क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं वह, मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।

मेरे पिता का नाम मुंशी देवीप्रसाद था। ज़िला फतेहपुर, मौज़ा सलीमपुर,

डाकख़ाना कनवार। मेरे पिता मुझे इस हालत में देखकर ख़ुश न थे। वे अपने को मिटाकर मुझे सुखी देखना चाहते थे। पहले तो उन्होंने पण्डितों से सलाह ली। उसके बाद उन्होंने इश्तिहार निकलवाया। इश्तिहार आपने भी पढ़ा। उसके बाद कई जगह लड़के तै हुए। मगर मेरे पिता को लड़के पसन्द न आते। उसी समय आपने उन्हें ख़त भेजा—मैं शादी करना चाहता हूँ। मैंने यहाँ तक पढ़ा है और मेरी इतनी आमदनी है। मेरे पिता ने लिखा—आप फतेहपुर आइए। मैं वहाँ मिलूँगा। बाबूजी फतेहपुर गये। आप मेरे पिता को पसन्द आये। उन्होंने आपको बरच्छा और किराये के रुपए दिये। मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरी शादी कहाँ हो रही है। मेरी शादी में आपकी चाची वग़ैरह किसी की राय नहीं थी। मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बन्धन तोड़ना चाहते थे। यहाँ तक कि आप अपने घरवालों को भी ख़बर नहीं दी। मेरी शादी हुई। शादी में ही मै घर आयी और चौदह रोज़ रही। मेरी तबियत लगती न थी। क्योंकि मेरी मा मर चुकी थीं। एक मेरा भाई पाँच बरस का था। उसको मैं उसी तरह स्नेह करती थी, जैसे माँ अपने बच्चे को करती है। मेरे जब चौदह साल पूरे हुए थे, तब ही माँ मर चुकी थीं। मेरा भाई तब तीन वर्ष का था। उसी समय से मुझे अपनी ज़िम्मेदारियों का ज्ञान हुआ। तब से मैं आज तक अपनी ज़िम्मेदारी निभा रही हूँ। बाद को क्या होगा, इसे भविष्य जाने। मैं नहीं जानती।

फागुन में मेरी शादी हुई, चैत्र में आप सब डिप्टीइंसपेक्टर हो गये। मैं महीने भर यहाँ रहती थी तो १० महीने अपने घर। मुझे यहाँ अच्छा नहीं मालूम होता था, क्योंकि रोज़ाना झगड़ा होता रहता था।

कानपुर का जीवन

आप सुबह चार बजे उठते थे। हुक्का पीकर पाखाना जाते, हाथ-मुँह धोते। और जो मिल जाता, उसी का नाश्ता करते। चुस्ती के साथ बैठकर लिखते। क़लम मज़दूरों के फावड़े की तरह तेज़ी से चलती थी। उसके

बाद पाख़ाना जाना। फिर खाना खाना। दौरे पर भी साहित्य का काम उन्होंने नहीं छोड़ा। जब मुआइना करना होता, तो उस काम को मुदर्रिसों के हाथ देते। वे कहते—'क्या करूँ, मैं जो मुआइना करता हूँ तो मुदर्रिस लोग लड़कों के सामने पर्चा छोड़ आते हैं। इस वास्ते उस काम को मैं उन्हीं पर छोड़ देता हूँ। कम से कम जिससे यह तकलीफ़ उन्हें न उठानी पड़े। वे बेचारे खुश भी रहते। अच्छा मुआइना हो जाने पर उनकी तरक्क़ियाँ भी होती हैं।

मैं बोली—तो आपको रखने की ज़रूरत गवर्नमेण्ट को क्या थी?

'अपना काम करना उसका काम है। मेरा काम करना अपना। क्या ये बड़े-बड़े अफ़सर देवता ही हैं!'

'कुछ हो, अपना सब काम अपने को करना चाहिए।'

'करता तो हूँ, कहाँ छोड़ देता हूँ। अगर मेरे काम से कुछ फ़ायदा हो तो क्या हानि? सब दुनिया की बातें इसी तरह चलती रहती हैं।'

'आपको अपने अफ़सरों की सहानुभूति तो नहीं मिली। हाँ मातहतों के साथ आपने भाईचारा हमेशा किया। क्योंकि अफ़सरी करना आपको पसन्द न था।

'उनका कहना था कि अफ़सर बनकर इन्सान इन्सान नहीं रह जाता। ईश्वर मुझे इससे हमेशा दूर रखे। वह जिस हालत में रहते, हमेशा खुश रहते थे। उनको दुनियावी चीज़ों के पीछे रंज न था। हाँ मा का प्रेम उनमें बहुत था। उन्हीं को उनकी आँखें हमेशा ढूँढ़ा भी करतीं। जिसको अपनी माँ को प्यार न करते हुए वे देखते थे, उस पर उन्हें क्रोध आता था। जो लड़का अपनी माँ को प्यार न करता था, उसे वे इतना हृदयहीन समझते थे कि क्या कहा जाय।

एक दिन मैंने कहा—आपने अपनी बहन को पंद्रह साल बाद क्यों बुलाया? यही प्यार की निशानी है? हाँ, माँ के लिए आप अलबत्ता रो लीजिए। माँ को तो मैंने नहीं देखा है।

'तुमने इसका कारण नहीं समझा। तभी ऐसा कहती हो! इसका कारण

यह था कि मेरी चाची के भाई से उनका झगड़ा होता था। उनके घर था रहने के लिए। आप हटतीं तो कहाँ जातीं ? अगर मैं उनको अपने साथ रखता तो वे कहतीं, तुमने एक औरत, और एक बच्चे को भी निकाल दिया।'

'यह सब कहने की बातें हैं। अब आपकी वह ख़ुशामद नहीं कर रही हैं।'

'नहीं जी, मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।'

मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नहीं पटी। क्योंकि उनके घर में बखचख़ बहुत था। मैं बखचख़ की आदी न थी। वे चाहते थे कि मैं अपने लिए ख़ुद स्थान तैयार करूँ। उनकी बीवी के नाते मैं घर की मालकिन बनकर बैठूँ। और मैं चाहती थी कि मैं क्यों यह झंझट बरदाश्त करूँ ; मैं भी दुनिया को देखना चाहती हूँ। क्योंकि मैं अपनी सास से सुन चुकी थी कि वे कैसा बर्त्ताव मेरी सौत से कर रही थीं। फिर भी यह कुछ नहीं बोलते थे। मुमकिन है कि यह कल मेरे काम पर मुझसे भी नाराज़ हों। मुझे क्या ग़रज पड़ी थी कि मैं शासन करती। मैं भी अपने मायके में आनन्द से रहती थी। एक दफ़े मेरे पिता का ख़त आया। उन्होंने मुझे बुलाया था। उसका जवाब आपने दिया कि मैं नहीं बिदा करूँगा। यह इन्कार करना मुझे पहले ही मालूम हो गया था। मैं इस पर झल्लाई। आप कमरे में आये। मैं उठकर बाहर निकलना चाहती थी। आप बोले—कहाँ जा रही हो ?

'मैं बाहर जा रही हूँ।'

'जाओगी कहाँ आख़िरकार ?'

'अच्छा मैं नहीं जाऊँगी। आपही यहाँ से जाइए।'

'अरे मैं कहाँ चला जाऊँ ?'

'तुमको जाने का ठिकाना नहीं तो मैं तो जा रही हूँ।'

'नहीं तुमको धूप में नहीं जाना है।'

मैंने ज़िद की।

उस पर उन्होंने मुझे दो चपत लगाये और बाहर चले गये। फिर जब शाम को आये तो मैं ग़ुस्से में बैठी थी। तब बहुत आहिस्ते से बोले—इस

तरह क्यों झल्लाई हो।'

'मैं झल्लाऊँ क्यों ?'

'कैसे कहूँ कि तुम झल्लाई नहीं हो ? न किसी से बोलना, न किसी से कुछ कहना-सुनना।'

'मेरे ख़ामोश बैठने से किसी का क्या बिगड़ता है ? सज़ा ही देने के कारण तो आपने मुझे अपने घर जाने नहीं दिया। क़ैदी कैसे सुखी रह सकता है ?'

'यह तुम्हारी बड़ी भूल है। मैंने तुम्हें तकलीफ़ देने की नीयत से नहीं, बल्कि मैं जाने देना नहीं चाहता। तुमको तकलीफ़ देने में मुझे कुछ मिलेगा ? मैं सच कहता हूँ, तुम घर चली जाती हो तो मुझे अच्छा नहीं मालूम होता।'

मैं बोली—तो मुझे तो यहाँ अच्छा नहीं मालूम होता।

'मैं चाहता हूँ कि तुम अपने घर में आराम से रहो। यह घर तुम्हारा क्यों न बने ?'

'मुझे क्या गरज़ पड़ी है कि दूसरे के घर में घरवाली बनूँ ?'

'सच कहता हूँ, तुम्हारा घर यही है। कैसे समझाऊँ ?'

'थप्पड़ मारकर समझाइए।' मैंने कहा।

'मैंने थप्पड़ नहीं मारे थे।'

'क्या अभी और मारने की ख़्वाहिश है !' मैंने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम्हें मैं क्या कहूँ ? घर से निकाल देती हो, कहाँ जाऊँ ?'

'तुमको क़ैद करने में मज़ा आता है।' मैंने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम्हें क़ैद करने के लिए मैं नहीं रोक रखता। मैं चाहता हूँ कि तुम इस घर की मालकिन बनकर मुझ पर भी शासन करो।'

'मैं ऐसा बननेवाली जीव नहीं।' मैंने कहा।

'तब मैं क्या कह सकता हूँ ?'

'हाँ, तो मैं भी मजबूर हूँ।' मैंने कहा।

उन्हीं दिनों मेरे ख़िलाफ़ उनकी चाची ने उनसे कई बातें कहीं थीं।

वे मुझसे नाराज़ थे। सोचते थे, ये मुझे मनायें, तो मैं अपने दिल की बातें बतलाऊँ।

मगर मैं ऐसी उद्दंड थी कि मुझे इसका कोई ग़म न था। कई रोज़ के बाद खुद मेरे पास आये और बोले—मुझे तुम ऐसा क्यों कहती थीं।

'मैंने कुछ भी नहीं कहा।' मैंने कहा।

'नहीं तुमने कहा होगा, तभी तो चाची कहती थीं।'

मैं—अगर आपको मेरी बातों का विश्वास हो तो यक़ीन रखिए, मैंने नहीं कहा। अगर आपको विश्वास न हो तो मैं क्या करूँ ?

उनको विश्वास हो गया कि मैंने नहीं कहा। बोले—देखो, यह चाची की बड़ी ख़राब आदत है। इसी तरह पहले भी वह कहा करती थीं। और यह इसी तरह बहुत बातें कहा करती हैं। ग़ालिबन तुमसे भी मेरे ख़िलाफ़ कहती होंगी। तभी मैं देखता हूँ, हमेशा तुम्हारे क्रोध का पारा चढ़ा ही रहता है।

'अगर मेरा पारा चढ़ जाय तो क्या ? आपका पारा क्यों चढ़ गया, आप तो समझदार हैं।' मैंने कहा।

'मैं तुमसे कहता हूँ, पर्दा क्यों नहीं छोड़तीं ? कोई लौण्डे की बीबी नहीं हो। मैं दस साल तक काफ़ी पर्दा कर चुका। फिर मेरी मा-भाभी भी नहीं हैं। दस वर्ष के बाद चाची का लिहाज़ करने की कोई ज़रूरत नहीं।'

'मुझसे बेहयाई नहीं होती।' मैंने कहा।

'अगर तुमसे बेहयाई नहीं होती तो रोज़ाना एक न एक पंसाखे उड़ा करेंगे।'

'आप भला तो जग भला। जब आप लौण्डे नहीं तो इस तरह की बातें सुनते ही क्यों हैं ? फिर सुनते हैं तो उस पर ध्यान क्यों देते हैं ? अगर आप ध्यान देते हैं, तो मैं मजबूर हूँ। इन्सान अपने को तो बना ही नहीं पाता, दूसरे को कहाँ तक बनायेगा।' मैंने कहा।

'तुम कुछ न करो। मेरे मत्थे तो सब जाता है।'

'आपकी पाली हुई बला भी तो है। पहले ही से आप ठीक रहते तो

ऐसी हालत क्यों होती।'

'मैं क्या कहूँ, मेरी क़िस्मत ही ऐसी है।'

'हाँ साहब, जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है।' मैंने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम बड़ी निठुर हो। तुमको भी मेरे ऊपर दया नहीं आती।'

'अरे भाई, दया आने की कोई बात हो तो मैं सुनूँ।' मैंने कहा।

'जो कहता हूँ उसे सुनो। सुनना यही है कि तुम पर्दे को छोड़ो।'

मैं बोली—तुम्हारी जो बला है, वह अपने सिर लूँ।

'तो घर कैसे चलेगा। मेरी समझ में नहीं आता।'

'जैसा चल रहा है, बहुत ठीक है। मैं इस बला को नहीं पालना चाहती। फिर आपको तो काफ़ी प्यार करती हैं, मेरी बात छोड़िए। मैं भी जिस हालत में हूँ, उस हालत में रह लूँगी। मैं भी मस्त जीव हूँ।' मैंने कहा।

'हाँ इसी में मस्त रहती हो कि आनन्द से जाकर बैठती हो। जिसको तुम प्यार समझती हो, वह प्यार नहीं है। अपनी मा का प्रेम निःस्वार्थ होता है। जब वही मुझे नसीब नहीं हुआ तो मैं उसके पीछे कहाँ तक पड़ूँ।'

यह शब्द कहते-कहते उनकी आँखें सजल हो आईं। उस रोज़ से मुझे उन पर दया आने लगी। उसी दिन से मैं उनमें मिलना चाहने लगी। जब वे उठने लगे तो मुझसे बोले—सच मानो, मैंने अपने को तुम्हें सौंप दिया।

तब से मैं वाक़ई उन पर शासन करने लगी। तभी से मैं उनके घर को अपना घर भी समझने लगी।

महोबा

इसके बाद आप महोबा आये। मेरे पिता ने मुझे पहले ही बुलाया था। अब मुझे भी बुलाया, उन्हें भी। इसको वे मान भी गये। जिस रोज़ मेरे जाने का समय हुआ और ताँगा दरवाज़े पर आया तो उनकी चाची झल्लाकर

बोलीं—ख़बरदार, अगर उनको भेजा ! अपने तो जा रहे हैं महोबा, उन्हें भेज दे रहे हैं अपने घर !

'उनको जाने क्यों नहीं देतीं ?'

'उनको घर पहुँचाओगे तो ठीक न होगा। ताँगा वापस करो।'

मैं बोली—मैं रहूँगी ही नहीं यहाँ।

'मैं क्या करूँ, बोलो ?'

मैं—मैं यह नहीं सुनना चाहती।

आप मेरे सामने हँसते हुए बोले—उनको मना लेना कठिन है, तुम्हें नहीं। तुम एक हफ़्ता यहाँ रहो। बाद में तुम्हें महोबा ले चलूँगा। तुमको अगर पहुँचा आये तो बुढ़िया मुझे ज़िंदा न छोड़ेगी।

ख़ैर मैं राज़ी हो गई। वे चले गये। वहाँ जाकर चार्ज लिया। वहाँ से ग्यारहवें दिन आप आये। जब वहाँ चलने के लिए तैयार हुए तो चाची बोलीं—मैं नहीं जाऊँगी। क्योंकि उनके दोनों भाई कानपुर में ही हमारे साथ थे और बड़े भाई वहीं २५) माहवार पर नौकर भी हो गये थे। उन्हीं के पास वह रहना चाहती थीं।

वे बोले—चाहे तुम जाओ या न जाओ। मैं इन्हें लेकर जाऊँगा।

चाची—हाँ, तुम उनको ले जाओ।

इसके बाद बड़े भाई ने कहा कि तुम उनके साथ जाओ। नहीं जाओगी तो हमेशा पछताओगी। नवाब पहले के नहीं हैं कि पीछे पड़े रहेंगे।

चाची भी राज़ी हो गईं। वह भी महोबा गईं। तीन महीने के बाद फिर उनकी चाची अपने लड़के के साथ कानपुर लौट आईं।

महोबा का जीवन था—सुबह उठना, कुछ खा-पीकर साहित्य की सेवा करना। हाँ, वहाँ मैंने उन्हें उनके साहब को प्यार करते पाया। मातहतों को वे मित्र बनाना चाहते थे। मातहतों में जो बड़ा होता था, उसकी इज़्ज़त बुज़ुर्ग की तरह करते थे। वहीं मेरे दो लड़कियाँ पैदा हुईं। कमला वहीं पैदा हुई।

मैं अकेली महोबे में दस महीने रही। उन दिनों वे दौरा करने जाते तो डेढ़ दो-महीने में आते थे।

उनकी इच्छा होती थी कि मैं भी दौरे पर चलूँ। मैं अकेली महोबे में रहती थी, यह उन्हें पसन्द न था। मगर यह दौरे का जीवन मुझे बिलकुल पसन्द न था। इसलिए मैं महोबे में ही रहती।

महोबे में बेगार में दूध, घी, बर्तन सब मिलते थे; मगर खाने का सामान वे अपने पास से मँगाते थे। दूध तो इतना मिलता था कि नौकर लोग खोवा बनाकर खाते थे। पहले तो बेगार लेने से उन्होंने इन्कार किया। तब वहाँ के रईसों ने कहा कि यह नियम है। आप यह नियम हटा देंगे तो यह कभी किसी को बेगार आदि देंगे ही नहीं। तब इस पर उन्होंने कहा कि मैं तो नहीं खाऊँगा, मेरे नौकर खायँगे।

उन लोगों ने कहा—आप न खायँ, आपके नौकर ही सही।

वहाँ की एक प्रथा यह है कि किसी भी अफ़सर के माथे में तिलक लगाकर वह रुपया देते हैं। उनसे आप दही-अक्षत तक तो लगवा लेते थे। बस पान उठाकर मुँह में डाला, गले मिले। रुपए के लिए आप कहते थे—मुझे माफ़ कीजिए।

उसने अगर कहा कि यहाँ का नियम है, तो बड़े ही मीठे शब्दों में कहते थे—नहीं साहब, यह मेरा सिद्धान्त नहीं है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें।

चपरासी वग़ैरह को जो मिलता था, तो उसे वे मना नहीं करते थे। दौरे पर वे घोड़े पर जाते थे। जाड़े के दिन में ख़ुद आप कम्बल ओढ़ते थे, घोड़े को दुशाला ओढ़ाते थे। मैं तो उन्हें देखती थी कि वे प्राणिमात्र के प्रेम में हमेशा लगे रहते थे। सीधा तो मैंने उन्हें एक ही पाया। क्योंकि मैं ज़रूरत से ज़्यादा ग़ुस्सेवर थी। मगर नहीं, मेरा भी ग़ुस्सा वे काफ़ूर-सा उड़ा दिया करते थे। घर में वे हौवा की तरह नहीं रहते थे। शाम का वक़्त वे हमेशा गप-शप में देते थे। बग़ैर काम के वे कहीं नहीं जाते थे। एक दफ़े का क़िस्सा है—कातिक का महीना था। तभी बैलगाड़ी रखनी थी। पास में रुपए न थे।

मुझसे बोले—बैलगाड़ी लेना है ; मगर रुपए नहीं हैं। बैलगाड़ी ले लेता तो कम से कम २०) रुपए उसका भत्ता मिलता।

मुझे भी ख़बर नहीं थी कि मेरे सन्दूक में रुपए हैं। क्योंकि जो रुपए आते थे, उन्हें मैं सन्दूक के खाने में डाल देती थी। फिर उसे देखने की मुझे फिकर नहीं होती थी। इत्तफ़ाक से उसी समय उन्होंने मुझसे रुपए माँगे। नौकर को देना था। जब मैंने सन्दूक़ खोलकर देखा तो उसमें मुझे ज़्यादा रुपए दिखलाई पड़े। मैंने हाथ डालकर खाने में से सब रुपए निकाले। नोट और रुपए मिलाकर डेढ़ सौ थे। मैं ख़ूब खुश होकर आई और बोली—मैं आपको डेढ़ सौ रुपए दे सकती हूँ। तब आप हँसकर बोले—वाह, तुम्हारे सन्दूक़ में डेढ़ सौ पड़े हैं, तुम्हें ख़बर भी नहीं।

मैं बोली—क्या मैं ग़रीब की बहुरी की तरह उसे हमेशा देखा करती हूँ? पड़े रहेंगे तो सन्दूक़ में रहेंगे। ख़र्च होने पर कैसे पायेंगे।

तब आप बोले—चलो बेड़ा पार हुआ। इसमें गाड़ी और बैल सब आ जायँगे।

दिन भर में दूसरे रोज़ गाड़ी और बैल दोनों आ गये। मुझसे बोले—एक बात तुम मेरी मान जाओ। कल चलो, चरखारी में मेला है, देख आयें।

मैंने कहा—चलिए।

हम सब मिलाकर दस आदमी चले। हम सब बैलगाड़ी से गये, खुद घोड़े से गये।

वहाँ जाकर खेमा लगवाया। राजा साहब के आदमियों को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आये हैं, तो रसद उनके यहाँ से आई। ख़ैर, शाम को खाना बना। चपरासी महराज था, उसने खाना बनाया। सब लोगों के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मैं और मेरी सखी तो ज़नाने भाग में गये, आप लोग मर्दाने में गये। सरकस वहाँ बहुत अच्छा होता था। मगर मैं तो दो-ढाई घंटे में ही घबरा गई। मैं अपनी सखी को लेकर डेरे पर चली आई। आप

लौटे कोई डेढ़ बजे। मैं, मेरी सखी खेमे के अन्दर थीं। आप सब लोग बाहर। आकर मुझसे बोले—क्या तुमने कुछ देखा नहीं? पहले ही चली आईं।

'हाँ, मैं चली आयी। मेरी तबियत नहीं लगी। गुनाह बेलज्जत, इतनी दूर आई और तमाशा भी नहीं देखा।'

दूसरे रोज़ हम लोग घर चले आये। फिर मैं सात साल वहाँ रही। बहुत बार मेला देखने की बात आई, मगर मैं जाने को राज़ी न हुई। वे खुद गये। कभी कभी घूमने की मेरी इच्छा होती तो मैं कहती कि जंगल में चलना चाहिए। आप सहर्ष तैयार हो जाते। हम दोनों जंगल के शुरुआत ही में गाड़ी छोड़कर भीतर चले जाते। दिन भर वहीं झाड़ियों में पानी पीते, फल खाते, समय व्यतीत करते। पहाड़ों पर चढ़कर पहाड़ की भी सैर करते। शाम तक महोबा वापस आते। जिनको मैं प्यार करती, उनको वे ज़रूर प्यार करते। महोबा में जिस मुहल्ले में मैं थी, वह कायस्थों का मुहल्ला था। वे लोग भी तीज-त्यौहार को आते थे। आप भी सबके साथ भाईचारे का व्यवहार करते थे। मैं खुद कभी किसी के घर नहीं गई। मगर उनकी स्त्रियाँ हमेशा हमारे यहाँ आती रहती थीं।

महोबे में स्त्रियाँ अपने बारात के बिदा होने के बाद रात को हर एक के घर में बजाती-गाती जाती हैं, और एक हाथ में आरती का थाल लिये रहती हैं, दूसरे हाथ में बेलन लिये रहती हैं। जो पुरुष घर में रहता है, बारात में नहीं जाता, उसको उसी से मारती हैं।

एक बार मेरे यहाँ भी वे आईं। दरवाज़े पर आप सोये थे। चपरासी आदि को उन्होंने पीटा भी। मगर न मालूम क्यों आपके साथ उन लोगों ने दया की। आप डर के मारे पहले ही कमरे में भाग आये थे।

महोबा (२)

जब मैं महोबे में थी तब उनकी चाची और उनके लड़के कानपुर अपने मामू के पास पढ़ने चले आये। मैं अकेली महोबे में रही। आप भी साथ

आप मुझसे बराबर अनुरोध करते कि तुम भी साथ-साथ दौरे पर रहो। मुझे हमेशा तुम्हारी चिन्ता लगी रहती है और तुम्हें तकलीफ़ भी तो होती है।

'मैं कैसे रहूँगी।'

'इसमें हर्ज क्या है! मैं मुआइना करने जब जाऊँ, तब भी तुम मेरे साथ रहा करो। वहाँ मेरी रावटी लगीर हती है, तुम उसी में बैठकर आराम से पढ़ती रहना। महराज खाना पकाने के लिए साथ रहता ही है। कौन मैं ही दिन भर मुआइना करता रहता हूँ। ज़्यादा से ज़्यादा घंटे भर। शाम को हम लोग पहाड़ घूमने निकल जायँगे।'

मैं—कौन हिन्दुस्तानी अपनी बीबी को लेकर दौरे पर घूमता है। एक तमाशा-सा होगा।

'मुझे तो तमाशा-सा कुछ नहीं मालूम होता। मैं चाहता हूँ तुम अपने दिमाग़ से पुरानी बातों को निकाल दो, परन्तु तुम पीछे पड़ गई हो।'

मैं—मुझे तो मज़ाक-सा मालूम होता है।

'अँग्रेज़ों को देखो। कितने आराम से वे रहते हैं।'

मैं—यह अँग्रेज़ों का मुल्क नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान है।

'तभी तो परेशान होते हैं। मुझे तो बेहूदापन मालूम देता है। तुम अकेली यहाँ रहो। मैं दौरे पर परेशान रहूँ। इसमें लाभ क्या?'

'कुछ भी हो, लज्जा मालूम होती है। फिर आराम क्या रहेगा? आज यहाँ, कल वहाँ। क्या लाभ?'

'मैं तो रोज़ इसी तरह घूमता हूँ।'

'आपको तो घूमने ही के लिए सरकार वेतन देती है, भत्ता ऊपर से। मुझे क्या मिलेगा?'

'तुम्हें आराम मिलेगा और क्या?'

मैं—मैं ऐसे आराम से बाज़ आई।

'तब मैं मज़बूर हूँ।'

उनकी बहन और वह

उनकी चाची और उनकी बहन में नहीं पटती थी। पंद्रह साल तक उनकी बहन चाची के वैमनस्य के कारण मायके न आ सकीं। मैं अक्सर उनसे पूछती कि आप अपनी बहन को क्यों नहीं लाते ?

'उनको कैसे बुलाऊँ। चाची और उनमें बिलकुल नहीं पटती।'

मैं बोली—तो क्या चाची के हाथ आप बिक गये हैं ? बहन का हक़ चाची से पहले है।

'परन्तु परिस्थिति तो प्रतिकूल है। पिताजी हैं नहीं। बहन अपने घर में आराम से हैं। यहाँ आने पर इनके साथ झगड़ा होता है। ये अपने मायके नहीं जा सकतीं। इनके दोनों भाई मेरे सिर पर हैं।'

मैं बोली—इसमें आपकी ग़लती है।

'तुम्हारा यह अन्याय है।'

'अन्याय कैसा ? जिस औरत के मा-बाप दोनों मर गये हों और उसके एकलौता भाई मौजूद हो, लेकिन वह उसे बुलाये तक नहीं! वे अपने दिल में क्या सोचती होंगी ? अगर मैं मना करती तो भी आपको बुलाना चाहिए था।'

उन्होंने कहा—तुम्हें नहीं मालूम। तुम्हीं से रात-दिन झगड़ा हुआ करता है। उनके आने पर तुम्हें कौन सुख मिलेगा।

मैं बोली—इससे अच्छा था, आप शादी न करते।

'भाई, तुममें-उनमें फ़र्क भी तो है। तुम तो कुछ कह भी सकती हो, बहन तो कुछ कह भी नहीं सकतीं।'

'मैं इन दलीलों को सुनने को तैयार नहीं हूँ।'

'तुम खुद समझो। मुझे अपनी मा-बहन का प्यार नहीं हो सकता ?'

'पर आप दब्बू जो हैं। आप ही ने उन्हें सिर चढ़ा रखा है। नहीं तो हरेक के लिए अपना-अपना स्थान है।'

'हाँ तुम मुझे दब्बू कह सकती हो, पर हृदयहीन नहीं। मैं खुद कभी सोचता हूँ तो मुझे दुःख होता है।'

'आपकी चाची ने आपके ही साथ कौन अच्छे सुलूक किये हैं कि उसे लेकर आप रो रहे हैं। आपकी कमाई को उनके भाई-बहन खा सकते हैं, लेकिन अपने भाई-बहन नहीं खा सकते।'

आप बोले—यह व्यवहार उन स्त्रियों के लिए है, जो आत्माभिमानिनी हों। मगर जिनमें वे बातें न हों, तो क्या उनके साथ मैं बुरा बन जाऊँ।

मैं बोली—वे सोचती क्या होंगी?

'बहन भी परिस्थिति को समझकर रो लेती होंगी।'

मैं बोली—ईश्वर-कृत दण्ड आदमी सह लेता है, पर अपने से किया हुआ कैसे भूले?

'मा का मरना जैसे मुझे खलता है, वैसे उन्हें भी खलता होगा।'

'तो फिर रोना कौन देखता है।'

'फिर उपाय ही क्या है, बताओ?'

मै बोली—आराम से बैठे रहिए।

'मेरे ख़याल में वे यहाँ से आराम में हैं। दो-एक बार मैंने बुलाया था। और उनकी हालत भी देखी थी।'

मैं बोली—जहाँ आप-से भोंदू होंगे, वहाँ लोगों की यही हालत होगी।

'मेरे सामने वे एक बार आई थीं। बाद में तो वे मर ही गईं। जब से वे मर गईं और उनकी चाची हमसे अलग रहने लगीं तो उनकी तीनों लड़कियों को आप बराबर अपनी बेटी की तरह प्यार करने लगे। साल में सबको बुलाते थे। वे अपनी बहन की कमी उन लड़कियों से पूरा करते। उनके बच्चों को गोद में लेकर खिलाते थे, प्यार करते थे। मैं कभी-कभी कह भी देती कि आप अपनी बहन को इस तरह प्यार करते होते तो वे भी सुख महसूस करतीं।

'क्या करता, विवशता भी कोई चीज़ है। न मैंने अपनी मा की सेवा की, न बहन की।'

यह कहते-कहते अक्सर उनका गला भर आता।

१९०५

मेरे आने के पहले से ही आपकी साहित्य-सेवा जारी थी। आपका पहला उपन्यास 'कृष्णा' प्रयाग से प्रकाशित हो चुका था। मेरी शादी के साल ही आपका दूसरा उपन्यास 'प्रेमा' निकला, जिसका नाम आगे चलकर 'विभव' हुआ। मेरी शादी के एक वर्ष बाद आपका कहानी-संग्रह 'सोज़ेवतन' प्रकाशित हुआ। उस पर मुक़दमा भी चला। हम लोग महोबा में थे। वहाँ भी खुफिया पुलिस पहुँची। उसके बाद उनको कलक्टर की आज्ञा मिली कि आकर मुझसे मिलो।

आपको दौरे पर आर्डर मिला। रात भर बैलगाड़ी पर चलने के बाद आप 'कुलपहाड़' पहुँचे। आप उसी दिन घर आनेवाले थे। जब दूसरे रोज़ मेरे पास पहुँचे तो मैंने पूछा—कल आप कहाँ रह गये?

आपने कहा—रहो, बताता हूँ, बड़ी परेशानी में पड़ गया था। कल सारी रात चलता रहा।

मैं बोली—अरे, बात क्या है?

आप बोले—'सोज़ेवतन' के सिलसिले में सरकार ने मुझे बुलाया था।

मैंने पूछा—आख़िर बात क्या थी?

आप बोले—कलेक्टर ने उसी सिलसिले में मुझे बुलाया था। मैं गया तो देखा कलक्टर की मेज़ पर 'सोज़ेवतन' की कॉपी पड़ी थी।

मैंने पूछा—क्या हुआ तब?

आप बोले—कलेक्टर ने पूछा, यह किताब तुम्हारी लिखी है? मैंने कहा, हाँ। उसे पढ़कर मैंने सुनाया भी? सुनने के बाद वह बोला—अगर अंग्रेज़ी राज में तुम न होते तो आज तुम्हारे दोनों हाथ कटवा लिये गये होते। तुम कहानियों द्वारा विद्रोह फैला रहे हो। तुम्हारे पास जितनी कॉपियाँ हों, उन्हें मेरे पास भेज दो। आइंदा।फिर कभी लिखने का नाम भी न लेना।

मैंने कहा कि आप किताबें भेज दीजिएगा ?

आप बोले—वाह ! अरे यह कहो कि सस्ते छूटे, मेरा ख्याल था कि कोई बड़ी आफ़त आयेगी।

मैंने कहा—तो फिर लिखना भी अब बन्द ही समझूँ।

आप बोले—लिखूँगा क्यों नहीं ? उपनाम रखना पड़ेगा। ख़ैर, इस वक़्त तो बला टली। मगर मैं सोचता हूँ अभी यह और रंग लायेगा।

मैं बोली—नहीं जी, जो कुछ होना था हो गया। उस संग्रह के कारण आप पर ऐसी आफ़त आई। और मैंने वह अभी तक पढ़ा नहीं।

आप बोले—यह तो हमेशा की बात है। जब सरकार किसी पुस्तक को ज़ब्त करती है तो उसके ख़रीदारों की संख्या बढ़ जाती है, महज़ यह देखने के लिए कि आख़िर उसमें है क्या ?

मैंने कहा—आपने कभी सुनाया भी नहीं। मैं उर्दू जानती नहीं।

'अच्छा अब आयेगी तो मैं तुम्हें पढ़कर सुनाऊँगा ?'

मैं बोली—ज़रूर सुनाना।

शादी के पहले मेरी रुचि साहित्य में बिलकुल नहीं थी। उसके बारे में मैं कुछ जानती भी नहीं थी। मैं पढ़ी भी नहीं के बराबर थी। आज मैं जिस लायक़ हूँ, वह पति के द्वारा ही।

कानपुर से 'सोज़ेवतन' का पार्सल आया। एक कॉपी रख ली। बाक़ी मजिस्ट्रेट को वापस कर दी गईं।

उन दिनों मैं अकेली महोबे में रहती थी। वे जब दौरे पर रहते तो मेरे साथ ही सारा समय काटते और अपनी रचनाएँ सुनाते। अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ते तो उसका अनुवाद मुझे सुनाते। उनकी कहानियों को सुनते-सुनते मेरी भी रुचि साहित्य की ओर हुई। जब वे घर पर होते, तब मैं कुछ पढ़ने के लिए उनसे आग्रह करती। सुबह का समय लिखने के लिए वे नियत रखते। दौरे पर भी वे सुबह ही लिखते। बाद को मुआइना करने जाते। इसी तरह मुझे उनके साहित्यिक जीवन के साथ सहयोग करने का अवसर मिलता।

जब वे दौरे पर होते, तब मैं दिनभर किताबें पढ़ती रहती। इसी तरह साहित्य में मेरा प्रवेश हुआ।

उनके घर रहने पर मुझे पढ़ने की आवश्यकता न प्रतीत होती।

मुझे भी इच्छा होती कि मैं भी कहानी लिखूँ। हालाँकि मेरा ज्ञान नाम-मात्र को भी न था, पर मैं इसी कोशिश में रहती कि किसी तरह मैं कोई कहानी लिखूँ। उनकी तरह तो क्या लिखती। मैं लिख-लिखकर फाड़ देती रही। और उन्हें दिखाती भी नहीं थी। हाँ, जब उन पर कोई आलोचना निकलती तो मुझे उसे सुनाते। हमें उनकी अच्छी आलोचना प्रिय लगती। काफ़ी देर तक यह ख़ुशी रहती। मुझे यह जानकर गर्व होता कि मेरे पति पर यह आलोचना निकली है। जब कभी उनकी कोई आलोचना कड़ी निकलती, तब भी वे उसे बड़े चाव से पढ़ते। मुझे तो बहुत बुरा लगता।

मैं इसी तरह कहानियाँ लिखती और फाड़कर फेंक देती। बाद में गृहस्थी में पड़कर कुछ दिनों के लिए मेरा लिखना छूट गया। हाँ, कभी कोई भाव मन में आता तो उनसे कहती, इस पर आप कोई कहानी लिख लें। वे ज़रूर उस पर कहानी लिखते।

कई वर्षों के बाद, १९१३ के लगभग, उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ लिखना शुरू किया। किसी कहानी का अनुवाद हिन्दी में करते, किसी का उर्दू में।

मेरी पहली 'साहस' नाम की कहानी चाँद में छपी। मैंने वह कहानी उन्हें नहीं दिखाई। 'चाँद' में आपने देखा। ऊपर आकर मुझसे बोले—अच्छा, अब आप भी कहानी-लेखिका बन गईं? बोले—यह कहानी आफ़िस में मैंने देखी। आफ़िसवाले पढ़-पढ़कर ख़ूब हँसते रहे। कइयों ने पर मुझ सन्देह किया।

तब से जो कुछ मैं लिखती, उन्हें दिखा देती। हाँ, यह ख़याल मुझे ज़रूर रहता कि कहीं मेरी कहानी उनके अनुकरण पर न जा रही हो। क्योंकि मैं लोकापवाद को डरती थी।

एक बार गोरखपुर में डा० एनीबेसेंट की लिखी हुई एक किताब आप लाये।

मैंने वह किताब पढ़ने के लिए माँगी। आप बोले—तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी। मैं बोली—क्यों नहीं आयेगी? मुझे दीजिए तो सही। उसे मैं छः महीने तक पढ़ती रही। रामायण की तरह उसका पाठ करती रही। उसके एक-एक शब्द को मुझे ध्यान में चढ़ा लेना था। क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी। मैं उस किताब को ख़तम कर चुकी तो उनके हाथ में देते हुए बोली—अच्छा, आप इसके बारे में मुझसे पूछिए। मैं इसे पूरा पढ़ गई। आप हँसते हुए बोले—अच्छा!

मैं बोली—आपको बहुत काम रहते भी तो हैं। फिर बेकार आदमी जिस किसी चीज़ के पीछे पड़ेगा, वही पूरा कर देगा।

मेरी कहानियों का अनुवाद जब अन्य भाषाओं में होता तो आपको बड़ी प्रसन्नता होती। हाँ, उस समय हम दोनों को बहुत बुरा लगता, जब दोनों से कहानियाँ माँगी जातीं। या जब कभी रात को प्लाट ढूँढ़ने के कारण मुझे नींद न आती, तब वे कहते—तुमने क्या अपने लिए एक बला मोल ले ली। आराम से रहती थी, अब फ़िजूल की एक झंझट ख़रीद ली। मैं कहती—आपने नहीं बला मोल ले ली! मैं तो कभी-कभी लिखती हूँ, आपने तो अपना पेशा बना रखा है।

आप बोलते—तो उसकी नक़ल तुम क्यों करने लगी?

मैं कहती—हमारी इच्छा! मैं भी मजबूर हूँ। आदमी अपने भावों को कहाँ रखे?

क़िस्मत का खेल कभी नहीं जाना जा सकता। बात यह है कि वे होते तो आज और बात होती। लिखना-पढ़ना तो उनका काम ही था। मैं यह लिख नहीं रही हूँ; बल्कि शान्ति पाने का एक बहाना ढूँढ़ रखा है। बीसों वर्ष की पुरानी बातें याद करके मेरा दिल बैठ जाता है। मेरे वश में है ही क्या? हाँ, पहली बातों को सोचकर मुझे नशा-सा हो जाता है। उस नशे से कोई उत्साह नहीं मिलता है, बल्कि एक तड़पन ही पैदा होती है। अब बीती बातों को याद करके मन बहला लेती हूँ।

१९१[illegible] के लगभग

कानपुर का "प्रताप" निकला था गणेशशंकर के हाथों। उन्होंने लेख माँगा था। आपने लेख लिखकर उन्हें भेज दिया। कानपुर में आपका कोई काम था। बस्ती से वहाँ गये। 'प्रताप' आफ़िस भी चले गये। वहाँ जाकर देखा कि विद्यार्थीजी ज़्यादा से ज़्यादा काम अपने हाथों कर रहे हैं। वहाँ से लौटकर मुझसे बोले—विद्यार्थीजी बड़े मेहनती हैं। कार्यालय का बहुत काम अपने ही हाथों करते हैं। इसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। इसी तरह के आदमियों की मुल्क को ज़रूरत है। ऐसे ही आदमी अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। मुझे पूरी उम्मीद है कि विद्यार्थीजी अपने जीवन में सफल हो जायँगे। जो आदमी ख़ुद अपने पैरों पर खड़ा होता है, उसी की मदद ख़ुदा भी करता है। मेरी यह भी इच्छा होती है कि मैं भी इस नौकरी को छोड़-छाड़कर कहीं एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करूँ। क्या करूँ मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पास थोड़ी-सी ज़मीन भी नहीं। मेरे पास १० बीघे भी ज़मीन होती तो मैं अपने खाने भर का गल्ला पैदा कर लेता और चुपचाप एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करता।

मैं बोली—दस बीघे ज़मीन में क्या आप सोना उपजा लेते? फिर विद्यार्थी की तरह आप नहीं हैं। अभी आप दो महीने नौकरी छोड़कर बैठ जायँ तो हाय तोबा मच जाय। आठ साल काम करते हुए हो गये। अगर आपने १००) साल बचाये होते तो ८००) हुए होते। मन की मिठाई खाना दूसरी बात है। काम ठीक-ठीक चलाना दूसरी बात है। जब नौकरी करने पर यह हालत है कि ख़र्च चलाये नहीं चलता, तब चौबीसों घण्टे साहित्यिक काम करने से कैसे निर्वाह होगा?

आप बोले—डिप्टी इन्सपेक्टरी छोड़ने से क्या काम रुक गया? अब भी उसी तरह काम चल जायगा। फिर कुछ न कुछ तो मिल ही जायगा। काम कहीं रुकता है।

आप बोले—नहीं जी ! दाल-रोटी तो चाहिए। और ज़्यादा से हमसे क्या मतलब ?

मैं बोली—ख़ुद के लिए तो कोई ज़रूरत नहीं है सही, पर और बलाएँ भी तो हैं। उनका क्या होगा ? अभी आधी तनख़्वाह पर छः महीने की छुट्टी ली थी। मुश्किल से ख़र्च चल पाता था। मैं अपने घर थी। आप कानपुर थे, ख़ाली छोटक और चाची थीं, तब भी नहीं पूरा पड़ता था। आपका ही कहना है कि अपने हाथ से दूध जमाकर मट्ठा बनाता था। एक आदमी रखने की गुंजाइश न थी। विद्यार्थीजी का क्या, वे आप जैसे नहीं हैं। उनके सिर पर कोई बोझा नहीं। उनके बाप ज़िन्दा हैं, बड़े भाई हैं। बहुत मुमकिन है कि विद्यार्थीजी उनसे सहायता भी पाते हों। यहाँ सबका बोझ तुम्हारे सिर पर है। उनकी और तुम्हारी कुछ भी बराबरी नहीं। आप चुपके से अपना काम करते जाइए।

आपको जैसे चिन्ता-सी हो गई। मानों कोई भूली बात याद आ गई हो।

उनको साहित्य-सेवा की चिन्ता हमेशा रहती। बनारस दवा लाने वे गाँव से रोज़ जाते। ठीक बारह बजे कड़ी धूप में लौटकर घर आते।

'उस पर कोई आपके ऊपर रहम नहीं करता था, न कोई दवा ही लाकर दे देता। मूँग की दाल में लाल मिर्च की बघार पड़ती थी। आप भूल गये इस बात को ? सबके खिलाने का ज़िम्मा आप पर ही होगा।'

आप बोले—जाने भी दो, जी।

मैं बोली—और क्या !

आप बोले—ख़ैर देखा जायगा। मेरी यह इच्छा कभी न कभी ज़रूर पूरी होगी।

मैं बोली—इन लोगों को तो पहले किनारे करो।

इन सब बातों को सोचकर उनके बारे में मेरे मन में तरह-तरह के कुतूहल पैदा होते हैं।

जुलाई के आरंभ में बीमार होने पर भी आप बस्ती स्कूल में चले आये।

उनकी प्रवृत्ति देखकर यही लगता था, जैसे वे काम करने के लिए ही पैदा हुए हैं।

कभी-कभी उन पर मुझे ग़ुस्सा भी आता था। घर के सारे आदमी उन्हें परेशान करते, पर वे ज़रा भी ध्यान न देते। सारी तकलीफ़ों को वे ख़ुशी से बर्दाश्त कर लेते। अब मेरी समझ में यह बात आती है कि वे कितने महान् थे। वे बुरों के साथ भी भलाई का व्यवहार करते। यह हिन्दुस्तान की ख़ासी विशेषता है कि किसी के जीवन-काल में मनुष्य उसे ठीक-ठीक नहीं पहचान पाता। हाथ से खो जाने पर ही मनुष्य को उसकी क़ीमत का पता लगता है। अगर मैं पहले उन्हें समझ गयी होती तो मेरी यह दशा न होती। मैं पहले इन बातों की आलोचना न करती। जैसे-जैसे इन सब बातों को समझती हूँ, वैसे-वैसे कलेजे पर छुरियाँ सी चल जाती हैं। वही मैं हूँ। सब बातें उस तरह से हैं। समय वही है। हाथ मलना ही ख़ाली बाक़ी रह गया है।

बस्ती, १९१४

एक दिन की घटना है कि दरवाज़े पर उनके पहले साले बैठे थे। आप उन्हीं से बातें कर रहे थे। वे अपनी बहन के बारे में आपसे बातें कर रहे थे। वे दुःखी भी थे। इत्तिफ़ाक से मेरी दो साल की लड़की कमला बकवाँ दरवाज़े पर चली गई। मैं उसे देखने के लिए दरवाज़े के तरफ़ गई। मैंने देखा लड़की उनके साले साहब की गोद में थी। वे बड़े प्यार से उसे चुमकार रहे थे। इसी बीच वे रंजीदा स्वर में बोले—अगर हमारा सम्बन्ध भाईचारे का भी होता तो क्या मेरी बहन इसे प्यार न करती। इस पर आप ख़ामोश थे। वे बहुत-सी बातें अपनी बहन के विषय में कहते रहे। मैं बड़े ध्यान से उनकी बातें आड़ में सुनती रहीं। मेरे भी बदन का ख़ून गरम हो रहा था उस समय। उसके बाद वे चले गये। आप लड़की को लेकर अन्दर आये। वही पहला दिन था, जब मुझे मालूम हुआ कि वे अभी जिन्दा हैं। मुझे तो धोखा दिया जाता रहा कि वे मर गई हैं।

मैंने कहा—कौन साहब थे ?

आप बोले—एक महाशय थे।

मैं बोली—मुझे आपसे ऐसी उम्मीद न थी कि आप झूठ बोलेंगे।

आप बोले—जिसको इंसान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया।'

मैं—मैं इसे मानने को तैयार नहीं हूँ। आप कृपा करके उन्हें ले आइए।

'मैं तो लेने नहीं जाऊँगा।'

मैं—क्यों नहीं जाइएगा ? शादी हुई थी, तमाशा नहीं था।

'मैंने नहीं शादी की थी। मेरे बाप ने शादी की थी।'

मैं—बाप ने तो जो अपनी शादी की थी, उसे आप गले बाँधे फिर रहे हैं। बाप की शादी की जिम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नहीं ? यह जिम्मेदारी का तुक नहीं है।

'चाहे हो या न हो। मैं लाऊँगा नहीं।'

मैं—क्या बात है ? एक आदमी का जीवन मिट्टी में मिलाने का आपको क्या हक़ है ?

उन्होंने कहा—हक़ वग़ैरह की कोई बात नहीं।

मैं—भला आप क्या कहते हैं। क्या यही हिन्दू-संस्कार के मानी हैं।

'आज न मालूम वह कम्बख़्त कहाँ आ गया कि उसे देखकर दुनिया भर की बातें तुम सुनाने लगीं।'

मैं कुछ नरम पड़ी। सोचा कि क्रोध से काम नहीं चलेगा। प्यार से बोली—आप उनको लिवा लाइए। उनकी ज़िम्मेदारी मेरे सिर रहेगी।

'तुमसे झगड़ा होगा।'

मैं—जैसे मैं घर-गृहस्थी के बारे में कुछ सलाह आपसे नहीं लेती, वैसे ही उनके बारे में मैं आपसे कुछ न कहूँगी। मैं चाहती हूँ कि उन्हें ख़ुश रखूँ। हम दोनों बड़े आराम से रहेंगे।

'तुम लोग तो आराम से रहोगी, सज़ा मुझे भुगताओगी।'

मैं—ईश्वर कसम। आपसे सच कहती हूँ, जो इस विषय में आपसे कुछ मैं कहूँ।

'भाई, तुम अपनी इच्छा के अनुसार जो करना चाहो करो। मैं कुछ न बोलूँगा।'

मैं ख़ामोश हो गई।

मैंने उन्हें 'प्रिय बहन' करके खत लिखा। उन्हें बुलाया था। उसके चौथे रोज उसका जवाब आया कि जब वे खुद लेने आयेंगे तो मैं चलूँगी। मैं तुमको देखना तो चाहती हूँ, पर उन्हें भेजिए लिवा लाने को।

मैंने उन्हें वह खत उठाकर दे दिया। उन्होंने कहा—नहीं आईं तो मैं क्या करूँ ?

फिर उन्हें मैं बराबर खत लिखा करती थी। उनका खत कैथी में लिखा रहता था। उसे मैं उन्हें दे दिया करती थी।

यहीं बस्ती में, १९१४ में, प्राइवेट एफ० ए० भी उन्होंने पास किया।

जब वे प्राइवेट पढ़ रहे थे तो उनके सिरहाने सलाई, लालटेन, किताब रखी रहती थी। कभी-कभी मैं चारपाई पर से ही उन्हें आवाज़ दे दिया करती थी कि उठिए, समय हो गया है। ५ बजे तक आप पढ़ते रहते थे। ५ बजे उठकर पाखाने जाते, हाथ-मुँह धोते और तत्काल जो कुछ मिलता, नाश्ता कर लेते। यही उनके रोज के काम थे। इसके बाद छः बजते-बजते फिर अपने कमरे में लेख, कहानियाँ लिखते थे। फिर नौ तक वे साहित्य-सेवा में लगे रहते थे। बाद में पाखाने जाना, नहाना, खाना होता। फिर कपड़ा पहनकर स्कूल जाते। बस्ती में, स्कूल जाते हुए तो एक्के से जाते थे, पर लौटते थे पैदल। रोज़ाना दो आना मुझसे किराये के लिए लेते थे। लौटते हुए तरकारी वग़ैरह खुद उधर ही से लेते आते। साढ़े तीन बजे घर पर पहुँचते, कभी चार भी बज जाता था। गृहस्थी का काम मेरे करने पर भी कुछ-न-कुछ रह ही जाता। चार बजे आते ही कुछ नाश्ता करते। उसके बाद पाँच तक गप-शप करते रहते। फिर छः बजे से लेकर आठ तक कुछ-न-कुछ साहित्य की सेवा करते।

बीमार तो वे महोबा ही से थे। इतना सब होते हुए भी वे सेकेण्ड पास हुए थे। किसी काम से हार मानना तो उन्होंने सीखा ही न था। घर में बेटी को बड़ी देर तक खिलाते रहते। उसके बाद पास-पड़ोस में किसी से मिलने-जुलने जाते तो बेटी को गोद में उठाते जाते। बच्चों का प्यार उनमें बहुत था। लौटती बार शाम के समय वे कुछ थक जाते थे। मैं चाहती—पैर वग़ैरह दबा दूँ; पर उन्हें यह सब बहुत नागवार मालूम होता था।

कभी-कभी मैं ज़िद करके दबा देती, तो वे विवश हो दबवा लेते थे। स्त्रियों से काम करवाना उन्हें पसंद न था। हुक्के की चिलम तक भरवाना मुझसे वे पसन्द न करते थे। नौकर दरवाज़े पर बैठा रहता था; लेकिन अन्दर आकर वे पानी पीते थे। धोती भी ख़ुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर ख़ाली ही रहता। कभी-कभी मैं इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती कि नौकर फिर क्यों है? आप बोलते—अपनी ज़रूरतें ख़ुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे; फिर मैं पाँच रुपए का नौकर तो ख़ुद था।

मैं—मैंने तो नहीं देखा।

'तुम्हारे न देखने से क्या? मैं तो भुगत चुका हूँ। इसलिए इन्सान को अपनी ज़रूरत ख़ुद रफ़ा करनी चाहिए।'

जुलाई १९१५

इसके बाद वहीं आपका हाज़मा ख़राब हुआ। हाज़मे की ख़राबी की वजह से आपने वहाँ से तबादला करवा लिया। सोचा था कोई अच्छी जगह देंगे। मगर दी नेपाल की तराई, बस्ती। यहाँ भी हाज़मा ख़राब रहा। चार-छः महीना रहने के बाद मेरे पिता ने बुलाया। और एक महीना प्रयाग में ही रहकर दवा कराई। मैं भी साथ थी। वहाँ से बिना अच्छा हुए ही आप फिर बस्ती चले आये।

मैं अपने पिता के घर रही। मेरे पिता बोले—बेटा, देखो ! अपनी दवा करो। एकबार और छुट्टी लो।

इस बार छः महीने की लम्बी छुट्टी आपने ली। आधी तनख्वाह मिलती थी। २५)। उसमें १०) मा को दे देते थे, १५) अपने भाई को देते थे, जो झाँसी स्कूल में पढ़ता था। पता नहीं वे कैसे अपना खर्च चलाते थे। लेखों के रुपयों से शायद वे अपना गुजर करते रहे हों। कानपुर और लखनऊ दोनों जगह दवा कराते थे।

मैं अपने पिता के घर पर थी। दिसम्बर महीने में मुझे बुलाने मेरे घर गये। पिता से कहलाया कि मैं बिदा कराने आया हूँ। पिता ने उसी आदमी से कहलाया—वे बड़े आराम में पड़ी हैं। आधी तनख्वाह पा रहे हैं, क्यों झंझट पाल रहे हैं। ख़ुद भी तो कभी लखनऊ, कभी कानपूर रहते हैं।

खैर, वे वापस गये।

फिर अप्रैल के महीने में आये और बिदाई के लिए कहा। फिर पिता ने वही जवाब दिया। उस दफे उस आदमी से उन्होंने कहलवाया—क्या जिसकी आमदनी ज़्यादा न हो या जो बीमार हो वह अपने बीवी-बच्चे को न ले जाय।

जब मेरे पिता को यह बात मालूम हुई तो उसी आदमी से बोले—मुझे इसमें कोई एतराज नहीं है। मैं तो उनके फ़ायदे के लिए कहता था।

अप्रैल के महीने में मुझे लिवाकर वे लमही आये। इसके बाद दो महीने आप लमही में रहे। शहर रोजाना पैदल आते थे और हकीम के यहाँ से दवा ले जाते थे। कहीं बारह बजे के करीब फिर गाँव वापस जाते थे। पथ्य तो मूँग की दाल का देती थीं चाची, लेकिन उसमें मिर्चें की बघार देती थीं। पेचिश दिन-दिन बढ़ती जाती थी। मुझसे रोज़ पेचिश की शिकायत करते थे।

दो महीने बाद फिर बस्ती गये। फिर वही हालत। कोई पन्द्रह रोज़ रहने के बाद फिर वापस आये। वहीं डुमरियागंज तहसील में मन्नन द्विवेदी

'गजपुरी' से भी उनकी भेंट हुई। उनसे कभी-कभी साहित्यिक बातें होती थीं। डुमरियागंज जाते तो उन्हीं के यहाँ ठहरते। उसके बाद फिर घर छुट्टी लेकर आये। फिर तबादले की दरख़्वास्त दी। उस पर भी साहब ने कुछ ध्यान नहीं दिया। फिर इलाहाबाद गये। डाइरेक्टर से मिले। बोले—बस्ती की आबहवा मेरे माफ़िक नहीं है।

साहब—तुम्हें न महोबा की आबहवा पसन्द, न बस्ती की, बताओ कहाँ भेजूँ ? तुम्हारी मास्टरी की जगह ४०) की है, जा सकते हो। मंजूर है ? आप बोले—बाद को लिखूँगा।

घर आये। मैंने पूछा—क्या हुआ ?

'हुआ क्या यार, कुछ भी नहीं। कमबख़्त झल्लाता है, कहता था, किस जहन्नुम में भेज दूँ ? इसके बाद बोला—४०) मास्टरी की जगह पर जा सकते हो।'

मैं—तो आप क्या कह आये ? अभी तो मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। जैसा कहो, वैसा करूँगा।

मुझे इन सब बातों से बहुत क्रोध आया और अपनी बेकसी पर अफ़सोस भी हुआ। बोली—तो मास्टरी क्या बुरी है ? वे बोले—तुम्हें मालूम है, चालीस ही मिलेंगे।

'हाँ, मालूम है, ४०) ही मिलेंगे तो क्या ?'

'बताओ खर्च कैसे चलेगा ?'

'देखा जायगा, जैसे चलेगा। खर्च के लिए प्राण तो नहीं दिये जा सकते।'

आप बोले—सब मिलाकर इस समय तुम्हारे घर पर १००) रुपए आ जाते हैं, फिर भी ख़र्च नहीं चलता।

मैं—मैं कहती हूँ १०००) में भी खर्च नहीं चल सकता। जो १०) कमाता है, उसी में वह भी निर्वाह कर लेता है।

'मैं नहीं जानता, मैं तो सब करने को तैयार हूँ।'

मैं बोली—मैं भी तैयार हूँ। कोई बात नहीं।

'यों ही लोग परेशान करते हैं।'

मैंने कहा—सिधाई के सब नतीजे हैं। देखते हैं लोग कि मर रहे हैं; पर दवा के लिए भी नहीं पूछते। और नहीं, दाल में मिर्चें की बघार दी जाती है। भला यह भी कोई बात है।

'ख़ैर, तुम्हारी इच्छा ! मैं दर्ख़ास्त दिये देता हूँ।

फिर मंजूरी आई। उन दिनों हम बनारस थे। जिस दिन मंजूरी आई, बोले—चलो फिर वहीं बस्ती।

मैंने कहा—चलो, दौरा तो न करना होगा।

८ जुलाई को फिर हम आये बस्ती। साथ में मैं, मेरी लड़की और उनके भाई थे। फिर पुरानी बस्ती में हम लोगों ने मकान लिया। पहले तो मेरे बहनोई के यहाँ, जो वहाँ पोस्टमास्टर थे, ठहरे। दोनों आदमियों ने मिलकर मकान ठीक किया। खाने-पीने का वहाँ ठीक रहा।

एक रोज का वाक़या है आप बाज़ार गये मछली, तरकारी, पान वग़ैरह लाने। वहीं पं० मन्नन द्विवेदीजी से भेंट हुई। पंडितजी को साथ लिये घर पर आये। आकर बोले—पंडितजी घर पर बैठे हैं। पान तो बना लाओ। वे खुद हाथ धोकर तश्तरी में पान लेकर बाहर आये। उनसे कुछ देर तक गपशप होती रही। फिर पंडितजी अपने घर गये।

आप अन्दर आकर बोले आज मछली खरीदते हुए ही पंडितजी मिले। बड़ा मसखरा आदमी है। साथ ही जानदार भी है।

मैंने कहा—आपको तो मैं कई बार टोक चुकी हूँ कि और किसी से मँगा लिया कीजिये, पर आप मानते नहीं।

आप बोले—मुझे अपना काम करते शर्म नहीं मालूम होती। अपना काम करना क्या जुर्म है ? फिर मैं अपने को मजदूरा कहता भी तो हूँ।

मैं—आप हथौड़ा क्यों नहीं चलाते ?

'फावड़ा नहीं चलाता तो कलम तो चलाता हूँ।'

मैं—अगर आप फावड़ा चलाते होते तो आपको मैं रोटियाँ पहुँचाती होती।

'अच्छा, बाहर न सही, घर में तो देती हो। अगर मेरा सौदा बाजार से कोई दूसरा लाता तो क्या महराजिन की ज़रूरत न पड़ती ?

मैं—महराजिन का तो कोई सवाल नहीं। अगर आप अपने को हर हालत के लिए तैयार रख सकते हैं, तो क्या मैं इतना भी नहीं कर सकती ?

'इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद है।'

'इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद है।'

वहाँ ४०) मिलते थे। १०) विमाता को बराबर भेजते रहते थे। बाकी में हम तीन थे।

यह सन् १४ की बात है

दो-तीन दिन बीतने पर पंडितजी ने तीन-चार खाँची मछलियाँ भेजी और साथ में एक दोहा—

धीमर ने फाँस्यो अभी दीन हीन सफरीन
प्रेमचन्द भोजन करैं विद्या-बुद्धि प्रवीन।

आप तो घर पर थे नहीं। उसे मैंने रखवाया और चार-चार आने विदाई देकर उन आदमियों को वापिस किया। कविता उठा कर पढ़ी। मुझे भी हँसी आई। साथ ही चिन्ता भी कि इतनी मछलियाँ होंगी क्या ? मनाती थी कि जल्दी आयें तो कोई प्रबन्ध हो। जब शाम को आये ३॥ बजे तो टोकरों में आँगन में मछलियाँ रखी थीं। कपड़े भी उतार न पाये थे कि बेटी को उठा लिया। उसको गोद में लिए हुए मछलियों पर निगाह पड़ी।। बोले – ये कहाँ से आ गई ?

मैं बोली—यही नहीं आई इसके साथ एक कविता भी आई है। यह पंडितजी की शरारत है।

आप बोले—मैं समझता था कि ज़रूर वे इस पर मज़ाक करेंगे। बोले- ये होंगी क्या ?

मैं—मेरी समझ में तो खुद नहीं आता कि यह क्या होगी। इसे बँटवाइये। कुछ जीजा के यहाँ भिजवाइये। और जगह भी भिजवाइये।

शाम को किसी तरह मछलियों की बला टली। तब से हमेशा मैं डरती रहती थी कि कहीं फिर न इन्हें बाज़ार में वे मिल जायँ। मगर उनको इसकी फिक्र न थी। वे तो अपना काम करना जानते थे।

जब पंडितजी दुबारा फिर बस्ती आये मछलियों पर काफी क़हक़हा रहा। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि 'पंडितजी, आपकी बनाई वह कविता मुझे बहुत पसन्द आई। फिर तुम ऐसी कविता लिखोगे, तो मैं भी कुछ लिखकर भेजूँगा।'

उसी बस्ती में एक दिन कुआर का महीना था—हथिया का पानी बरस रहा था। मकान गिर रहे थे। हम चार आदमी भी साथ ही एक मकान में बैठे थे कि मकान गिरेगा, तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही खतरा उठायेंगे। दूसरे रोज किसी तरह पानी निकला। आप स्कूल गये। हेडमास्टर बोला—कल आप क्यों नहीं आये ?

'साहब, उधर पानी बहुत तेज़ था।'

हेडमास्टर—क्या आप नमक थे, गल जाते ?

मैं नमक तो नहीं था। हाँ, मेरे पड़ोस के मकान गिर रहे थे। मुमकिन है, मेरा भी मकान गिर पड़ता।

हेडमास्टर—क्या आप रहकर उसे गिरने से रोक लेते ?

आप बोले—रोक तो नहीं सकता था। हाँ, साथ मर सकता था।

हेडमास्टर—फिर आप इसीलिए रुक गये थे ?

आप बोले—जी।

आप घर का काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। हमेशा घर के काम में मदद भी करते थे। यह काम मुझे अनुचित मालूम होता। मैं चाहती थी कि बाहर का काम उनके जिम्मे और भीतर का मेरे। जो काम मुझे करना होता, उसे वे मेरे सोते रहते ही खतम कर देते, क्योंकि मैं ऐसे कामों के लिए

उन्हें हमेशा रोकती थी। इस पर कभी-कभी मैं नाराज भी हो जाती। कोई घर का भारी काम करना होता, तो उनकी चोरी मैं पहले ही कर लेती। क्योंकि वे कई साल बीमार रहने के कारण कमजोर पड़ गये थे; इसलिए हम दोनों में हमेशा होड़-सी लगी रहती। इसी तरह हमारा घर का काम चलता था।

चार साल पहले की बात है....फिर बस्ती

४ साल की बात है। वहाँ पर वोटिंग का प्रश्न था। वे चाहते थे कि कांग्रेस मैन वोट पाये। उन लोगों ने कहा कि हमें एक कुएँ की ज़रूरत है। बोले—मैं कुआँ तुम्हारे लिए बनवा दूँगा। वोट उन्हीं को देना। उनके हाथों तुम्हारा भला होगा। वहाँ पर ज्यादा बस्ती काश्तकारों की है। इत्तिफ़ाक से एक वोटर कुरमी था, जो मेंबरी के लिए खड़ा था। इनके कहने पर भी वहाँ के सारे वोट उस कांग्रेसी को नहीं मिले। जब मालूम हुआ गाँववालों को तो कायस्थ लोग बौखला गये। आकर बोले—इन आदमियों को आप जहाँ तक, जहाँ से निकाल सकें अच्छा हो। यह आपका अपमान हुआ।

आप बोले—तुम लोग क्या बकते हो? मेरे जीवन का यही ध्येय है, काश्तकारों को सुधारना। मेरी इस बात की क़ीमत ही क्या, जिसके पीछे मैं सबको तबाह कर दूँ। लोगों ने न माना तो अपनी हानि की, न कि मेरी। मैं उन्हें तबाह कर दूँ, यह शराफ़त नहीं है। फिर मैं तो चाहता हूँ वे अपने पैरों खड़े हों। आज मैं उनको भला बतला रहा हूँ। कल शायद उन्हें कोई धोखा दे। भेड़ों की तरह किसी के इशारों पर पब्लिक का चलना कहाँ तक ठीक है? मैं इसे मुनासिब नहीं समझता। उन्होंने खुद समझकर जो भी किया अच्छा किया। अब सब में कुछ-न-कुछ समझदारी आ गई है। मेरे साले तो इलाकेदार थे; पर वोट नहीं मिले तो क्या वे अपने इलाके को तबाह कर दें या कि उन्हें ऐसा करना चाहिये।

कई महाशय एक साथ बोले—आपका मौन भंग हुआ।

'इसमें मेरा गौरव है। मैं नीच नहीं होना चाहता।'

सब अपने-अपने घर गये। घर में आने के बाद मैंने पूछा—क्या था ?

'कुछ नहीं जी। गाँववालों ने वोट नहीं दिये, इसी से गरमाये हुए हैं।'

उन्हीं दिनों की एक घटना और है। आप सुबह के समय अन्दर नाश्ता कर रहे थे और दो बच्चों में झगड़ा हो रहा था। पचीसों आदमी इकट्ठा थे। दो बच्चे एक में गुँथे मार-पीट कर रहे थे। एक बच्चा दोनों को छुड़ा रहा था। छुड़ानेवाला उसका भाई था। उन्होंने समझा—एक बच्चे को दो आदमी मिलकर पीट रहे हैं। छुड़ानेवाले बच्चे को दो तमाचे कसकर लगाये और बोले—बदमाश, मारता है ! छुड़ानेवाला बोला—मैं तो छुड़ा रहा था। तब तक मैं भी वहीं पहुँच गई। मार खानेवाले बच्चे पर मुझे दया आई। मैं बोली—मत रो, बेटे ! इनकी ग़लती है।

बच्चा—कुछ नहीं। अपने नाना ही तो थे। मेरे साथ बाबूजी घर आये।

मैं—आपको क्रोध अकारण ही चढ़ता है। वह ग़रीब क्या कर रहा था।

'मैंने समझा, वह मार रहा है।'

'पूछ क्यों न लिया। वहाँ की परिस्थिति बिना जाने आपने मारना शुरू कर दिया। वे दोनों के दोनों शैतान हैं। आप जहाँ का झगड़ा हटा रहे थे, वहाँ का हाल तो दर्याफ़्त कर लेते।

'हाँ, यही तो गलती हुई। मुझे भी क्रोध हो आया।'

'यह कहने से आप बेगुनाह तो नहीं हो सकते।'

'तुम दे लो सज़ा।'

'आइन्दा ऐसी गलती न हो, यही सबसे बड़ी सज़ा !'

'अब ऐसा न होगा।'

बाहर वह बच्चा पत्थर पर बैठा था। उसे वहाँ जाकर चुमकारा। उसके बाद उसे लेकर मेरे पास आये। बोले—इसे कुछ खिलाओ।

मै—अच्छा, मारा आपने, मिठाई मैं खिलाऊँ ? आप खिलाइये न !

'अरे, तुम्हारा भी तो नाती है।'

एक बार की बात है—मैं बस्ती जा रही थी। आप बीमार ही थे। रात का समय। पेट भारी था। हम तीन आदमी थे। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। उनके लिए मैंने बिस्तर लगा दिया। वे लेटे हुए थे। लड़की भी सोई हुई थी। दो मुसाफ़िर आये। बोले—औरों को बैठने की जगह नहीं, पर ये सो रहे हैं।

मैं—तुम भी कहीं बैठ जाओ।

'उनको उठा दो।'

'उनकी तबियत अच्छी नहीं है।'

मुसाफिर—जब तबियत ठीक नहीं थी तो चले क्यों थे ?

मैं—बक-बक मत करो।

'गाड़ी का किराया तुम्हीं ने दिया है ?'

मैं—अच्छा, जहाँ तुम्हें जगह मिले, वहाँ बैठो।

मुसाफिर—इन्हें उठाकर बैठेंगे।

मैं—उठाओ। मैं ज़रा देखूँ तो।

वह आगे बढ़ा। मुझे क्रोध आया। मैंने क्रोध के साथ कहा—खबरदार, अगर आगे हाथ बढ़े तो गाड़ी के नीचे झोंक दूँगी। हम दोनों की बातों से उनकी नींद खुल गई। और उन्होंने हड़बड़ाकर उठना चाहा। मैंने कहा—आप क्यों उठते हैं ?

आप—उठ जाने दो। क्यों लड़ाई करती हो ?

मैं—इन गधों से सीधे काम न चलेगा। ये इन्सान नहीं हैवान हैं। मैंने आपकी हालत बताई थी, फिर भी इन गधों को अक्ल नहीं आई। ये ज़ोर दिखाना चाहते हैं। मैं इन्हें झोंक दूँगी। जब उन लोगों ने मुझे क्रोध में देखा तो दबककर खड़े रहे। वे लोग कई स्टेशन तक खड़े-खड़े ही गये। जब वे गाड़ी से उतर गये तो मुझसे बोले—तुम बड़ी दिलेर हो। मेरी हिम्मत इस तरह धमकी देने की न पड़ती।

फिर बोले—मानो वे मुझे जगा देते तो तुम क्या करतीं ?

मैं—गाड़ी के नीचे झोंक देती और क्या करती।

'गिरने पर वे ज़िन्दा रहते ? तुम्हें फाँसी न हो जाती।'

'फाँसी का प्रश्न तो पीछे उठता है। क्रोध यह सब नहीं देखता।

'तुम बड़ी उद्दंड हो।'

मैं—मैं कोई लेखक नहीं हूँ। आखिर वह मेरे साथ ऐसे क्यों पेश आ रहा था ? वह चैलेंज क्यों दे रहा था ? यही समझकर न कि वह बीमार हैं, और यह औरत है। मैं उसे मज़ा चखा देती कि मैं पर्देवाली औरत नहीं हूँ। वह अगर भलेमानस की तरह आता और कहता तो मैं शायद जगा भी देती।

'कुछ भी हो, तुम बहुत उद्दंड हो।'

'मैं कब कहती हूँ कि उद्दंड नहीं हूँ।'

गोरखपुर

गोरखपुर का तबादला हुआ। हमने सब सामान गोरखपुर के लिए बुक कराया। बुक कराने पर पता चला कि जो क्वार्टर हमें गोरखपुर में मिलेगा, वह एक दिन देर से मिलेगा।

जब वहाँ से आने पर आप खाना खाने बैठे तो बोले—अभी तो हमें कल चलना है, क्योंकि क्वार्टर खाली नहीं। आज ख़त आ गया है। मैं भी सोच रहा हूँ कि कल ही चलूँ।

मैं कई दिनों से बीमार थी। सामने वे बैठे खाना खा रहे थे।

मैं—इसके माने यह हैं कि आप महीने-दो-महीने की छुट्टी लेकर बैठिये।

तब आप बोले—क्या आज ही चलना चाहती हो ?

मैं—हाँ, आज ही। सामान तो बुक हो गये। और मैं बीमार। और क्या मुसीबत होगी।

आप बोले—चलो, एक दिन स्कूल ही में ठहर लेंगे।

मैं—हाँ, चलिये।

हम वहाँ से चले। तीन बजे चलकर शाम को पाँच बजे पहुँचे।

स्कूल में हम ठहराये गये। स्कूल के बरामदे में हमें सब मास्टरों तथा दो सौ के लगभग लड़कों ने घेर लिया। कोई आठ बजे के लगभग वहाँ के एक मास्टर मुझे ऐसी हालत में जानकर अपने घर ले गये। बोले—कल क्वार्टर ख़ाली हो जाने पर मैं उसमें चला जाऊँगा। बात एक ही होगी।

१० बजे रात को धुन्नू की पैदाइश हुई। उस समय आपकी उम्र चालीस के आसपास थी। जब लोगों को मालूम हुआ तो मास्टर साहब दायी बुलाने खुद गये। और दरवाजे पर बाजे बजने लगे। उस महल्ले भर में शोर हुआ कि आखिर बच्चा हुआ कहाँ ?

फिर सुबह मास्टर साहब उसी क्वार्टर में जो हमें मिलने वाला था चले गये।

उस मकान में हम दो महीने रहे।

धुन्नू मूल में हुआ था। उसकी पूजा खतम होने पर स्कूल के पूरे स्टाफ़ को दावत दी गई। फिर हम क्वार्टर में आये। उसी महीने में आपकी १०) रुपए की तरक्की हुई।

फिर आप बी० ए० की तैयारी में लगे। फिर वही बस्ती का कार्यक्रम चलने लगा। सुबह उठना, पाखाना जाना, वैसे ही नाश्ता करना, आदि।

इन दो लड़कों को वे बराबर रोजाना कुछ समय तक खेलाते और प्यार करते।

धुन्नू जब आठ महीने का था, तभी मेरे फोड़ा निकल आया था। उन्हीं दिनों आपको १ महीना डाक्टरी पढ़ने का हुक्म इलाहाबाद में हुआ। हेडमास्टर बोला—आप जाकर पढ़ आइये। इसमें १०) आपकी तरक्की भी है। इसीलिए मैंने आपको रखा।

आप बोले—मैं कैसे जाऊँ। मेरी बीवी के पैर में फोड़ा हुआ है।

हेडमास्टर—आप अवश्य जाइये। वे अच्छी हो जायँगी।

वे बोले—मुझे तो यह फोड़ा ख़तरनाक लग रहा है। दो महीने गुज़र गये। कैसे जाऊँ ?

हेडमास्टर—तरक्की आपकी हो जाती और कोई बात नहीं।

आप बोले—तरक्की की न मुझे अधिक ख्वाहिश है न उन्हें। फिर क्यों ऐसा करूँ।

हेडमास्टर—इसका जिम्मा मुझ पर। मैं आपके घर को अपने घर की तरह समझूँगा।

'अच्छा, आपके कहने से मैं जाता हूँ।'

तब तक मेरा पैर अच्छा भी कुछ हो चला।

मैंने भी कहा—जाइये। आप एक महीना के लिये गये भी। तब तक हेडमास्टर रोज़ाना देखने के लिए आते थे।

गोरखपुर में यद्यपि एक माह तक अकेली रही, फिर भी मुझे ज़रा-सा अकेलापन न महसूस हुआ। सारा स्कूल मुझे अपने परिवार की तरह समझता था। यों तो उनके बहुत स्नेही थे, वे भी सबको प्यार करते थे।

एक माह बाद आप प्रयाग से वापस आये। फिर १०) और तरक्की हुई, ७०) मिलने लगे। उनका भाई लखनऊ में पढ़ता था, २५) उसे देते थे; बाकी ४५) में विमाता, मैं, लड़की, लड़का और आप ख़ुद भी। घर का पैसों का हिसाब मैंने विमाता पर ही छोड़ दिया। फिर वही किचकिच चलने लगी। आपको इन बातों से अशान्ति हो आती थी।

एक रोज़ की बात है मुझसे बोले—और काम में चाहे शिथिल रहो, करो या न करो; पर रुपयों के झंझट से तो मुझे बरी रखो।

मैं—(हँसी में) कौन तुम्हारा झंझट अपने सिर ले। आपकी बला, आप अपने सिर लें।

बोले—यह काम तुम अपने हाथ में ले लोगी तो मैं और भी कुछ कर-धर सकता हूँ। नहीं तो हर वक़्त मैं इसी झंझट से परेशान रहूँगा।

मैं—कौन यह ले ! आप ही बताइये।

बोले—तुम तो हई हो। मुझसे तुम पाई-पाई का हिसाब ले लो। और मुझे इस हरदम के किचकिच से दूर रखो।

उनके भाई को २५) तो बँधे मिलते ही थे। प्राइवेट खर्चा, कपड़े-लत्ते के लिए भी दूसरे महीने कुछ-न-कुछ भेजना ही पड़ता।

मैं—४५) में क्या करूँगी। आपकी विमाता अलग तनी रहती हैं।

'कुछ भी हो, तुम सँभालो। इसके लिए तुम मुझसे पहले ही धन्यवाद ले लो।'

मुझे उनकी इस ऊब पर दया आई और मैंने कहा—मैं इस महीने से सारा प्रबन्ध अपने जिम्मे ले लेती हूँ। आप निश्चिन्त रहिये।

७०) तो उन्हें मिल रहे थे। वे रुपये लाकर मुझे उसी दिन दिये। मैंने रुपए लेकर रख लिए। ख़र्च करती रही। सामान लाने वे खुद जाते थे। किसी तरह प्रबन्ध चलता रहा।

मई के महीने में उनका भाई तालीम पाकर घर आया। दो महीने घर पर रहने के बाद बस्ती में बन्दोबस्त आफिस में नौकर नियुक्त हुआ तो मैं उन २५) रुपयों को बैंक में जमा करने के लिए प्रतिमास देने लगी। जब पहले महीने में मैंने उन्हें पचीस दिये तो उसे उन्होंने जमा न किया; बल्कि बाहर अपनी आलमारी में रख लिया।

मुझे क्या पता। फिर दूसरा महीना आया। मैंने फिर रुपये दिये कि इसे जमा कर आइये। तो आप बोले—अभी तो उस महीने के रुपये ही पड़े हैं।

मैं हैरत में आ गयी, बोली—क्या बात है?

तब आप बोले—मेरा ऐसा ख्याल था कि कहीं ख़र्च ही को न घट जाय; पर तुम दुबारा दे रही हो तो देखो, मैं अभी दोनों महीनों के रुपये जमा कर आता हूँ।

'क्या खूब! आप भी अच्छे रहे। खर्च का अन्दाज़ अगर मुझे ठीक न होता और उतने में चलाना असम्भव लगता तो भला मैं देती क्यों?'

सन् १९१६

सन् १९१६ की बात है, अप्रैल की शायद २० तारीख़ थी। घर से उनके बड़े भाई साहब की मा और छोटी भावज गोरखपुर आई थीं। गाँव में प्लेग था, और उनके भाई साहब इन्दौर में नौकर थे। वहीं अपनी अकेली पत्नी के साथ थे। घर पर कोई और पुरुष न था। और वे लोग सीधे गोरखपुर चले आये और अपना ही समझकर आईं। उनका आना हमारी चाची साहब को अच्छा न लगता था। और उन्हीं का विषय लेकर वह रोज़ झगड़ा करती थीं उन्हीं से। एक समय वह चौके में खाना खा रहे थे। और कौनसी बात हुई, यह तो मुझको मालूम नहीं मगर जब वह मेरे पास आये तो मैंने पूछा—आख़िर बात क्या है तुममें रोज़ झगड़ा क्यों हुआ करता है। बोले—झगड़ा इस बात का है कि उनका लड़का अब इसी साल कहीं न कहीं नौकर हो जायगा, वह समझती हैं कि जो कुछ वह कहें वही मैं करूँ। छोटी भाभी जो घर से मेरे पास आ गई हैं, वह क्यों आईं, यही झगड़े की बात है। वह अपना ही समझकर मेरे पास आईं। और वास्तव में अगर देखा जाय तो क्या मैं उनका कोई ग़ैर हूँ। अगर वह मेरी सौतेली मा हैं तो वह भी मेरी चाची हैं। मैं तो समझता हूँ कि दोनों का हक़ मेरे ऊपर एक-सा है। अगर यह बात तुमको बुरी लगती तो मैं समझता कि यह वाजिब है। मगर यहाँ उल्टा होता है। जब मैं सुनता हूँ तब बार-बार यही कहती हैं कि तुम लोग गरमी की छुट्टियों में चले जाओगे तो हम किराये का मकान लेकर शहर में अलग रहेंगे।

मैं बोली—अलग ही रहना है तो बस्ती में जो जगह मिलती है वहीं क्यों नहीं भेजते। अलग ही रहना है तो गोरखपुर में क्यों, बस्ती में भेजिए।

आप बोले—अजी कुछ नहीं, यह समझती हैं कि अब मैं उनकी कमाई खाने के लिए तैयार हूँ। और मैं कहता हूँ कि जिस दिन मुझे किसी की

कमाई खाने का वक्त आयेगा मैं उस समय जहर खा लूँगा। मैं इतना नीच नहीं हूँ। मैंने उनसे कह दिया है।

मैं बोली—इसमें तो झगड़े की कोई बात नहीं है। अपनी-अपनी फ़िक्र करनी चाहिए, दूसरों की क्या फ़िकर है।

उन दिनों मेरी गोद में आठ माह का धुन्नू था। और मुझे दो माह से दस्त की बीमारी थी। मैं कुछ खाती न थी; फिर बच्चा दूध क्या पीता। डाक्टरों ने कहा था कि अगर बच्चे को दूध पिलाया गया तो मा को थाइसिस हो जाने का खतरा है। इस डर से डेढ़ सेर दूध आता था कि बच्चा पीयेगा और कुछ का दही तैयार किया जायगा, जिसका कि मट्ठा मैं पीती। होता उसका उल्टा था। आध सेर दूध चाची पहले ही अपने लड़के को रख देतीं। बाकी एक सेर दूध, उसमें से थोड़ा दूध उनको भी दे देतीं; और एक बच्ची थी उसको भी दूध चाहिए। अब बच्चे के लिए दिन भर के लिए बचा आधा सेर दूध। आमदनी ऐसी नहीं कि ऊपर से अधिक दूध और मँगाऊँ। फल यह होता था कि बच्चे को साबूदाना पानी में उबालकर खिलाना पड़ता। उसका फल यह हुआ कि उसको खून के दस्त होने लगे।

एक दिन ग्वाला दूध लेकर दरवाजे पर आया, आप दूध लेने के लिए लोटा लेने आये। मैं बोली—अब से बच्चे भर के लिए दूध आयेगा और किसी के लिए नहीं।

गोरखपुर, सन् १६

सन् १६ की बात है। आपकी बहन मेरे यहाँ गई हुई थीं। उनके पास भी दो बच्चियाँ थीं, वे थीं। दो हम, तीन वे। इन्फ्लुएंजा में बीमार पड़े। अब उनकी सेवा का हाल सुनिए—बड़े सुबह उठना, उसके बाद आग तैयार करना, हुक्का पीकर काढ़ा चढ़ाना। तब तक पाखाना जाना। पाखाने से लौटने के बाद, पानी, दातौन मुझे और अपनी बहन को पहले दे जाना, तब तक धुन्नू, बेटी, अपनी भांजी आदि का हाथ-मुँह धोना। यदि

उनकी भाँजी अच्छी रहती तो लड़कों को दूध खुद पिला देती।

इन सब कामों को करने के बाद तब आपको खाना बनाने की होती। हाँ लड़की स्वस्थ रहती तो वह ख़ुद बना देती। उसको अगर बुखार चढ़ आता तो मजबूर हो जाती। खाना बनाकर सबको जूस-पानी देना भी उन्हीं का काम था। पान बनाकर मेरे डिब्बे में रखकर, धुन्नू को गोद में लिये ही स्कूल चले जाते थे। फिर बारह बजे आते। फिर बेटी को दूध पिलाते, धुन्नू को दूध पिलाते। फिर पान खाकर धुन्नू को लिये स्कूल चले जाते। शाम को फिर उसी तरह।

अब दो बच्चों को सुलाना भी उन्हें पड़ता। एक को एक तरफ़, दूसरे को दूसरी तरफ़। रात में लड़के पेशाब कर ही देते थे, तो आप खुद भीग जाते और फिर कपड़े बदलते, दूसरा बिछावन बिछाते।

जब से धुन्नू हुआ, बेटी को बराबर अपने पास रखते थे। कहीं रात में बच्चे रोने लगे तो रात भर उन्हें लटकाये जागते रहते। क्रोध तो उन्हें छू तक नहीं गया था। उसके तीसरे वर्ष दूसरा बच्चा हुआ तो वे धुन्नू को भी अपने पास रखने लगे।

वह मेरा लड़का ग्यारह महीने का होकर चेचक से बीमार पड़ा। चेचक काली थी। मैंने लड़के की हालत देखकर कहा—कोई डाक्टर बुलाइए। चेचक का रंग ख़तरनाक है।

आप अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में गये और डाक्टरी की किताब वहाँ से देखकर आये।

मुझसे बात करते हुए उनका गला भरा हुआ था। कमरे में शायद रो रहे थे। बोले—तुम्हारा यह लड़का बचता नहीं मालूम होता।

मैं—पहले डाक्टर बुलाइए।

'डाक्टर को लाता ही हूँ, पर मुझे विश्वास नहीं।'

मुझे आश्वासन देते हुए बोले—मरना-जीना तो लगा ही रहता है। क्या करोगी। अपना बस क्या है ?

उसी समय चाची को तार दिया। वे अपने मायके में थीं। जब दूसरे रोज़ आईं, तब उनसे बोले—बेटी और धुन्नू को लेकर तुम मरदाने कमरे में रहो। ये तो भला बचे रहें। मेरी तो राय है कि इन्हें घर से भी दूर रखा जाय।

चाची—नहीं चेचक के दिनों में बाहर जाना ठीक नहीं। वे अलग रहने लगीं।

लड़का ग्यारहवें दिन ठण्ढा होने लगा।

फिर डाक्टर आया। उसने कहा—सब्र कीजिए।

रात को जिस समय वह मरा, मैं और वे थे। मैं चाहती थी, वह खुद भी दूर रहें।

जब उन्होंने मुझे रोते देखा, जब कि बच्चा मर गया था, तो मेरा हाथ पकड़कर वहाँ से उठा लाये और मुझसे बोले—क्यों रोती हो? क्या सुख उससे तुम्हें मिला? ग्यारह ही महीना जिन्दा रहा, उस पर भी बराबर बीमार। मैं तो ज़िन्दा ही हूँ। असल में मैं ही तुम्हारा हूँ।

उस दिन रात भर मुझे पकड़े रहे। वे बैठे भी बराबर रहे रात भर। सुबह जब उसकी लाश चली गई तो उसके सारे सामान जलवा दिये। फिर सारे कमरे को फिनायल से धुलवाया। उसके बाद वहाँ पर हवन कराया। फिर उस कमरे में नौ महीने तक ताला पड़ा रहा। उन्होंने अपने हाथ से कमरा बन्दकर ताली बाहर फेंक दी। उसकी एक-एक चीज़ को नहीं रहने देते थे।

इसके बाद खुद बीमार पड़े। जो उन्होंने अपनी आत्म-कथा * में खुद लिखा है। १९२० तब था।

शुरू-शुरू में बीमार होने पर उन्होंने जल-चिकित्सा प्रारम्भ की। उससे पेट और भी बढ़ गया। कभी-कभी पेट में दर्द भी होता। दवा से आप बहुत घबराते थे। दवा तो करते नहीं थे। स्कूल में आरामकुर्सी पर लेटे रहते थे। घर में साहित्य का काम तो वैसा ही चलता रहा।

---

* तात्पर्य हंस के आत्मकथांक में प्रकाशित उनके लेख से है।

इसके दो महीने बाद मैंने अपने पिता को लिखा कि ये बीमार हैं, और यह बीमारी है। मेरे पिता ने सुनते ही मेरे वकील भाई को भेजा और कहा, फौरन लिवा लाओ। अलग मकान लेकर उनकी दवा होगी।

मेरे भाई आये और बोले—पिताजी आपको बुला रहे हैं। वहीं आपकी दवा भी होगी।

आप बोले—मैं दवा कर चुका। भाई, कहाँ तक करूँ।

वे—नहीं साहब, चलना ही पड़ेगा। पिताजी की सख़्त ताकीद है।

तब आप बोले—मैं तो नहीं जाऊँगा। तुम जिस डाक्टर से दवा कराना चाहो, उसे यहाँ बुलाओ और खुद बैठो।

भाई बोले—आपको वहाँ चलने में कोई तकलीफ़ नहीं। इलाहाबाद से डाक्टर लाने में आप ही बतलाइए, कैसा होगा। यहाँ से मैं बिल्कुल नावाकिफ़ हूँ।

आप बोले—उनसे कह दीजिए, मैं अच्छा हूँ।

वे बेचारे मजबूर होकर चले गये। आठ रोज के बाद फिर उन्हें पिताजी ने भेजा, फिर वही रूखा जवाब।

सन् '१७

एक बार की बात है। मेरे घर का जीना छोटा था। ऊपर से एक चारपाई नीचे और नीचे से एक चारपाई ऊपर करनी थी। इसके लिए उन्होंने मुझसे कहा—छोटे भाई के आने पर उससे कहना, वह रख देगा। जब वह आया तब मैंने चारपाई को नीचे ले जाने और नीचे की चारपाई को ऊपर ले जाने के लिए कहा। वह बोला—भाई आयेंगे तो वे खुद करेंगे। मुझे यह बुरा लगा। मैंने खुद चारपाई को अपने हाथों के सहारे ऊपर और नीचे किया। मैं उन दिनों बीमार थी। जब उन्होंने स्कूल से लौटने पर चारपाई को नीचे देखा तो बोले—इसे कौन यहाँ लाया? मैंने कहा—मैं। जो आपके घर में सबसे तन्दुरुस्त हूँ। तब आप बोले--तुम्हें ऐसा करने की क्या जल्दी थी? मैं तो आ ही रहा था।

मैंने क्रोध में कहा—सब कामों के लिए क्या आप ही हैं ? आख़िर ये छोटे-मोटे काम ये लोग नहीं कर सकते ? तब वे बोले—इसमें ज़बर्दस्ती किस बात की ? अपनी तबीयत ।

मैं—फिर तबीयत को सभी आराम पहुँचाना चाहते हैं । मैं, आप, सभी चुप बैठ जायँ तो काम क्या खुद हो जायँगे । चाहिए तो यह कि अपने-अपने योग्य काम सब करें । गृहस्थी के यही माने हैं ।

'भाई, ज़बर्दस्ती कुछ नहीं होता ।'

मैं फिर झुँझलायी । अच्छा पिसो । मुझे क्या ।

गोरखपुर : इन्सपेक्टर का मुआयना

जाड़े के दिन थे । स्कूल का इन्सपेक्टर मुआयना करने आया था । एक रोज़ तो इन्सपेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया । दूसरे रोज़ लड़कों को गेंद खेलाना था । उस दिन आप नहीं गये । छुट्टी होने पर आप घर चले आये । आरामकुर्सी पर लेटे दरवाज़े पर आप अख़बार पढ़ रहे थे । सामने ही से इन्सपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था । वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे । लेकिन आप उठे भी नहीं । इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्सपेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा ।

अर्दली जब आया, तो आप गये ।

'कहिए क्या है ?'

इन्सपेक्टर—तुम बड़े मगरूर हो । तुम्हारा अफ़सर दरवाज़े से निकल जाता है । उठकर सलाम भी नहीं करते ।

'मैं जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ । बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ । यह आपने अच्छा नहीं किया । इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर मैं केस चलाऊँ ।'

इन्सपेक्टर चला गया । आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर केस चलाना चाहिए । मित्रों ने सलाह दी, जाने दीजिए । आप भी उसे मग़रूर

कह सकते थे। हटाइए इस बात को। मगर इस बात की कुरेदन उन्हें बहुत दिनों तक रही।

पाँचवें महीने जब पचीस के अलावा ८०) मैंने और दिये और जमा कर आने को कहा तो आप बोले—ये रुपए कहाँ थे ?

मैं—हर महीने के ख़र्चें में से ये बचे हैं। अब यहाँ क्यों रहें ?

आप बोले—ये बचत के रुपए तो फिर तुम्हारे हुए।

मैं—तो फिर सब मेरे हुए। आप तो कभी एक पैसा नहीं बचा पाये।

'ख़ैर, लाओ रख आऊँ, अच्छा ही है।'

उनकी चाची को ये रुपए बुरे लगे। जब चले गये तो बोलीं—क्या मैं रुपए अपने पास रख लेती थी ?

मैं—रखने का लांछन कहाँ लगा रही हूँ ? अरे बच गये। घर में रहने से क्या होता। ज़रूरत पड़ने पर वहाँ से भी तो आ सकता है।

उन्हें बुरा तो लगा ही।

वे शाम को आने पर मुझसे बोले—भाई, क्या बात है ? सच-सच बोलो। कैसे पूरा प्रबन्ध कर लेती हो।

मैं—आख़िर चीज़ों को लाता कौन है, आप ही न। तो आप पूरे खर्चे का अन्दाज़ लगा सकते हैं। थोड़ा ख़र्चा फल का और भी बढ़ गया है, पहले की बनिस्बत।

'सच कहता हूँ, मुझे तो ख़र्च पूरा पड़ जाने की ही चिन्ता रहती थी। अच्छी बात है। तुम ऐसे ही चलाओ।'

तब से तो वे चीज़ों के ले आने के बाद पैसे-पैसे का हिसाब इस तरह देते थे कि जैसे कोई पराया हिसाब देता है। पैसा-धेला जो भी बचता, उसे मुझे वापस कर देते।

कहीं से भी जो पैसे आते, उसे मुझे वे तुरन्त दे देते। हिसाब तो कभी भी नहीं माँगा।

खाने-पीने के बारे में तो बच्चों की तरह ज़रा-सा भी पायें तो चुपके से

खा लें और कुछ न बोलें। अगर अपने मन की कोई चीज़ वे खाना चाहें और मेरी इच्छा न हो तो उसे वे किसी तरह भी न खाते थे।

मेरी बातों को वे बहुत महत्त्व देते थे। अपने जीवन में कोई भी काम उन्होंने मेरी सलाह के बिना नहीं किया।

एक बार की बात है। मैं बीमार थी। मुझे दस्त की बीमारी थी। मेरा लड़का धन्नू आठ महीने का था। बीमार कई महीने रही। डाक्टरों को आशंका थी कि अपने बच्चे को मैं दूध पिलाती रही तो तपेदिक हो जाने का पूरा ख़तरा है। इस पर आप एक दिन बोले—मेहतरानी को दूध पिलाने के लिए रख लो। नहीं तो धुन्नू भी तो कमज़ोर पड़ जायगा।

मैं—यह सब कुछ नहीं।

'नहीं जी, दूध में क्या हर्ज है? तुम उसे मत छूना। वह तो बच्चा है।'

मैं—बच्चे पर दूध का असर बहुत पड़ता है। उसका दूध इसकी प्रकृति के अनुकूल भी तो न पड़ेगा। वह आठ महीने का है, मेहतरानी को तो अभी बच्चा हुआ है। उसका दूध कैसे माफ़िक पड़ेगा।

आप बोले—फिर तुम्हीं बताओ। क्या करूँ।

मैं—बकरी का दूध ठीक होगा।

एक बकरी उन्होंने मँगवायी। बच्चे के लिए जब भी दूध पीने की ज़रूरत पड़ती, ख़ुद दुहते। चाहे कोई समय क्यों न हो।

मगर लड़का इतनी उग्र प्रकृति का था कि शीशी का रबड़ ही काट डालता, फिर वे हाथ पकड़ते। मैं चम्मच से मुँह में दूध डालती। कभी-कभी मुझे भी इसने गिरा दिया। बहुत ही मचलता था। फिर थोड़ा-थोड़ा साबूदाना खिलाने लगी।

अहीर के यहाँ से फिर एक सेर दूध आने लगा। चाची उसमें से आधा तो अपने बच्चे के लिए रख लेती थीं। बाकी आधा सेर में साबूदाने के लिए भी पूरा न पड़ता। यह देखकर कि ज़रा से बच्चे का भी ख़्याल नहीं रखतीं, मुझे क्रो धहो आया।

मैंने कहा—आज से कुल तीन पाव दूध आयेगा, केवल धुन्नू के लिए।

तब आप बोले—बेटी क्या यों ही जियेगी ? अरे, उसे भी तो चाहिए।

मैं—यहाँ धुन्नू को ही पूरा नहीं पड़ता। सावूदाना में पानी भी पड़ता है और आप ऐसा कहते हैं।

'तुम्हें तो डाक्टर ने दही खाने को कहा है ?'

'मुझे तो डाक्टर ने संखिया खाने को कहा है।'

'संखिया खा लेने से तो खूब खेल खतम हो जायगा ?'

उसके तीन दिनों के बाद चाची को खाँसी आने लगी। खाना खुद बनाते। चाची कहतीं—'अपनी बीवी से क्यों नहीं बनवाते ? खुद आखिर क्यों बनाते हैं ?' उनकी बीमारी का यही रहस्य था। तीन रोज़ तक उन्होंने खाना पकाया। चाची ने नहीं खाया। तीसरे रोज़ जब वे खाना खाकर लेटे, तो आकर चाची बोलीं—बचवा को तार दे दो। हमको घर पहुँचा दें।

धुन्नू को आँव पड़ती थी। आप बोले—कहाँ जाना चाहती हो।

'वह आकर मुझे लमही भेज दे।'

आप बोले--इस समय दवा तक का पैसा नहीं है। आठ महीने के बच्चे की यह दशा ! उसकी मा सख़्त बीमार। और वह अभी गया, पचीसों ख़र्च हुए। तुम बिना समझे क्या करती हो। हाँ जाना चाहो, बनारस का एक लड़का है, तुम्हें घर वह भेज देगा।

'हाँ, मैं जाना चाहती हूँ।'

'जाइए। शौक से। कोई बात नहीं।'

शाम की ट्रेन से वे १०) लेकर रवाना हुईं।

मेरे पिता ने मुझे बीमार जान फ़ौरन बुलाया। उसके जवाब में आपने लिखा था मैं खुद लिवाकर आ रहा हूँ। छुट्टी होने पर।

जिस दिन हमारे जाने का बिस्तर बँधा तो तार पहुँचा चाची का कि मैं आ रही हूँ, मेरी तबीयत यहाँ लगती नहीं।

आपने जवाब दिया—'अभी मत आओ, मैं तैयार हूँ इलाहाबाद जाने को।

हम इलाहाबाद आये। इसके बाद मैं देहात चली गई। आप भी पंद्रह रोज़ तक मेरे पिता के घर रहे।

फिर आप कानपूर आये। मेरी दवा तो मेरे मायके होती रही। धुन्नू को दूध पिलाने के लिए एक औरत रखी गई।

धुन्नू भी स्वस्थ होने लगा। मैंने भी दस्त से तो छुट्टी पाई, लेकिन खाँसी-ज़ुकाम ने पल्ला पकड़ा।

कानपूर से आपने मेरे पिता से मेरी खबर पूछी। पिता ने लिखा—दस्त तो बन्द हो गया ; लेकिन खाँसी आ रही है। धुन्नू तगड़ा हो रहा है। तुम इसकी चिन्ता छोड़ दो। मगर वे फिर लौट आये। पंद्रह दिन के क़रीब फिर आप रहे। आपकी दवा भी वहाँ बीच-बीच में होती रही। इसके बाद वे कानपूर चले गये।

पंद्रह दिन स्कूल खुलने को रहा तो आप लौटकर आये। और मेरी बिदाई के लिए कहा। मेरे पिता बोले—अब ज़रा-सी अच्छी हुई तो फिर बिदाई की सूझी। अभी मेरी इच्छा नहीं है।

फिर उस आदमी से बोले—कह दो, इतना मेरे साथ किया करें। मैं भी तो बीमार रहता हूँ। मैं भी तो उन्हीं का हूँ। इसलिए मैं अकेले यहाँ से जाऊँगा तो मुझे तकलीफ़ होगी। इनके रहने से मैं बिलकुल बेफ़िक्र रहूँगा।

मेरे पिता राज़ी हो गये। मैं जब यहाँ आई तो उनका बी० ए० का दूसरा वर्ष था। फिर कोर्स की तैयारी वे करने लगे।

जब मैं गोरखपुर में थी, तो मेरे गाय थी। वह गाय एक दिन कलक्टर के हाते में चली गई। कलक्टर ने कहला भेजा कि अपनी गाय ले जायँ, नहीं तो मैं गोली मार दूँगा। आपको खबर भी न होने पाई, ढाई-तीन सौ के लगभग लड़के नौकरों के साथ पहुँचे।

जब मैंने शोरगुल बहुत सुना और दरवाज़े पर देखती हूँ कि कोई आदमी नहीं है तो ,मैं आपके कमरे में गई। मैंने क्या देखा—आप शान्ति से लिख रहे थे।

'आप तो यहाँ बैठे हैं। हाते में कोई भी आदमी नहीं है।'

'अच्छा।'

जाड़े के दिन थे। एक कुर्ता और स्लीपर पहने बाहर निकले। कलक्टर के बँगले ही की तरफ़ गये। वहाँ जाकर पूछा—आख़िर तुम लोग यहाँ क्यों आये?

आदमियों ने कहा—साहब के हाते में गाय आ गई है। उसने गोली मारने को कहा है।

'तुम लोगों को कैसे ख़बर हुई?'

'साहब, आदमी गया था। वही यह सब कह रहा था।'

'जब अर्दली गया तो मुझसे बताना चाहिए था।'

'आपसे इसलिए नहीं कहा कि हमीं कौन कम थे।'

'मगर साहब को जब गोली ही मारनी थी, तो मुझे बुलाने की क्या ज़रूरत थी। यह तो साहब की बात बिल्कुल बच्चों की-सी है। गाय को गोली मारना और मुझे दिखाकर!'

लड़के—बग़ैर गाय लिये हम नहीं जायँगे।

आप बोले—अगर साहब ने गोली मार दी?

लड़के—गोली मार देना आसान नहीं है। यहाँ ख़ून की नदी बह जायगी। एक मुसलमान गोली मार देता है तो ख़ून की नदियाँ बहती हैं।

'फौजवाले तो रोज़ गाय-बछड़े मार-मारकर खाते हैं, तब तुम लोग कहाँ सोते रहते हो? यह तो ग़लती है कि मुसलमानों की एक कुर्बानी पर सैकड़ों हिन्दू-मुसलमान मरते-मारते हैं। गाय तुम्हारे लिए जितनी ज़रूरी है, मुसलमानों के लिए भी उतनी ज़रूरी है। चलो। अभी तुम्हारी गाय लेकर आता हूँ।'

साहब के पास जाकर आप बोले—आपने मुझे क्यों याद किया?

'तुम्हारी गाय मेरे हाते में आई। मैं उसे गोली मार देता। हम अँग्रेज़ हैं।'

'साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्यों बुलाया? आप जो चाहे सो करते। या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते।'

'हाँ, हम अँग्रेज़ हैं, कलक्टर हैं। हमारे पास ताकत है। हम गोली मार सकता है।'

'आप अँग्रेज़ हैं। कलक्टर हैं। सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज़ है।'

'मैं आज छोड़ देता हूँ। आइन्दा आई तो हम गोली मार देगा।'

'आप गोली मार दीजिएगा। ठीक है; पर मुझे न याद कीजिएगा।' यह कहते हुए आप बाहर चले आये।

गोरखपुर : होली

गोरखपुर में जब स्कूल-मास्टर थे, तब की बात है। होली के दो रोज़ पहले ही से उन्हें उत्साह होता था। होली के एक दिन पहले ही से वे ख़ुद अबीर, रंग, मिठाई, भंग आदि ख़रीद लाते। होली के दिन सब लड़के आते और वे सब सामान लड़कों के सामने रख देते। वे लोग खाते-पीते। उसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों शरीक होते। खाने-पीने के बाद भङ्ग भी पिलाते। फिर गाना-बजाना बड़े धूम से होता। प्रत्येक त्योहार में उत्साह से भाग लेते थे। गाना आप ख़ुद गाते थे। कभी-कभी हम दोनों साथ-साथ गाते। मुझे उन्हीं से गाना सुनना पड़ता।

कलकत्ते में प्रेस लेने का इरादा

उन दिनों उनके भाई कलकत्ते में नौकर थे। वहाँ उन्होंने एक प्रेस लेना चाहा। प्रेस एक मारवाड़ी के साझे में लेना था। उन्होंने लिखा--नौ हज़ार में हम लोग खरीद रहे हैं। आप साढ़े चार हज़ार दीजिए।

जो कुछ मैंने बचाकर रखा था, उसे और प्रामेसरी नोट भुनाकर उन्हें देने के लिए तीन हज़ार इकट्ठा किये। डेढ़ हज़ार उन्होंने अपने चचेरे भाई से भी मांगे थे। उन्होंने इन्दौर से एक हज़ार भेज दिया। और ५००) बाद में भेजने का वादा किया।

एक रोज़ मैंने पूछा--रुपए देने का ढंग कैसा है? प्रेस किन शर्तों पर ठीक होगा?

बोले--शर्त क्या! अरे प्रेस रखेगा, जो कुछ मुनाफ़ा होगा, तुम्हें भी देगा।

मैं--इन शर्तों पर रुपया देना ठीक नहीं। हाँ, धुन्नू के नाम ख़रीदा जाय, वे काम करनेवाले रहें।

'नहीं, वह झल्ला उठेगा।'

'फिर ये रुपए आपके नहीं, आप अपने रुपए दीजिए। रुपए मेरी ही शर्त पर जायँगे।'

'खैर, मैं लिख दूँगा कि धुन्नू की मा इस शर्त पर रुपए देना चाहती है।'

इस खत का चौथे रोज़ जवाब आया कि मेरी यहाँ बड़ी हँसी हो रही है। क्या आप हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते? मेरे ही और कौन है, धुन्नू ही तो मेरे भी हैं। मेरे लिए बड़े अफ़सोस की बात है।

ख़त आने पर उसे उन्होंने मुझे सुना दिया और बोले--बड़ा गड़-बड़ हुआ।

मैं—कोई गड़बड़ नहीं। मेरी राय ठीक है। मैं किसी के हाथ में नहीं होना चाहती। कोई काम हो, अपनी जगह होना चाहिए। मैं बहुतों को देख चुकी हूँ। आप आँखें बन्द कर देखते हैं, मैं आँख खोलकर देखती हूँ।

'अच्छा बोलो इसका जवाब क्या लिखूँ?'

मैं--मेरी तरफ़ से लिखो कि जब तक कोई लड़का मेरे पास न था, तब तक तुम ही सब कुछ थे। यह लड़का तुम्हारा भी है तब नाम रहना क्या बुरा? तुम यहाँ ख़ुद आ जाओ, सब बातें साफ़-साफ़ हो जायँ। फिर सब तुम्हारे ही हाथ में तो होगा। उसका तो महज़ नाम रहेगा।

इस पर वे झल्लाये हुए चौथे दिन आये। कहने लगे—लोगों ने मेरा बहुत मज़ाक बनाया।

मैं—मज़ाक उड़ानेवाले बेवकूफ़ हैं। उन्हें समझ होनी चाहिए। फिर ये

तो बनिये हैं। बनिये के यहाँ तो बाप-बेटों में लिखा-पढ़ी होती है। इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं थी।

इसके बाद वे बोले—मैं इन शर्तों पर रुपया लेने में असमर्थ हूँ।

मैं--मैं भी मजबूर हूँ।

मैं—भाई साहब के भी रुपए भेज दीजिए।

'भेज दिया जायगा।'

'नहीं, भेज दीजिए। रखने की ज़रूरत ही क्या है ? कोई और काम तो है नहीं।'

इसके बाद वे चले गये।

गोरखपुर : अध्यापन कार्य

उन दिनों मँहगी का युग था। जिन दिनों उन्होंने नौकरी छोड़ी, उन दिनों सब मिलाकर मेरे पास २०००) थे। नौकरी छोड़ने के पहले कई रात उनको ठीक से नींद नहीं आई। खैर दो-तीन दिन के बाद जब नौकरी छोड़ने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा कि मेरी इच्छा नौकरी छोड़ने की है, इसमें तुम्हारी क्या राय है। मैं जवाब देती हुई बोली कि इस विषय पर विचार करने के लिए दो-तीन दिन का समय चाहिए।

'मैं तो ख़ुद ही चाहता हूँ कि पहले तुम अपना विचार ठीक कर लो।'

जो उलझन उनको थी वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई। मुझे भी बार-बार यही ख्याल होता कि आखिर बी० ए० की ख्वाहिश क्यों हुई, यही न कि आगे तरक्की की आशा। पहले तो यह ख्याल था कि यह कभी प्रोफेसर हो जायँगे, और जीवन के दिन आराम से कटेंगे, क्योंकि सेहत अच्छी न थी। और कहाँ यह प्रस्ताव कि जो कुछ भी मिलता है उसको भी छोड़कर महज़ हवा में उड़ा जाय। उस समय इनको कुल मिलाकर १७९)के करीब मिलता था। स्कूल की नौकरी होने की वजह से घर पर भी काम करने का समय मिल जाता था। मुझे भी इस बात की उलझन थी

कि आख़िर नौकरी छोड़कर करेंगे क्या ? एक लड़की और एक लड़का सामने था, और अभी बच्चे होने की उम्मीद थी। नौकरी छोड़ने के बाद सन् २१ में बन्नू पैदा हुआ । उधर मेरी इच्छा यह भी नहीं थी कि किसी की पैर की बेड़ी बनकर रहूँ और किसी को आगे बढ़ने से रोकूँ। यह नहीं थी कि रुपयों का मूल्य मेरी आँखों में कम था। एक तो अपनी ज़रूरतों को देखते हुए, खुद भी बहुत दिनों से बीमार, न घर न द्वार, इन सब बातों को सोचकर यही दिल में आता था कि इनको नौकरी छोड़ने से दो रोज़ का समय रोक दूँ। लिया था लेकिन ४-५ दिन में भी कोई निर्णय न कर सकी।

चार-पाँच दिन के बाद उन्होंने फिर पूछा कि बतलाओ तुमने क्या निर्णय किया। मैं बोली—एक दिन का समय और। उस दिन मैंने यह सोचा कि आख़िर जब यह इतने बीमार थे और बचने की कोई आशा न थी ; एक तरह शायद उन्होंने मुझे जवाब ही दे दिया था, यह कहकर कि यह ३०००) रुपए हैं और तीन तुम हो। मैंने सोचा कि यह अच्छे हो गये हैं तो नौकरी की कोई चिन्ता न होनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला होगा, तभी तो यह अच्छे हो गये हैं। मान लो जब यही न रहते तो मैं क्या करती, शायद इसी काम के लिए ईश्वर ने इन्हें अच्छा किया हो। फिर उन दिनों जलियानावाले बाग में जो भीषण नरहत्या-कांण्ड हुआ था, उसकी ज्वाला सभी के दिल में होना स्वाभाविक थी। वह शायद मेरे भी दिल में रही हो। दूसरे दिन अपने को उन सभी मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पाई जो नौकरी छोड़ने पर आनेवाली थीं। दूसरे दिन मैंने उनसे कहा—छोड़ दीजिए नौकरी को। २५ वर्ष की नौकरी छोड़ते हुए तकलीफ़ तो होती ही थी। मगर नहीं ! यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनको देखते तो यह शायद नहीं के बराबर थी। जब मैंने उनसे कहा कि छोड़ दीजिए नौकरी क्योंकि इन अत्याचारों को तो अब सबको मिलकर मिटाना होगा और यह सरकारी नीति अब सहन-शक्ति के बाहर है।

तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी में हँसकर बोले--दूसरों का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।

मैं बोली--मैंने सोच लिया है, जब तुम अच्छे हो गये हो तो मैं सोचती हूँ कि अब आगे भी मैं जङ्गल में मङ्गल कर सकूँगी और मेरा ख़्याल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला है।

आप बोले--सोच लो, फिर न कहना कि छोड़कर ख़ुद तकलीफ उठाई और मुझे तकलीफ दी। क्योंकि सर पर तकलीफ़ें आगे बहुत आने वाली हैं, मुमकिन है कि खाने को खाना भी न मिले।

मैं बोली--मैं इसके लिए सोच चुकी हूँ; मैं तो यह जानती हूँ कि सर पर जब बला आती है, तब सब कोई भुगत लेता है। फिर भुगतते तो हैं बड़े बड़े घर के लोग, अपनी तो बिसात ही क्या है।

तब वह बोले--यही निश्चय है?

मैं बोली--हाँ।

'तो मैं कल ही इस्तीफा देता हूँ; और कल ही यह सरकारी मकान भी आपको छोड़ना होगा। जाना कहाँ है, इसका भी कोई ठिकाना नहीं। उन्होंने कहा।

मैं बोली--गाँव चलना।

वह बोले--गाँव में ही तुम्हारे रहने के लिए मकान कहाँ है, क्योंवि जो पुराना घर है, उसमें चाची वग़ैरह का गुज़र होता होगा। उसमें तुम्हा लिए जगह कहाँ?

मैं बोली--तो घर उन्हीं का है?

वह बोले--जहाँ ज़मीन पाओगी, वहीं तो रहोगी कि दूसरे के मकान : चली जाओगी?

मैं बोली--मकान में जो जगह है, आधा वह लेंगे। आधा तो हमको देंगे

आप बोले--उसमें जगह ही कितनी है?

मैं क्रोध के साथ बोली--कुछ भी है। हमीं क्यों छोड़कर चले जायँ, व

क्यों न जायँ । जब उन्होंने हमारे आराम-तकलीफ़ का कोई ठेका नहीं लिया है, तो हमीं क्यों लें ।

'तो तुम इसके ऊपर यह कह सकती हो कि जब सरकारी नौकरियाँ और नहीं छोड़ रहे हैं तब मैं ही क्यों छोड़ूँ ?'

'यह एक पक्ष का काम नहीं है, यह तो देश भर की बात है'—मैं बोली—फिर इसमें त्याग, तपस्या और बलिदान है, यह अपनी मर्जी से मनुष्य कर सकता है ।

आप हँसकर बोले—जिसको तुम त्याग, तपस्या, बलिदान समझती हो, वह एक भी नहीं है । यह तो हम-तुम दोनों का अपने पापों का प्रायश्चित्त करना मात्र है ।

मैं बोली—तो हम लोगों ने पाप क्या किये हैं ।

वह बोले—तुमने नहीं किये तो तुम्हारे बुज़ुर्गों ने किये ! क्योंकि आराम के नशे में तो वही लोग डूबे थे । अपनी विलासिता के नशे में अन्धे होकर पड़े थे । तभी मुल्क में फूट भी पैदा हुई । और दोनों फरीकों को हटा करके तीसरा विजयी हुआ । मुमकिन है कि वह विलासिता में डूबनेवाले हमीं-तुम हों । और फिर से जन्म मिला हो । यह विकट पहेली कुछ समझ में भी नहीं आती । यह जो आज कल तुम्हारे ऊपर शासन कर रहे हैं, यह क्या विजयी हुए थे । इनके बड़े लोग विजयी हुए थे ।

मैं बोली—विजेता कभी गर्व से अन्धा भी हो सकता है ?

वह बोले—इस जगह तुम ग़लती पर हो । विजेता हमेशा गर्व से अन्धा रहता है । अगर विजेता गर्व से अन्धा न हो तो उसे मनुष्य न कहना चाहिए, बल्कि देवता । अगर देवता नहीं है तो यह कहता हूँ कि तुम्हारे भाई-बन्द क्या कम अन्धे हैं, जो कि विजेता भी नहीं हैं । यहाँ जो हिन्दुस्तानी हाकिम आता है, वह अँग्रेज़ों की अपेक्षा कहीं कड़ा शासन करता है । और उसी से देख देखकर हमारे देश के नवयुवकों की वृत्ति भी उसी तरह की होती जा रही है । मुझे इस स्थान पर रहीम का दोहा बहुत उपयुक्त मालूम हो रहा है—

"प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय" मै तो कहता हूँ कि बहुत दिन लग जायँगे हिन्दुस्तानियों की अपनी मनोवृत्ति बदलने में। क्योंकि इधर वे कोई ५०० वर्ष से गुलामी में रह चुके हैं, तुम क्या समझती हो कि उनकी आत्मा १०-२० साल में सुधर जायगी। स्वराज्य मिलने पर भी मैं कहता हूँ कि इसमें काफी दिन लगेंगे।

मैं बोली--फिर घर चलना ही होगा। आखिर चलेंगे कहाँ?

आप बोले—मेरा तो विचार है कि यहीं (गोरखपुर में) कुछ काम कर लूँ। कुछ नहीं तो कोई पचास-साठ रुपये तो दे ही देगा। यहीं दस-पाँच रुपए का मकान लेकर पड़े रहें। मेरा विचार है कि एक चरखा संघ खोलें, इसके लिए पोद्दार तैयार भी हैं।

मैं बोली--जब सरकारी नौकरी छोड़ दी, तब यहाँ रहने की कोई वजह नहीं मालूम होती और आबहवा भी यहाँ की तुम्हारे माफ़िक नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि अब यहाँ पर क्यों रहा जाय। अभी तक तो सरकारी नौकरी का लोभ था।

आप बोले—यहाँ तो कुछ काम भी होगा भाई और बनारस चलकर बैठने से क्या होगा, यह मेरी समझ में नहीं आया। क्योंकि यहाँ और कुछ नहीं है तो पोद्दार मेरा मददगार है ही। बनारस में तुम्हारा कौन मददगार बैठा है?

मैंने कहा—और कुछ नहीं तो घर के लोग तो हैं ही।

तब वह बोले—जिनको तुम अब तक अपना समझती थी, वह अपने लिए थे, वह तुम्हारे लिए नहीं। जब तुम्हारे पास पैसा नहीं है तो तुम्हारा कोई साथ क्यों देने लगा। तुम्हें मालूम हुआ है कि अभी अपनी बीमारी में मैं चाची को रोकना चाहता था कि वह रहें मगर वह रहीं? उनका लड़का नौकर है ही, उसकी शादी हो ही गई है। अब उसको क्या पड़ी है जो मेरा साथ दे। अब तो वह यही समझेंगे कि शायद मुझसे कुछ मदद चाहते हैं। जब से वह मेरी उस हालत पर मुझे छोड़कर गये, एक बार भी कम से कम

खने को नहीं आये ? दो बार तुम्हारे भाई मुझे बुलाने भी आये और वा कराने के लिए भी।

मैं बोली—कौन तुम्हीं उनके पास दवा करने को गये।

'ख़ैर मैं जाऊँ या नहीं, उनका कर्तव्य तो अदा हो गया।'

'इसके माने यह होते हैं कि अब वह मेरे हितैषी हैं, और जिनको मैं अपना समझता था, अब वह नहीं रह गये। इसलिए वहाँ जाने में तुमको क्या आनन्द मिलेगा, मेरी समझ में नहीं आता।

मैं बोली—आख़िर घर तो चलना ही है। मैं कब उनकी रोटियों पर गुज़र करनेवाली हूँ। अगर मुझमें कष्ट सहने की शक्ति न होती तो मैं क्यों इस्तीफ़ा देने के लिए आपको तैयार करती। मैं अपने घर तो जा ही सकती हूँ कि अब उनके लिए पूरा बनारस छोड़ दिया जायगा ?

'तो वहाँ जाने से फ़ायदा ही क्या ? आपस में द्वेष ही तो बढ़ेगा,' वह बोले।

'मैं इस द्वेष से डरती कब हूँ और इस तरह से डरकर गृहस्थी में कोई रह नहीं सकता। यह तो एक संन्यासी ही कर सकता है। घर-बारवाला नहीं।'

'अच्छा साहब, जैसी तुम्हारी इच्छा हो।'

'हाँ, मेरी तो इच्छा यही है। मैंने जीवन में कभी डरना नहीं सीखा,' मैंने कहा—अपने से मैं किसी को छेड़ूँगी नहीं, मगर जो मुझ को छेड़ेगा, उससे डरकर कहीं भागूँगी भी नहीं।

नौकरी छोड़ने के दो महीने बाद हम घर आये और उसके बाद का हाल मैं पहले ही दे चुकी हूँ।

इस्तीफ़ा

सन् बीस की बात है। असहयोग का ज़माना था। गाँधीजी गोरखपुर में आये। आप बीमार थे, फिर भी मैं, दोनों लड़के, बाबूजी, मीटिंग में गये। महात्माजी का भाषण सुनकर' हम दोनों बहुत प्रभावित हुए। हाँ, बीमारी

की हालत थी। विवशता थी। मगर तभी से सरकारी नौकरी के प्रति एक तरह की उदासीनता पैदा हुई।

इसके दो साल पहले ही आप बी०ए० पास कर चुके थे। एम०ए० पढ़ने की तैयारी में भी लग गये थे। फ़ीस भी दाख़िल कर चुके थे। बीमार तो थे ही, दवा किसी की करते न थे। बीमारी की हालत में वे मुझे अपने पास से हटने न देते थे। दवा भी नहीं करते थे।

एक दिन झुँझलाकर मैं बोली—इसका निर्णय आज अवश्य करना होगा कि दवा कीजिएगा या नहीं ?

आप बोले—दवा से कुछ न होगा।

मैं—महज़ इसका जवाब दीजिए कि दवा कराइएगा या नहीं ?

'भाई, दवा करने से क्या होगा, जवाब तो उसका उल्टा ही होगा।'

मैं—फिर आप वही कहते चले जा रहे हैं। मुझे आख़िरी निर्णय बताइए।

'आख़िर करोगी क्या ?'

मैं—यह करूँगी कि ।) आने की संखिया मँगाकर, खाकर सो जाऊँगी। न रहूँगी, न तकलीफ़ देखूँगी। अभी दो ही महीने हुए मेरा एक लड़का मर गया, अब आप बीमार पड़े हैं। घर-गृहस्थी देखूँ, दोनों बच्चों को देखूँ। आपकी बीमारी की यह हालत। अब मुझमें ज़्यादा ताक़त नहीं।

'अच्छा दवा करूँगा। नहीं ही मानती हो जब। मगर दवा से कुछ लाभ नहीं होगा। हाँ, तुम कह रही हो, करूँगा।

मैं—दवा करना हमारा काम है। लाभ-हानि होना ईश्वर के अधीन है। कब से कीजिएगा, कल से न ?

'हाँ, कल ही से करूँगा।'

मैं—हाँ, कल ही से शुरू कीजिएगा। कल होते देर नहीं लगती।

ऐसा कहने पर उन्हें स्वाभाविक हँसी आ गई। मैंने कहा—हँसने से काम न चलेगा। जो कह रही हूँ, करना पड़ेगा।

'नहीं, देखना, कल से ज़रूर करूँगा। दवा न करूँगा तो रहूँगा कहाँ ?'

'हाँ, ठीक सुबह !'

सुबह हाथ-मुँह धोकर धीरे-धीरे वैद्य के यहाँ गये। वहाँ से दवा और बेल के पत्ते लाये।

मैंने तैयार करके दवा उनके सामने रखी।

आठ दिन तक घड़ों पानी पाख़ाने के रास्ते से निकला।

दिन भर जब काफ़ी दस्त आये, तब मैं बोली—अब आप तुरन्त वैद्य के यहाँ जाइए।

वैद्य ने कहा—ठीक है। पेट का सारा पानी निकल रहा है। घबड़ाने की क्या बात है? एक भस्म मैं और दे रहा हूँ, उससे आपके बदन में गर्मी भी रहेगी। कमज़ोरी भी न रहेगी।

पानी आठ दिन तक पेट से निकलता रहा। फिर दुबारा उसने दवा दी। उबली हुई तरकारी, बिना छना हुआ हाथ का पिसा आटा खाने को बताया। ख़ैर, इस तरह मैंने उन्हें किसी तरह से अच्छा किया।

एक दिन की बात है, मुझसे बोले—तुम राय देतीं तो मैं सरकारी नौकरी छोड़ देता।

मैं—क्या ही अच्छा हो!

'खर्च कैसे चलेगा?'

मैं—कम में भी ख़र्च चल जाता है, ज़्यादा में भी चलता है। यह तो अपनी-अपनी ज़रूरतें हैं। इसके लिए इन्सान कब तक बँधा रहेगा। मैं तो इसी पर ख़ुश हूँ कि आप स्वस्थ हुए।

'आज ही इस्तीफ़ा देने जा रहा हूँ। कई आदमियों ने मुझसे पहले भी कहा था, मगर मैं सोचता था शायद तुम्हें तकलीफ़ हो।'

मैं—इससे भला कैसी तकलीफ़ होती। इसमें मुझे सुख मालूम हो रहा है।

उसी दिन इस्तीफ़ा लिखकर हेडमास्टर को दिया। हेडमास्टर देखकर घबरा गया और बोला—आपको क्या हो गया है? १२५) आप पा रहे हैं

और बीमारी से उठे कि यह सनक ! उन्होंने मज़ाक में कहा—पहले अपनी देवीजी से पूछ आइए।

'मेरी देवीजी ने मुझसे ख़ुद कहा। वे मुझसे भी आगे हैं। उनकी तो और राय है।'

हेडमास्टर—नहीं मैं आज इसे नहीं भेज सकता।

आप बोले—मैं कल से काम पर नहीं आऊँगा।

इसी तरह आठ दिन बीते। इस्तीफ़ा वहीं पड़ा रहा। नवें रोज़ हेडमास्टर ख़ुद घर पर आये और बोले—यह क्या तुम्हें सूझता है। मैंने तो इस्तीफ़ा नहीं भेजा। अभी तो आप बीमारी से उठे हैं और इतनी जल्दी इस्तीफ़ा दे दिया। मैं तो ऐसा नहीं चाहता।

'मेरी आत्मा नहीं चाह रही है, हेडमास्टर साहब, मैं ऐसा करने को विवश हूँ।'

उसी के एक साल पहले उन्हें स्कूल के बोर्डिंग का सुपरिन्टेण्डेंट भी होना पड़ा था। २५) उसके अलग से मिलते थे।

बोर्डिंग के छः महीने के पैसे उन्हें पहले ही मिल चुके थे। बहन उस समय हमारे पास ही थी। उसके पास रुपए रखकर बोले—ये तुम्हारे रुपए हैं। तुम्हारे आने पर ही तो मिले। ईश्वर भी क्या है, जब ख़र्च देखता है तो आमदनी भी बढ़ा देता है।

बहन बोलीं—ईश्वर न्यायी तो हई है। वह सभी की ख़बर रखता है।

'भाई, यही तो मैं ख़ुद कहता हूँ। लो ख़र्च करो।'

बहन उनके हाथ से रुपए लेकर घर के रुपयों में रख आई।

मैंने सन्दूक खोला तो वे रुपये भी उनमें थे।

मैं—क्यों ये रुपये तो आपको मिले थे। मेरी सन्दूक में कैसे पहुँच गये ?

'मैं और वे क्या दो हैं ?'

मैंने कहा—यह तो बड़ी अच्छी बात है। रुपए मेरी सन्दूक़ में पड़े रहें।

वह बोलीं—रखे रहें तब न ? देखती हूँ रोज़ाना खर्च हो जाते हैं।

वे अपनी बहन से बराबर गप-शप करते रहते थे। वे आठ महीने तक रहीं।

वे हमारे सुख के दिन थे।

१९२० की फ़रवरी

गोरखपुर की नौकरी छोड़ने के बाद आप महावीरप्रसाद पोद्दार के निवास-स्थान मानीराम गये। वहाँ से 'चाची' के पिता को नौकरी के छोड़ने का सारा क़िस्सा बताया एक चिट्ठी में। उनके नाना ने लिखा, नौकरी छोड़कर बुरा किया, ख़ैर, तुम्हारी इच्छा। अपने बाल-बच्चों को मेरे पास छोड़ जाओ और अपने लिये कोई काम ढूँढ़ो। अभी से काम छोड़ने के बाद क्या करोगे।

आप उस चिट्ठी को लिए मेरे पास आये। हँसकर बोले—ये पुराने खुर्राट समझते हैं कि सारी लियाक़त हमीं ने पाई है। लिखते हैं बाल-बच्चों को मेरे पास पहुँचाकर अपने लिए काम ढूँढ़ो।

उनका ख़त पढ़कर मुझे भी बुरा लगा। मैं बोली—इतने सारे बच्चे हैं भी तो। दाने-दाने को मर न जायेंगे।

आप बोले—नौकरी छोड़ते हुए सब मैंने समझ लिया है। फिर ये लोग मुझे पाठ सिखाते हैं, जिन्होंने अपनी सारी ज़िन्दगी बेकारी ही में बिता दी।

मैं बोली—अब ये इलाक़ेदार हुए हैं। तुम्हारी परवरिश के लिए तड़प रहे हैं।

आप बोले—अगर वे अपनी परवरिश कर लें तो समझो मेरी परवरिश हुई। मैं पन्द्रहवें साल से ही बोझ उठाने का आदी हो गया हूँ, अब तो ईश्वर की दया से अपना ही बोझ है। उस वक्त की समझो। तीन-तीन परिवारों की ज़िम्मेदारी मुझ पर थी। उस समय ये अपना बोझ तक न उठा सके।

मैं बोली—ज़रूर उठायेंगे जब कह रहे हैं।

आप बोले—शायद वे घबरा रहे हैं। शायद मैं उनके नाती पर अपना बोझ न डाल दूँ।

मैं बोली—उनका यह सोचना ग़लत थोड़े ही है।

आप बोले—तुम भी क्या बच्चों की-सी बातें कर रही हो। जो आदमी दूसरों का बोझ ले सकता है, वह अपने बाल-बच्चों का बोझ किसी के सिर डाल नहीं सकता। ख़ुदा न ख़ास्ता अगर ऐसी नौबत आ जाय तो उसे चाहिए कि अपने बच्चों को ज़हर देकर मार डाले।

मैं बोली—वे घबरा उठे हैं जैसे।

आप बोले—वे लोग जीवन भर बेहयाई सहते रहे हैं। उनके अन्दर स्वाभिमान कभी था ही नहीं। फिर मैंने नौकरी छोड़ी है अपने कलम के बल पर। मैंने किसी के आसरे काम किया ही नहीं, मैं हमेशा अपने बाज़ुओं पर भरोसा रखता हूँ। जिन लोगों को मैं समझ चुका हूँ, उनसे तो ख़ैर क्या उम्मीद करूँगा ?

मैं बोली—तो फिर हर्ज ही क्या है ?

आप बोले—तुम उनके यहाँ रह सकती हो।

मैं बोली—मैं जब उन्हें अपने यहाँ रख चुकी हूँ तो उन्हें मुझको अपने यहाँ रखने में क्या इतराज़ ?

आप बोले--तुम सरासर झूठ बोल रही हो। क्या सचमुच तुम रह सकती हो ?

'आप भी क्या कहते हैं जब मुझे औरों के यहाँ ही रहना पड़ता तो मैं नौकरी ही क्यों छोड़वाती ?' मैं बोली।

आप बोले--वही तो मैं भी कहता हूँ।

मैं बोली--मैंने यों ही कहा।

आप बोले--ये लोग बड़े संकीर्ण विचार के हैं। ये हमेशा किसी न किसी के सिर का बोझ बनकर रहे हैं।

महावीरप्रसाद पोद्दार

इस्तीफ़ा देने के बाद महावीरप्रसाद पोद्दार अपने गाँव में लिवा ले गये। अपनी बीवी को भी लिवा ले गये, जिससे तबियत घबराये न। ऐसा

मालूम होता था कि पोद्दारजी, हम सब एक ही हैं। पोद्दारजी ने हमारी काफ़ी सेवा की ; उन्हीं की सेवा की वजह वे जल्दी तन्दुरुस्त हुए। १३ मील शहर रोजाना पोद्दारजी जाते थे। बाबूजी दरवाज़े पर बैठे-बैठे चर्खे बनवाते और लिखते-पढ़ते।

दो महीना रहने के बाद तै हुआ कि पोद्दारजी के साझे में शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय। और एक मकान वहाँ लिया गया। उसी जगह दस चर्खे लगाये गये। चर्खा चलानेवाली कुछ औरतें भी थीं। देहात से बनकर चर्खे आते थे, वे बेचे भी जाते थे। शाम के वक्त पोद्दारजी और बाबूजी तथा और कुछ मित्रगण बैठकर गपशप करते।

एक दिन की बात है। रात को खाना खाकर आप जैसे उठे, वैसे ही लाल बादल हुए। मुझसे बोले--तुम लोग भी जल्दी खा लो। मालूम होता है, आँधी जल्दी आयेगी। जैसे ही थाली परोसकर रखा, वैसे ही आँधी-पानी दोनों आये। मैं तो भागकर बच्चों के कमरे में पहुँची, वहीं आप भी पहुँचे। उसी वक़्त पत्थर गिरना शुरू हुए। पत्थर पड़ते समय मैं बराण्डे में पहुँची और उनकी मेज़ पर जो काग़ज़ लिखे हुए पड़े थे, उन्हें समेटकर उनकी चारपाई पर पटक दिया। तब तक पत्थर अन्दर भी खपड़ा तोड़कर आने लगा। तब आप घबराकर बोले--देखो रानी, बच्चों का सिर फूटा। हम जल्दी में बच्चों के ऊपर एक लिहाफ़ तानकर दोनों तरफ़ खड़े हो गये। बच्चों के सिर बचने की उम्मीद तो थी ; पर अपने कैसे बचाते। हम दोनों के सिर पर पत्थर लगे। वे बोले—अब अपने सिर कैसे बचाये जायँगे।

मैंने बच्चों को एक तख़्ते के नीचे डाल दिया। मैंने उनसे कहा, आप भी जल्दी चले जाइए।

'तुम भी इसी के नीचे आओ।'

'नौकर, तू भी चल भीतर।'

हम पाँचों उस तख्त के नीचे पेट के बल लेटे पड़े थे। बिछावन-ओढ़न सब भीग गये थे।

आप बोले—तुम्हें मौक़े पर बात सूझ जाती है; लेकिन मुझे नहीं सूझती, क्या बात है? अगर आज न होतीं तो दो-एक का सिर अवश्य फूट गया होता।

मैं—कहाँ मैं जाती!

बच्चों को सुलाकर हम बाहर पत्थर देखने आये। देखते हैं तो कमर के बराबर पत्थर लगा हुआ है। मेज़ पर काग़ज़ न देखकर बोले—मेरे काग़ज़ भी उड़-पड़ गये।

मैं—नहीं चारपाई के नीचे सब पड़े हैं। मैंने उन्हें रख दिया था।

'क्या तुम्हारे बदन में बिजली है? देखते-देखते सारा काम कर डाला।'

मैं—तुमसे उमर में भी कम हूँ, जवान हूँ। क्यों न जल्दी कर डालूँ?

'ठीक है, दो में कोई तो भला ऐसा रहे।'

मैं—नहीं, मैं ऐसा अच्छा रहने से दर गुज़री। देखनेवालों को भी भद्दा लगे।

'तुम ख़ुद अपने लिए ही होतीं तो भद्दा लगता। यह सब तो मेरे लिए करती हो। तुम ऐसी न होतीं तो मैं ज़िन्दा भी न रह सकता।'

धुन्नू ने लेख फाड़ डाला

एक बार की बात है, धुन्नू छोटा था। आप एक लेख लिखकर मेज़ पर रख आये थे। धुन्नू ने जाकर उस लेख को फाड़ डाला। कलम-दवात लेकर, दूसरे काग़ज़ पर वह कुछ ख़ुद लिखने लगा। जब आपने कमरे के अन्दर जाकर यह हरकत देखी तो क्रोध में आकर एक चपत लगायी और डाँटा—भगो यहाँ से। नहीं तो और भी पीटूँगा।

धुन्नू की चीख़ मेरे कानों में पड़ी। मैंने उनकी बहन से कहा—जीजी, ज़रा देखिए तो, क्या धुन्नू पर मार पड़ रही है। वहाँ दौड़ी हुई गईं। बच्चे को गोद में उठाकर बोलीं—क्यों बच्चे को मार दिया?

'तुम देखो तो। मेरा लेख इसने फाड़ डाला। आज इसे मैं भेजनेवाला

था। दुष्ट ने इसे फाड़ डाला। अब क्या अपना सिर भेजूँ ?'

'बच्चा ही तो है। समझकर थोड़े ही किया। तुम भी तो कम शैतान न थे।'

'मैं लेख थोड़े ही फाड़ता था।'

'तब लेख लिखता ही कौन था ? रामू के कान तो तुम्हीं ने काटे थे। वह लेख कान से भी मँहगा था ?'

आप चुप।

बहन (बड़बड़ाती हुई)—नासमझ बच्चे पर इतनी मार !

जीजी उसे गोद में लेकर अन्दर आईं, बोलीं—इन्हें क्रोध बहुत आने लगा है।

फिर मैं उनसे बनारस आने को कहने लगी। बोले—वहाँ जाकर क्या करोगी ?

'यहीं रहने से क्या होगा ? वहाँ पर बैठिए और अपना काम कीजिए।'

'मैं काम तो यहाँ भी करता ही हूँ।'

'फिर भी यहाँ रहना ठीक नहीं। वहाँ की आब-हवा भी आपके अनुकूल पड़ेगी।'

'अच्छा है दो-तीन रोज़ में चला जाय।'

उसके बाद हम लोग लमही आये।

लमही ; कानपुर

लमही (बनारस) आने के बाद वे ४०) प्रतिमास पर दो लेख या दो कहानी नियम से लिखते थे। लिखते तो और जगह के लिए भी थे ; पर यह मुस्तकिल था।

सुबह उठना, पाखाना जाना, फिर हाथ-मुँह धोकर कुछ नाश्ता करना। फिर अपने रोज़ के काम पर लग जाना। फिर बारह बजे काम से उठकर नहाना-खाना। उसके बाद एक घण्टे आराम करते। फिर उसी तपते हुए

मकान के नीचे दो बजे से लिखने-पढ़ने में लग जाते, फिर कुछ नाश्ता करके बच्चों को लेते और दरवाज़े पर बैठकर गाँववालों से बात करते।

एक दिन चर्खा बनवाने के लिए एक ज़मींदार साहब के पास लकड़ी माँगने गये। बोले—मुझे आप लकड़ी दीजिए। मैं उनकी बनवाई दूँ, और चर्खे देहात में बाँटे जायँ। जिससे ग़रीब भाइयों में चर्खे का प्रचार बढ़े।

जमींदार को यह बात प्रिय लगी। और वे देने पर राज़ी हुए।

गाँव भर के आदमियों को इकट्ठा करके अपने साथ लकड़ी लदवा लाये। एक माह तक दो बढ़ई दरवाज़े पर चर्खे बनाते रहे। उसके बाद सब लोगों को एक-एक चर्खा मुफ़्त बाँटा गया। चर्खे के लिए स्नेई किस तरह की हो, किस तरह वे चलाये जायँ, कैसा सूत हो इन सब बातों की जानकारी वे लोगों को कराने लगे। इसी तरह दो महीने बीते।

एक दिन की बात है। वे जब खाना खाने बैठते तो मैं तत्काल अपने हाथों उन्हें गरम-गरम रोटियाँ पकाकर देती थी। जब आप खाना खाने बैठे तो घी नदारद! मुझसे पूछा—क्या दाल में घी नहीं पड़ा?

मैं—घर में हो तब न।

उसी समय उन्होंने अपनी चाची को बुलाया। और पूछा—घी क्यों नहीं रहा?

चाची—एक दिन बिना घी के नहीं खा सकते?

'कभी घी, कभी तरकारी, कभी दाल इस तरह तो एक-न-एक चलता ही रहेगा। आख़िर है क्यों नहीं?'

'नहीं रहा।'

उसी समय झल्लाकर थाली पर से उठ गये।

सबों ने खाना खाया। मैं तो दुबारा चौके ही में न जा सकी। मुझे यह चिन्ता परेशान करने लगी कि आख़िर और ये क्या खायेंगे। क्या वैसे ही रहेंगे। मैंने तुरन्त आठ आने का घी गाँव में से मँगवाया और मूँग की दाल धूप में बैठकर मैंने ख़ुद पीसी। मुँगौड़े और हलुआ बनाया। जब तैयार हो

गया तो उनके पास डरते-डरते ले गई। बोले—इस समय कुछ न खाऊँगा। मैंने कहा—बड़ी मेहनत से अभी मैंने तैयार किया और मैंने भी अभी तक कुछ नहीं खाया है।

मेरी यह धमकी सफल हुई और उन्हें खाना पड़ा। तब से मैं बराबर सामान मँगवाकर रखने लगी। आप बोले—अब यहाँ ज़्यादा रहना अच्छा नहीं।

उसके दूसरे दिन मेरे पिता के मरने की ख़बर आई। दो ही तीन दिन बाद मुझे लेकर वे इलाहाबाद गये। वहाँ सात-आठ रोज़ रहे। उसके बाद आप कानपूर चले गये। वहाँ मारवाड़ी विद्यालय में हेड-मास्टरी ख़ाली थी। उसके मैनेजर श्री काशीनाथ थे। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के मित्रों में थे। उन्होंने यह तै किया कि इस काम को आप स्वीकार कीजिए। आपके आने से रंग आ जायगा। आपने उसे कबूल किया। यह जून, १९२१ की बात है। तै हुआ कि जुलाई से आप काम पर आ जायँगे। इसके बाद आप इलाहाबाद आ गये। मुझसे बोले—मैं अपने लिए जगह ठीक कर आया। आओ, हम-तुम बनारस एक बार फिर हो आयें।

फिर एक महीने तक उसी तरह चलता रहा।

पाँचवीं जुलाई को हम कानपूर आने की तैयारी में लगे। उन दिनों बन्नू पेट में था। चाची बोलीं—इन्हें छोड़ जाओ।

आप बोले—इन्हें मैं न छोड़ूँगा। इनकी तबियत अच्छी नहीं। क्या मालूम क्या हो जाय। मुझे तो जीवन भर पछताना पड़ेगा।

चाची—होनी को तुम रोक लोगे?

'मेरे सामने होने से मुझे पछतावा तो न रहेगा।'

चाची—तब तुम मुझे बुलाओगे। मुझे आना पड़ेगा।

'यह तो आपकी मर्जी पर है।'

हम पाँचवीं तारीख़ को दोनों बच्चों को लिये कानपूर पहुँचे। कानपूर जाने के बाद मेरी तबियत फ़िर ख़राब हुई। जो महरी हम रखते, एक दिन

आती, दो-चार दिन गायब रहती। मुझे दस्त हो रहे थे। कमज़ोरी बेहद थी। खाना हज़्म न होता था। साबूदाना पानी से उबालकर खाती थी। कभी-कभी तो वे खाना पकाते ही, बर्तन भी अपने हाथों साफ़ करते। एक दिन मुझे रात भर दस्त आये। रात को कोई ४ बजे के करीब कमज़ोरी के कारण मैं गिर पड़ी। आप दौड़े आये। देखा तो मेरी यह हालत थी। मुझे उठाकर चारपाई पर रखा। मैं बेहोश थी। जब मुझे होश हुआ तो आँखों में आँसू भरकर बोले—तुम्हारी जब यह हालत थी, तो मुझे क्यों न जगाया ?

मैं—आपको क्यों तकलीफ़ देती ?

'तो तुम मर जाने पर अपनी लाश ही दिखाना चाहती थीं।'

मैं—मरने का क्या अन्देशा था। कमज़ोरी थी, गिर पड़ी।

'मरना कैसे होता है ? बेहोश तो थीं ही तुम।'

मैं—कभी मरी तो नहीं हूँ कि मरना बताऊँ।

'तुम्हें हर समय मज़ाक ही सूझता है।'

मैं—अरे अब तो अच्छी हूँ।

उसी के डेढ़ महीने बाद बन्नू पैदा हुआ। उनकी चाची आईं तो मेरे पास ज़रूर ; पर बन्नू के पैदा होने के बीस दिन बाद वापस चली गईं।

कानपुर

एक दिन एक महाशय मेरे यहाँ आये और बोले कि रेल में मेरा कोट कोई चुरा ले गया, उसी में रुपए भी थे। मैं अपनी बीवी और बच्चे को लेने ससुराल जा रहा था। मुझे कुछ रुपए चाहिए। नहीं तो मैं जा नहीं सकता। दो रोज़ तक वे रहे। मुझसे आप बोले—इनको १५) चाहिए। दे दो।

मैं—रुपए कहाँ हैं ? फीस ही के तो रुपए हैं। आप बोले—किसी तरह भी सही। दो तो। मेरा बड़ा नुकसान हो रहा है।

मैं—अगर वक्त पर रुपए न आये।

'पहले उसे दो। पीछे समझ लेंगे।'

मैंने उन्हें १५) दिये। वे लेकर बिदा हुए।

पाँच-छः रोज़ के बाद फिर वे अपने बीवी-बच्चों को लेकर पहुँचे, फिर तीन रोज़ रहे। उनसे दुबारा २०) माँगे। वे मेरे पास डरते हुए आये। बोले कि वे २०) फिर माँग रहे हैं। मैं क्या करूँ।

मैं—मुझे तो तुमने परेशान कर डाला। इतने रुपए कहाँ हैं ? दूसरे के रुपए अगर समय पर न आये तो ! मेरे पास रुपए नहीं हैं।

'रुपए नहीं हैं तो इतने आदमियों को खिलाओ। या जवाब दो।'

'जवाब तो आप ही को दे देना चाहिए था।'

आप बोले—न दोगी तो पलेंगे नहीं। चार-चार आदमियों को पकाकर खिलाना भी मुश्किल पड़ जायगा। कह रहे हैं कि फौरन रुपए भेज दूँगा।

मैंने फिर १५) दिये। उसने चार-पाँच दिन में देने का वादा किया था। जब वादे की तारीख़ ख़तम हुई तो मैंने पूछा—रुपए आये। तब आप बोले—रुपए तो नहीं आये। ख़ैर, जब फ़ीस देनी हुई, तो मैंने घर से रुपए मिलाकर पूरे किये।

१५-२० दिनों के बाद एक दिन मैंने कहा—आप एक ख़त तो भेज दीजिए। तो आप बोले—बिना तुम्हारे कहे मैंने दो ख़त भेजे।

मैं—अब आज प्रतिज्ञा कर लीजिए कि उधार की नीयत से किसी को न दूँगा।

'तुम जैसा कहो, वैसा ही करूँ। जो माँगने आयेगा, उसे देना तो पड़ेगा ही।'

मैं—तुमको उलझन नहीं होती। तुम तो समझते हो सन्दूक़ में १) रखने से १०) हो जाते हैं।

'तुम भी तो चुपके से निकालकर दे देती हो। रहते नहीं तो कैसे देती हो ? पहले ही की तरह थोड़े ही है। जब फीस के रुपए न दाख़िल होते तो मैं जानता कि रुपए नहीं हैं।'

मैं—कम से कम मेरी परेशानी तो महसूस किया करो।

'अरे भाई, क्या करूँ ? तुम अपनी तबीयत को दोष क्यों नहीं देतीं। लोग रुपए रखे रहते हैं, लेकिन देते नहीं।

'मुझे तुम्हारे ऊपर दया आ जाती है। इसी से मजबूर हो जाती हूँ। सब तो तुम्हें भाड़े का आदमी समझते ही हैं। मैं भी क्यों समझूँ ?'

'ख़ैर, हम लोग शायद इसी के लिए पैदा हुए हों।'

मैं ख़ामोश हो गई। तब से उधार की नीयत से मैंने किसी को रुपए नहीं दिये।

इसी तरह की एक और घटना है—एक बार ग्वालियर से एक ख़त आया। मैं लखनऊ में थी। उसमें लिखा था कि १००) आप भेज दें तो मुझे १००) महीने की एक नौकरी मिल जाय। मुझे ज़मानत देनी है।

उन्होंने मुझे वह ख़त पढ़कर सुना दिया। और बोले—१००) वे माँग रहे हैं। उन्हें १००) की जगह मिल रही है।

मैं—तो फिर नौकरी करें, रुपए क्यों माँग रहे हैं।

'उसको जमानत जो देनी है।'

ख़ैर, उसके ऊपर मुझे भी दया आई। मैंने सोचा १००) देने पर जब एक आदमी को १००) की जगह मिलती है तो क्या हरज है ?

आप बोले—नहीं वह दो महीने में ५०) करके दे देगा।

मैं—देने-लेने की इच्छा मत करो। उसे दे दो। उसका भला हो जाय। उसका जीवन शायद सुधर जाय।

'ख़ैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।'

दूसरे दिन बैंक से १००) मैंने मँगवाये। और उनको भिजवा दिये। आपने पत्र में लिख दिया कि ये रुपए मैं नहीं, शिवरानी भेज रही हैं। चौथे रोज़ उनका पत्र आया। लिखा था कि ख़ुशी है। अब मुझे वह जगह मिल जायगी।

तब से एक महीने तक बराबर उनके ख़त आते रहे।

उसके बाद वे स्वयं आये। मेरे घर ठहरे। बोले—मैं छुट्टी लेकर केवल

आप लोगों के दर्शन के लिए आया। मेरी मा पहले ही मर चुकी थीं। मेरे पिता ने दूसरी शादी कर ली। मुझसे उन्हें बड़ी नफ़रत है। अब मैं इसी को अपना घर समझ रहा हूँ।

दो-तीन दिन के बाद मैं बोली—इन्हें आप किसी होटल में ठहरा दीजिए।

आप बोले—मैं भी यही ठीक समझता हूँ।

एक होटल में वे बारह रोज़ तक ठहरे रहे। उन दिनों 'हंस' निकालने की चर्चा हो रही थी। उन महाशय को लिखने-पढ़ने का शौक था। फिर वे बारह-तेरह रोज़ के बाद चले गये। उसके बाद मई महीने में हम लोग घर आये। जून में बेटी कमला की शादी थी। उस अवसर पर वे मेरे घर पर आये और लगभग पन्द्रह दिन तक बराबर रहे। जब वे जाने लगे तो फिर उन्होंने ४०) माँगे, दिये गये, यह बात मुझे नहीं मालूम। वे गये। उसी के बाद जुलाई में आप भी लखनऊ गये। वहाँ उस समय मैं नहीं गयी। वे धुन्नू को अपने साथ लेते गये।

उसके बाद उसने पटने में अपनी शादी तै की। आपको ख़बर दी। आपने उसकी बीवी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियाँ, गले की जंजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियाँ ख़रीदकर उसे दीं और १००) उसे नगद बारात के ख़र्च के लिए दिये और खुद पटने तक गये भी।

वह अपनी बीवी ब्याह कर लखनऊ लाया। तीन रोज़ के बाद उसे ढूँढ़ती हुई पुलीस पहुँची। यह फ़रार आदमी था। तब उससे आप बोले—तुम यहाँ नहीं रह सकते। वह अपनी बीवी लेकर चला गया। जब मैं अगस्त के महीने में पहुँची तो उन्होंने बताया कि उसकी शादी हुई है। यहाँ से कपड़े ले गया है, रुपए ले गया है।

एक दिन सुनार तक़ाज़ा करने आया। मैं उनके पास बैठी थी। सुनार ने कहा—रुपए चाहिए। उसी सोनार से अपनी लड़की के लिए भी मैंने ज़ेवर बनवाये थे।

मैं बोली—तुम्हारे रुपए तो पूरे दे दिये गये थे।

सुनार—वह रुपए नहीं। बाबूजी ने एक बंगाली सज्जन को और गहने दिलवाये हैं।

'बंगाली के यहाँ से रुपए आयेंगे तो मिलेंगे।'

आप बोले—हाँ, उसका पत्र आया था। जैसे ही रुपए आये, मैं दूँगा।

सुनार चला गया। उसके बाद मैंने उनसे पूछा कि जब उसके पास रुपए नहीं थे तो आपने दिया क्यों?

'जैसे ही तुमने नौकरी के लिए १००) भेजे, वैसे ही मैंने उसकी शादी करा दी। तुम रहतीं तो उसकी बीवी तुम्हारे पैर दबाती।'

मैं चुप हो गई। उसके कुछ दिनों पर बजाज पहुँचा। उस दिन भी इत्तफाक से मैं उसी कमरे में थी।

मैं--तुम क्यों आये?

'बाबूजी ने एक बङ्गाली बाबू को कपड़े दिलवाये हैं।

मैं—क्या तुम्हें भी रुपए नहीं मिले?

बजाज—क्या मिले होते तो मैं जबर्दस्ती आपसे माँगता?

उसको भी वही जवाब दिया गया। जब वह चला गया तो मुझे बुरी तरह क्रोध आया।

मैं--जितना ही मैं उधार से घबराती हूँ, उतना ही आप मेरे सिर पर लाद देते हैं। अभी लड़की की शादी की, तब तक आप उधर लाये और इतना फिर उधार। या तो आप मालिक रहें, नहीं मेरी राय से काम होना चाहिये। यह बेहूदगी मुझे कतई पसन्द नहीं। कभी कोई बला, कभी कोई बला। मुझे तो कोई उम्मीद नहीं कि वह रुपए भेजेगा।

आपने उन रुपयों के लिए मुझसे छिपकर लिख-लिखकर, रुपए मँगाकर भरना शुरू किये। कोई डेढ़ साल में पूरे रुपये दे पाये।

यह बातें मुझे जैनेन्द्रकुमार ने मरने के बाद बतलायीं। जैनेन्द्र जानता था। उससे वे पहले बता चुके थे। और मुझसे न बताने लिए सख़्त ताकीद

की थी—घर में न बताना, नहीं तो ज़बर्दस्त फटकार सुननी पड़ेगी। *

इसी तरह एक बार और दूसरे महाशय आये और दो सौ रुपए बैंक से निकलवाकर लिये। मैं उन दिनों जेल में थी। जेल से छूटकर जब मैं आई तो एक दिन मैंने रुपयों का हिसाब पूछा—हिसाब बता ले गये। हिसाब में २००) घटे। मैंने पूछा, और रुपए कहाँ गये? आप बोले--ख़र्च हो गये कहीं।

मैं—झाँसा न दीजिए। बताइए, कहाँ गये।

मजबूर हो जाने पर बोले—एक सज्जन आये थे वे ले गये। उन्हें सख़्त ज़रूरत थी।

मैं—सभी की ज़रूरतों का तुमने ठेका ले लिया है।

'क्या करूँ, जान बूझकर थोड़े ही विपत्ति में फँसता हूँ। नहीं रहा जाता।'

मैं—आप तभी अच्छे थे। आपको तब टके-टके की पड़ी रहती थी। कोई किसी की किस्मत नहीं बना सकता। आप फिर उसी हालत में रहना चाहते हैं। रुपए उतनी आसानी से आप जमा करें तो आपको पता चले। चौबीसों घण्टे की किफ़ायत से रुपया जमा होता है।

'रानी, तुम अपने नाम जमा रखो। न रहे बाँस, न बाजे बाँसुरी।'

'मालूम होता है, मुझे रुपया जमा करने का ख़ब्त है।'

'स्त्रियाँ चुपके से जो रुपए रख लेती हैं, वह आदत सचमुच बड़ी अच्छी है।'

मैं—जमा करती हूँ, तुम्हारे लोगों के लिए। चाहती हूँ कि तुम लोगों को फ़िक्र न रहे। तुम्हें जिससे मालूम हो कि तुम्हारे रुपए जमा हैं। मैं देख चुकी हूँ कि तुम पहले हमेशा परेशान रहते थे। तुम्हारी चिन्ता मैं कम करना चाहती हूँ। तुम मुझसे चोरी करते हो?

आप बोले—तुमसे मैं चोरी नहीं करता। इन कंबख़्तों के मारे परेशान रहता हूँ।

---

* यह क़िस्सा उन्होंने अपनी 'ढपोरसंख' कहानी में बयान किया है।

मैं—आप अपने हाथ से ख़र्च किया कीजिए। चोरी करने से आत्मा भी ख़राब होती है।

'चोरी तुम्हीं से करता हूँ। हल्की ही सज़ा होगी।'

मैं—आज से मैं कतई रुपए नहीं रखूँगी।

आप बोले—मैं ही क़सम खा लेता हूँ कि कभी मैं किसी को रुपए न दूँगा। अब कोई काम करना होगा, तुम्हारे हाथ से होगा। इस बोझ से मैं अपने को अलग रखूँगा।

सेवाभाव

एक बार की बात है मेरे पास छोटा बच्चा बन्नू था। मैं खाना पका रही थी। बन्नू रो रहा था। उसे बेटी ने उठा लिया। बच्ची-बच्चा दोनों गिरे। बच्चे के सिर में चोट लगी। तीन दिन तक तो वह चारपाई पर सिर तक न रख सका। इसलिए तीन-चार दिनों तक उन्हें ही रोटी पकानी पड़ी। सुबह के काम तो वैसे ही चल रहे थे। साढ़े चार बजे ही उठ जाते थे। और लिखने-पढ़ने में लग जाते थे। धुन्नू को पढ़ाते भी थे। लिखते भी जाते थे। उसके बाद फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वग़ैरह अपने साथ लेते आते थे। बच्चों के साथ भी कुछ देर खेलते। कांग्रेस की मीटिंग रोज़ाना चल रही थी, उसमें भी शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते। जिस दिन दस बजे लौटते, उस दिन रात को काम कर न पाते, उस दिन तीन बजे रात को ही जगकर काम में लग जाते। मगर इतना आहिस्ते से उठते थे कि मैं जाग न पाती। मैं हमेशा आराम के लिए झगड़ती रहती थी। पर वह कब के माननेवाले। उसी साल अगहन के महीने में आप बीमार पड़े। नौ दिन तक बुख़ार दिन-रात रहा। मगर जब मैं उनकी तबियत का हाल पूछती तो वे 'अच्छा है' यही कहते। मेरे घर उन दिनों चूल्हे में आग भी न जली। दोनों बच्चों को बाज़ार की पूड़ियाँ और दूध मिलता था।

दसवें दिन स्कूल के मास्टर आये और पूछा—आपकी तबियत कैसी है?

बोले—बुख़ार नहीं उतर रहा है, मियादी मालूम होता है।

वे लोग थोड़ी देर बाद जाकर एक वैद्य को बुला लाये। उसने एक ऐसी तेज़ दवा दी कि बुख़ार तो उतर गया; लेकिन ख़ून के दस्त आने लगे। जिस दिन ख़ून के दस्त आने शुरू हुए उन्हें मैं पाख़ाने में पहुँचा आई। जैसे ही आप वहाँ से उठने लगे, वहीं बेहोश होकर गिर पड़े। मैं दरवाज़े के पास ही खड़ी थी। हड़बड़ाकर दरवाज़ा खोला। देखा, बेहोश! उठाकर किसी तरह चारपाई पर रखा। उसके कुछ देर बाद उन्हें होश आया। बोले—न मालूम कैसी दवा दी? उस समय बेहद कमज़ोरी थी। तीन रोज़ तक ख़ून के दस्त आये। उसके बाद जब अपना कहार आया तो उसी से एक मास्टर साहब को बुलाया और उनसे वैद्य को बुलाने को कहा। वैद्य आये और दूसरी दवा दी। उससे दस्त भी अच्छे हो गये। एक महीने तक कमज़ोरी के कारण ज़ीना नहीं उतर पाये।

मगर लिखने की ख़्वाहिश उन्हें रहती थी। रात को जब मैं सो जाती तो रात को धीरे से उठकर अपनी कापी, कलम-दवात उठा लाते। जाड़े के दिन थे, चारपाई पर रज़ाई ओढ़े लिखने लगते। उन दिनों वे 'प्रेमाश्रम' लिख रहे थे। मैं देख पाती तो झल्ला उठती—क्या अभी बीमारी कुछ कम है, जो और किसी बीमारी की चाह है?'

'नहीं। मैं लिख कहाँ रहा था। देखता था, पीछे का लिखा हुआ।'

'सारा ज़माना तो आपको ठग लेता है; लेकिन आप मुझे ठगने लगते हैं।'

'भला कौन तुम्हें ठगेगा?'

मैं—इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड़ पकड़ गई लिखने के कारण। अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।

'कहाँ? तुमने कलम ही तोड़कर फेंक दी थी। लिखता कब था?'

'क़लम तो बाद को मैंने तोड़ी, जब किसी तरह भी आप नहीं माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ बेकार बैठी रहती थी।'

'मैं कुछ काम न करूँगा।'

मैं—आप स्वस्थ हो जायँ तो काम कीजिए, रोकता कौन है ? अभी नीचे ज़ीने से उतरने तक की ताक़त तो आई नहीं और काम करना शुरू कर दिया। फिर भी आप न माने तो, मैं फिर क़लम तोड़कर फेंक दूँगी। छोटा बच्चा कहा न माने तो ठीक भी है, आप इतने बड़े होकर एक बात नहीं मानते।

'अब मान जाओ। कह दिया, क़लम तक न छुऊँगा।'

मैं—अभी ताले के अंदर रख देती हूँ, न रहेगी बाँस न बाजेगी बाँसुरी।

आँव जारी ही था। मैं इस बीमारी से बहुत दुखी हुई। एक रोज़ बोली—कोई दवा कीजिए। बोले—तुम देखती हो, दवा तो बराबर कर रहा हूँ। फायदा न हो तो मैं क्या कर सकता हूँ। घर में कोई भी न था। शाम को मैं खाना बनाने लगती। बन्नू को खाँसी आ रही थी, वह छः महीने का था। खाना बनाते हुए वह अक्सर रोता। बहुत दुबला हो गया था। मैं रोटी बेल देती, वे रोज़ाना सेक लेते। जब वे खाना खाकर उठते, तो बच्चे को लेते, और तब मैं खाना खाती।

एक रात का सपना है। मैंने ख़्वाब में देखा कि आगामी जुलाई से ये अच्छे हो जायँगे। जागने पर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। इसके पहले के भी दो-चार सपने सच निकले थे। उन्हें मैंने आवाज़ दी कि क्या आप सो गये हैं ? बोले—क्या है !

मैं—आगामी जुलाई से आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।

'क्या तुमको मेरी बीमारी की याद सोने पर भी नहीं भूलती ?'

मैं—इसे सच समझिए। यह बात झूठी नहीं।

'तुम इसी तरह के स्वप्न देखती हो।'

मैं—कल इसे नोट कर लीजिए। गोरखपुर में भी मैं इसी तरह का स्वप्न देख चुकी हूँ और वह सच निकला।

'कल नोट कर लूँगा। देखूँ, सच निकलता है।'

मैं—हाँ मुझे विश्वास है। आपको भी विश्वास हो जायगा।

फिर काशीनाथजी से झगड़ा होना शुरू हुआ। एक दिन मुझसे बोले—
क्या करूँ। यह कंबख़्त मेरे पीछे पड़ा है।

मैं—तो क्या ? आप उसकी सहते रहेंगे ? हटाइए। इस्तीफ़ा देकर
घर चलिए।

'घर भी तो वही बात ! रुपए तो कहीं से आने चाहिएँ।'

मैं—सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देते समय मारवाड़ी विद्यालय का प्रश्न
नहीं था।

'रानी, यह हिन्दुस्तान है। क़लम के बल पर रोटियाँ चलाना बहुत ही
मुश्किल है।'

मैं—तो क्या ? कम में ही निर्वाह कर लेंगे। जब वह नहीं चाहता तो
खुद कहाँ तक सहा जाय ?

'तुम्हारी राय यही कि छोड़ दूँ ?'

'ज़रूर छोड़िए। ज़रूरतों का गुलाम होना ठीक नहीं।'

उस समय काशी से 'मर्यादा' नाम की एक पत्रिका निकलती थी। उसके
संपादक बाबू संपूर्णानंद थे। उसी दिन पत्र आया—आप आकर संपादन
कीजिए। १५०) वेतन मिलेंगे। उसके बाद इस्तीफ़ा उन्होंने दे दिया। स्कूल में
मास्टर चाहते थे, इनकी विदाई में एक जल्सा किया जाय। और इनको एक
अभिनंदन-पत्र दिया जाय। काशीनाथ को यह अच्छा न लगा। पर मास्टरों ने
न माना। लड़कों की भी इच्छा थी। जल्सा हुआ। अभिनंदन-पत्र दिया
गया। उसी के कारण चार-पाँच मास्टर और निकाले गये। पचीस-तीस लड़के
स्वयं हट गये।

उसके बाद निश्चित हुआ कि घर चलना चाहिए। मेरे भाई आये। मुझे
और बच्चों को अपने यहाँ ले गये। आप अकेले काशी आये। 'मर्य्यादा' में
काम करना शुरू किया। कबीरचौरा पर मकान लिया। फिर उसी तरह काम
चलने लगा। ११ बजे 'मर्य्यादा'-आफ़िस जाते, खाना खुद पकाकर, खाकर
जाते। भाई को भी खुद खिलाते।

एक बार की बात है—गेहूँ पिसकर आया। उसमें मिट्टी-कंकड़ काफ़ी थे। मैं अपने मायके थी। जब मैं लौटकर आई तो देखा कि एक चादर में सूखे गेहूँ की अलसी चिपकी हुई है। मैंने पूछा—चादर पर क्या है? आप बोले—आँटा पिसकर आता है, तो उसमें मिट्टी तो रहती ही है, कंकड़ भी रहते हैं। खाना कैसे होता। तो फिर दुबारा मैंने गेहूँ बीनकर, साफकर, पानी से धोया और उसे ही चादर पर सूखने को डाला था।

मैं—घर से मँगा लेते?

'घर में किसे पड़ी है?'

मैं—वे भी तो थे। आप अकेले तो थे नहीं। खाना कौन पकाता था?

'मैं खुद।'

'ठीक है। काम भी करो, सबको खाना भी खिलाओ।'

'तुम तो अपने घर बैठो। मैं अकेला क्या करता?

'मुझमें इतनी बर्दाश्त नहीं।'

'मैं क्या करूँ? अब तो उनका लड़का १००) पाता है, अब उनका मिज़ाज कैसे मिलेगा।'

'कमाते हैं, तो क्या किसी को दे देते हैं?'

इसी तरह डेढ़ साल 'मर्यादा' में रहे। फिर विद्यापीठ में हेडमास्टरी पर नियुक्त हुए। वेतन १२५) तै हुआ। रोज़ाना भदैनी एक्के से जाते। उसी जुलाई से दस्त आना बन्द हो गया। तब आप बोले—भाई, तुम्हारा सपना सच निकला।

मैं—धन्यवाद ईश्वर को।

बूढ़ी नाइन

सन् '२१ की बात है, आपके बड़े भाई साहब इन्दौर से आये थे। बूढ़ी नाइन गाँव में किसी को ग़ाली दे रही थी। उसके इस व्यवहार पर बड़े भाई साहब को क्रोध आ गया। उन्होंने नाइन को दो-तीन तमाचे लगा दिये।

वह नाइन रोती हुई आई और आपका पैर पकड़कर रोने लगी। उसको शान्त करते हुए बोले—मैं भाई साहब से पूछूँगा।

जब वह नाइन चली गई तो आप मुझसे बोले—भइया को न मालूम क्या हो जाता है। उस बूढ़ी को ख़ामख़्वाह उन्होंने मार दिया।

मैं बोली—यह भी तो दुष्ट है।

आप बोले—पर बूढ़ी औरत के ऊपर हाथ डालने का उन्हें क्या अधिकार?

मैं बोली—कोई सह लेता है, किसी को क्रोध आ जाता है।

'क्रोध की सीमा भी होनी चाहिए।'

'क्रोध में कोई सीमा देखने जाता है। जाकर अपने भाई से पूछिए। आपके ऊपर भी बिगड़ेंगे।'

'मैं उन्हें कुछ कहूँगा थोड़े ही।'

शाम को पूछने लगे, आपने व्यर्थ नाइन को मारा?

भाई बोले—क्या करता। यह बड़ी दुष्ट है। बहुत बार मैंने मना किया; पर यह मानती ही नहीं।

'तो क्या आपके मारने से वह भलेमानुस हो जायगी?

'मुझे क्रोध आ गया। और यह तो सच है कि वह भलेमानुस नहीं हो जायगी।'

'तो इससे क्या लाभ? मार की मार भी, और ठीक भी नहीं हुई।'

'जो कुछ कह लो। क्रोध आ गया, मार दिया।'

'तो आपने उस नाइन से क्षमा माँग ली?'

'क्षमा तो मैंने नहीं माँगी। लेकिन धुन्नू की माँ ने तो उसे ज़रूर खाना-वाना खिलाया। उन्होंने हमदर्दी भी दिखाई।'

'तो फिर धुन्नू की माँ ने उसे खुश कर लिया। परेशानी तो उन्हें ही हुई। आप हम तो बच निकले। घन्टों उसे समझाया गया होगा। तब कहीं वह शान्त हुई होगी।'

जेठ जी

सन् २२ की बात है : हमारे जेठ को कहीं नेवता करना था। उन्हें रुपयों की ज़रूरत थी। प्रेस में बाबू जी से बोले—नवाब मुझे कुछ रुपए दो। ज़रूरत है। आप बोले, आज भैया कुछ भी नहीं आया। कहो तो किसी के यहाँ से उधार मँगवा दूँ।

वे बोले—मैं घर पर धुन्नू की माँ से ले लूँगा। उधार क्यों आयेगा ?

आप बोले—उनके पास न होंगे ?

'तुम्हारे लिए न होंगे, मेरे लिए हैं।'

'नहीं। आजकल रुपए उनके पास नहीं रहते।'

शाम को उनके आने के पहले मेरे पास आये। बेटी से बोले—अपनी माँ से कहो, १५) रुपये मुझे चाहिए। हो तो दे दें।

मुझसे 'नहीं' करते न बना। मैंने १५) निकालकर उन्हें दे दिये। वे मेरी बात को बहुत अधिक मानते थे, मेरी सलाह ही से वे भी काम करते।

जब शाम को आप आये तो बोले, भैया आये थे ?

मैं बोली—आये थे और १५) रुपए भी ले गये।

आप बोले—मैंने झूठे ही उनसे कहा कि रुपए नहीं हैं। कहाँ थे रुपए ?

मैं बोली—दिल्ली कितनी भी उजड़ जाय, देहात तो रहेगी ही।

'मुझे उन्होंने झूठा समझा होगा। तभी भैया कहते थे, मेरे लिए होंगे, तुम्हारे लिए चाहे न हों।'

मैं—तो मैं क्या जानती थी कि आपने नाहीं किया है। फिर वे कहाँ पाते ? मेरे घर पर कुछ-न-कुछ तो पड़ा ही रहता है।

आप बोले—मैं भी अब निश्चिंत रहा करूँगा।

'मैं तो तुम्हें हमेशा निश्चिंत किये रहती हूँ। कब तुम बोझीले बने रहे ?'

'धन्यवाद।'

बनारस में ; बच्चे की सेवा

एक रोज़ की बात है। बन्नू छोटा-सा था। सुबह का स्कूल था। जैसे ही वह सोकर उठा, वैसे ही दूध की बड़ी क़ै की। मैंने सोचा—यों ही है। और वह स्कूल चले गये। जब तक वे आये, तब तक उसे काफ़ी दस्त आये। मैं बारह बजे आने पर उनसे बोली, आज इस बच्चे को सुबह से ही क़ै हो रही है। आप बोले—नहा लूँ, तो डाक्टर साहब के पास जाऊँ। तब तक मैंने चिलम चढ़ाई।

आप उस बच्चे को लेकर खड़े थे। १९२२ की बात है। तब तक उसी तरह बच्चे ने क़ै-दस्त दोनों किये। आपके दोनों भाग—सामने और पीछे, ख़राब हो गये। जब मैं आई, तो बच्चे को मुझे देकर उन्होंने कपड़े बदले। और तुरंत डाक्टर के यहाँ चले गये। डाक्टर को लेकर आये। डाक्टर ने दवा दी। उस दिन १॥ बजे दिन से सारी रात हम दोनों बैठकर १०-१० मिनट पर दवा दे रहे थे; लेकिन क़ै-दस्त दोनों बराबर जारी थे। कोई चार बजे के बाद उसको कुछ आराम हुआ। तब उन्होंने अपनी कमर सीधी की।

एक बार इसी तरह मुझे भी दस्त आये। आप और कंपाउंडर सारी रात बैठकर दवा देते रहे।

सेवा उनका मूलमंत्र था, किसी को भी बीमार नहीं देख सकते थे।

बस्ती से इलाहाबाद : रेल में

एक बार की बात है, मैं बस्ती से इलाहाबाद जा रही थी। मेरी गोद में बेटी कमला सवा साल की थी। सरजू पार करना था। स्टीमर में हम बैठे थे। ऊँची बेंच पर आप थे। नीचे, उनके पैर के पास, मैं थी। वे लड़की को लेकर ऊँची बेंच पर थे। किसी महाशय से बातें कर रहे थे। इतने में एक पचीस-बीस वर्ष का एक नवयुवक आया। वह जैसे-जैसे मेरी तरफ़ बढ़ रहा था, वैसे-वैसे मैं आपके पैर के पास खिसकती जा रही थी। जब मैंने देखा तो

वह बिल्कुल करीब था। आपका पैर दबाकर मैं बोली—आप इस बदमाश को देख नहीं रहे हैं ? मेरी तरफ़ बढ़ा आ रहा है। उस बदमाश की हरकत देखकर आपको भी क्रोध आया। बच्ची को मेरी गोद में देकर उसकी गर्दन पकड़कर काफ़ी दूर तक ले गये। बोले सरजू में झोंक दूँ।

युवक—मैंने क्या गुनाह किया ? मैं तो खड़ा था।

'खड़ा होने की वहाँ गुँजाइश थी, जहाँ तुम खड़े थे। स्त्रियों के सिर पर खड़े होते हो ? अगर दुबारा ज़बान निकाली तो तुरंत झोंक दूँगा सरजू में।'

मैंने कहा—जाने दीजिए।

आप बीमार थे। दवा कराने इलाहाबाद हम जा रहे थे।

युवक—तुम्हीं ने किराया दिया है ?

'किसी के सिर पर बैठने के लिए किराया देकर आये हो ?'

मैं उन्हें अत्यन्त क्रोध में जान हाथ पकड़कर खींच लायी। उस समय आप क्रोध के मारे काँप भी रहे थे। मुझे खुद बाद में अफ़सोस हुआ। क्योंकि उस वक्त मैं उनसे ज़्यादा तंदुरुस्त थी। मैंने कहा—बैठ जाइए, तब आप शान्त हो गये।

गाँव में

आप गाँव में रहते तो अपने दरवाज़े पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मैं उन्हें रोकती। छोटे बच्चों को दरवाज़े पर बैठाकर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियाँ इकट्ठी कर देते, सिकटे इकट्ठा कर देते और लड़कों को खेलने के ढंग सिखाते। उसके बाद जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते, तो उनसे बातें करते, झगड़ा निपटाते, बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये क़ायदे-क़ानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बड़ाई के लिहाज से जिसका जैसा संबंध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गाँव एक क़िला बन जाय। उपन्यासों के चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे।

काश्तकारों की कमज़ोरी देखकर उनको बड़ा दुःख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से, भाभी, चाची, बहन, बेटी का जैसा संबंध होता, सदा उसी तरह का व्यवहार वे करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थीं, अगर वे मज़ाक कर देतीं, तो हँस देते और बुरा न मानते। गाँव में बहुत दूर पाखाने को निकल जाते थे। वहाँ आम के दिनों में लोटे में आम भी लेते आते। मूली का दिन होता, तो मूली भी तोड़कर लोटे में लेते आते।

१९२२-'२४ के लगभग :

हिन्दुस्तानी एकेडेमी जैसी संस्था खुलवाने के लिए आप और मुंशी दयानारायण निगम बहुत दिनों से प्रयत्नशील थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी खुली तो आप भी उसके एक सदस्य बनाये गये। आप मीटिंग में बराबर जाते थे। वहाँ से आने पर मैं बराबर पूछती—कैसा प्रबन्ध ये लोग कर रहे हैं?

आप बोले—हम लोगों की इच्छा जिस प्रकार की संस्था खोलवाने की थी, वह तो पूरी नहीं हुई।

मैं बोली—आख़िर तब इन लोगों ने क्या खोला?

आप बोले—कुछ न कुछ तो ज़रूर ही होगा।

मैं बोली—तब आप लोगों को सन्तोष क्यों नहीं हुआ?

आप बोले—यह काम करने का कोई तरीक़ा नहीं है। हम तो चाहते थे कि हिन्दुस्तान की हर भाषा का एक-एक लेखक हो उस कमिटी में। जिस किसी विषय की किताब निकलती वह पहले, उन लेखक मेम्बरों द्वारा दिखा ली जाती। उसी को उसको देखने का हक़ होता। इस तरह कोई भद्दी किताब न निकल सकती। उससे उन लेखकों के गुणों के विकास को क्षति न पहुँचती। अपने यहाँ साहित्य की उन्नति भी होती। और साथ-साथ उन लेखकों का विकास भी होता। जिस चीज़ की कमी होती, उसकी वृद्धि की जाती। लेखकों को इधर-उधर भटकने की ज़रूरत न होती। नये लेखकों के गुण-दोष

कोई बताता नहीं। बस "नहीं ठीक है" कहकर लौटा देता है। यह न्याय थोड़े ही है। नये लेखकों के प्रति विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वह उनके गुण-दोष समझा दे। उसको इस तरह समझ-बूझकर, एकेडेमी अपना कार्य चलाती। रहा पारितोषिक का सवाल। रॉयल्टी पर भी ले सकती थी, इकट्ठा मूल्य देकर भी ले सकती थी।

मैं बोली—लेखकों की रचनाएँ कहीं पड़ी थोड़े ही रहती हैं।

आप बोले—ऐसे प्रकाशकों की ज़रूरत नहीं है कि वे अपने ही पेट भरें। लेखकों को भी कुछ मिलना चाहिए। एकेडेमी और लेखक का तो पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो जाना चाहिए। आजकल के लेखकों की तरह नहीं, न प्रकाशकों की तरह ही। जब तक दोनों में ऐसा सम्बन्ध न होगा, तब तक कुछ भी नहीं होने का। इस तरह लेखक का जब कुछ लाभ नहीं होता तो वे निराश होकर बैठ जाते हैं। जिससे लेखकों का विकास नहीं हो पाता और साहित्य की उन्नति रुक जाती है।

मैं बोली—साहित्य की उन्नति और कैसे हो ?

आप बोले—अभी 'उन्नति' नाम की चीज़ की तो गन्ध तक नहीं है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि काम से ज़्यादा आपसे में 'तू-तू' 'मैं-मैं' अधिक है। 'तू-तू' 'मैं-मैं' में कहीं काम होता है ?

मैं बोली—तब कैसे काम होगा ?

आप बोले—जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सबके सब ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे।

मैं बोली—तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?

आप बोले—और क्या। ये चीज़ें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलनेवाली चीज़ें हैं।

मैं बोली—तो यह क्या ज़रूरी है कि तीनों को साथ ही लेकर चला जाय।

आप बोले—इन तीनों का उद्देश्य ही जो एक है। साहित्य इन तीनों चीज़ों की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का सम्बन्ध बिलकुल अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ तथा सुख-दुःख होता है, वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुःख होता है वह आदमियों ही पर पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है। साहित्य से आदमी की भावनाएँ अच्छी और बुरी बनती हैं। इन्हीं भावनाओं को लेकर आदमी जीता है और इन सब तीनों चीज़ों की उत्पत्ति का कारण आदमी ही है।

मैं बोली—आप शायद जड़ तक पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं।

आप बोले—जड़ की ही रक्षा में तो सब संभव है। बिना जड़ की रक्षा के कुछ नहीं होगा ?

मैं बोली—उन लोगों के दिमाग़ में ये बातें क्यों नहीं आईं ?

आप बोले—बड़े-बड़े आदमियों के दिमाग़ में ये सब बातें क्यों आयें ? गरीबों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही कब जाता है ? जब तक उन पर नहीं बीतेगी, तब तक कैसे समझ सकेंगे ? इन सबों को सुधारने के लिए साहित्य ही एक ज़रिया है। जब तक कोई इसे अपने हाथ में नहीं लेगा, यह नहीं सुधर सकता।

आप दिन-रात लेखकों के लिए सचिन्त रहते थे। आपने सत्यजीवन वर्मा के सहयोग से 'लेखक-संघ' नाम की एक संस्था भी खोली थी। उसके बाद हमेशा वे इस विषय पर चर्चा चलाते रहते। सन् '१३५ में प्रगतिशील लेखक-संघ खुला था। उसके पहले सभापति आप ही हुए थे।

वह काम ऐसी अशुभ घड़ी में उठाया गया कि उसका उठानेवाला ही उठ गया। सोचिए तो वे साहित्य के लिए कितना सचेष्ट रहते थे। अभी वे कुछ भी न कर पाये थे कि बीच ही में वे चले गये। इसी ख़याल से कि सभी प्रान्तीय भाषाएँ एक में माला की तरह गुँथी रहें,

उन्होंने भारतीय साहित्यपरिषद् को 'हंस' दे दिया था। उन्हें विश्वास था कि इससे सब एक परिवार के से हो जायँगे। इसी में उनको देश की राजनीति की सारी गुत्थियाँ सुलझ जाने का भरोसा था। उनके जीवनकाल ही में 'हंस' को 'परिषद' ने अलग कर दिया था। वे अपनी कठिन बीमारी के समय भी 'हंस' को नहीं भूले थे। गवर्नमेण्ट ने उनसे ज़मानत भी माँगी थी। जब साहित्य-परिषद ने ज़मानत नहीं दी तो हंस बन्द कर दिया गया।

आप बीमार पड़े। मुझसे बोले—'हंस' की ज़मानत तुम जमा करवा दो। मैं अच्छा हो जाने पर उसे सँभाल लूँगा।

उनकी बीमारी में मैं खुद परीशान थी। उस पर इतनी 'हंस' की उनको फ़िक्र!

मैं बोली—अच्छे हो जाइए। तब सब कुछ हो जायगा।

आप बोले—नहीं दाख़िल करा दो। मैं रहूँ या न रहूँ 'हंस' चलेगा ही। यह मेरा स्मारक होगा।

मेरा गला भर आया। हृदय थर्रा गया। मैंने ज़मानत के रुपये जमा करवा दिये।

आपने समझा, शायद धुन्नू ज़मानत न जमा कर पाये। दयानारायणजी निगम को तार दिया। वे आये। पहले बड़ी देर तक उन्हें पकड़कर वे रोते रहे। वे भी रोते थे, मैं भी रोती थी। मुंशी जी भी रोते थे। मुंशी जी ने कई बार रोकने की चेष्टा की। पर आप बोले—भाई, शायद अब भेंट न हो। अब तुमसे सब बातें कह देना चाहता हूँ। तुमको बुलवाया है, 'हंस' की ज़मानत करवा दो।

मैं बोली—धुन्नू जमा कर चुका है।

वे जिस विषय को चाहते, दिल से चाहते। मेरे वे थे तो साहित्य के भी थे। आज वे नहीं हैं। जिन कामों पर मैं उनसे झुँझलाती थी, आलोचनाएँ करती थी, उन्हीं की आज मैं तारीफ़ करते थक जा रही हूँ। और उन्हीं से मुझे प्रेम भी है, मुझे अपने से ज़्यादा उन चीज़ों से प्रेम है जो

उनकी हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि मैं भी अपने ख़ून से सींचकर उसे हरी करना चाहती हूँ। मेरा अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह मैं लिख नहीं पा रही हूँ कि मेरी स्थिति क्या है। अपने अन्दर उन दर्दों को मैं इसलिए छिपाये हूँ कि उन्हें हरा-भरा रख सकूँ। जो लोग इस साहित्य को हरा भरा करेंगे, वे जैसे हमारी सेवा ही कर रहे हैं। यही उनकी भी सच्ची सेवा है;—बस यही मुझे कहना है।

महाराजा साहब अलवर

सन्' २४ का ज़माना था। आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से, राजा साहब की चिट्ठी लेकर पाँच-छः सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहब उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। राजा साहब ने ४००) प्रतिमास नक़द, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयों को यह कहकर कि मैं बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी है, राजा साहब को एक ख़त लिखा—'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा।

एक साहित्य-सेवी,

धनपत राय।'

मेरे पास आप आकर बोले—अलवर के राजा साहब ने मुझे बुलाया है।

मैंने कहा—किस लिए?

आप बोले—मुझे प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं।

मैंने कहा—राजों-महराजों के यहाँ जाकर क्या कीजिएगा?

'क्यों? मोटर मिलेगी, ४००) नक़द मिलेगा। बँगला मिलेगा। बुरा क्या है?'

'आपसे किसी से पटेगी भी?'

'मैं लड़ाका हूँ?'

'समझने की क्या बात है, सामने देखने की बात है। गोरखपुर में इंसपेक्टर ने ज़रा-सा मग़रूर कह दिया तो आप उस पर केस चलाने को उतारू हो गये। महोबे का कलक्टर धमकी दे रहा था कि अगर मुसल्मानी राज होता तो हाथ कटवा लिया जाता, तो आपने सहा ही नहीं। भला राजों-महाराजों से आपकी कैसे पट सकती है? ग़ैर मुमकिन! एक दिन भी गुज़र नहीं हो सकती। आपके लिए सबसे बेहतर है मज़दूरी। राजों-महाराजों के यहाँ वही ठहर सकता है, जो उनकी जूतियाँ सीधी करता फिरे। जिसमें कुछ भी स्वाभिमान होगा, वह राजाओं के यहाँ नहीं ठहर सकता।

आप बोले—मेरी तो इच्छा है, चलूँ, कुछ दिन बँगले-मोटर का शौक़ तो पूरा कर लूँ। मेरी कमाई में इसकी गुंजाइश नहीं।

मैं हँसकर बोली—यह उसी तरह हुआ, जैसे कोई वेश्या अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए चकले में बैठे। फिर जिसने मज़दूरी करना अपना ध्येय समझ लिया हो, उसे मोटर-बँगले की ख़्वाहिश कैसी!

आप बोले—मुझे ख़्वाहिश न हो, तुम्हें तो हो सकती है।

'मुझे अगर ऐसी ख़्वाहिश होती तो सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देने को न कहती।'

'अगर बच्चों को ख़्वाहिश हो तो?'

मैं झुँझलाकर बोली—बच्चे ख़ुद अपनी ख़्वाहिश अपने हाथ-पैरों पूरी करेंगे। फिर बच्चों को भी आप-सरीखा बनना चाहिए।

'अगर न बनें तो मार-मारकर बनाओगी?'

'अगर ये न वैसे बनें तो मैं समझ लूँगी ये मेरे बच्चे हुई नहीं हैं।'

तब आप हँसकर बोले—मैंने पहले ही धता बता दिया।

'आपको मुझे चिढ़ाने में मज़ा आता है ?'

'मैं यह सोच रहा था कि अगर तुम्हारी इच्छा हो तो मैं इसे भी पूरी कर दूँ।'

'आप उपन्यास-कहानियों के पात्र ख़ूब गढ़ लेते हैं, पर मुझको पहचानने में क्यों इतनी गलती ?'

'उपन्यास-कहानियाँ तो अपनी रुचि के अनुसार बनती हैं। मगर आदमी को अपनी रुचि का कैसे बनाया जाय ? जबरन किसी को कुछ कहना भी नहीं चाहिए।'

'मैं अपनी रुचि के प्रतिकूल आदमियों के साथ रह ही नहीं सकती।'

तो आप बोले—मैं मान रहा हूँ कि मैं जो चाहता हूँ, वही तुम भी चाहती हो।

प्रेस में कार्याधिक्य

उसी सन् की एक और घटना है—मैं गाँव में थी। कुआर का महीना था। आपको पेचिश हो गई थी। दो महीने बीत गये, अच्छी न हुई। दवा के लिए जो पैसे देती, उसे प्रेस में ख़र्च कर आते और इधर-उधर के ग़ैर-ज़िम्मेदार वैद्यों से दवा ले लेते। दवा खाते-खाते दो-ढाई महीने बीत गये। तबियत अच्छी नहीं हो रही थी।

जब मैं जान चुकी कि तबियत जल्दी अच्छी होने की नहीं तो मैं बोली—चलिए आप देहात।

आप बोले—प्रेस का काम कौन देखेगा ?

मैं—जब तबियत अच्छी नहीं हो रही है तो क्या कीजिएगा ?

आप बोले—काम भी तो मुझे बहुत करना है।

मैं झुँझलाकर बोली—काम भाड़ में जाय। एक-न-एक तो लगा ही रहेगा।

'क्या भाड़ में काम चला जायगा ? उसे तो पूरा करने ही से छुट्टी है।

जब मुझे यक़ीन हुआ कि ये नहीं टलेंगे तो मैं बोली—आप रहिए। मैं ख़ुद देहात जा रही हूँ।

'मेरे लिए सामान रखकर जा सकती हो।'

मैं—बच्चे जायँगे। सामान तो सब पड़ा रहेगा।

बाहर मेरे जेठ बैठे हुए थे। मैंने बेटी से कहा—जाकर बड़े बाबू से कह कि मुझे भी शाम को घर लेते चलें। बेटी ने जाकर कहा। वे शाम को आने को कह गये।

आप जब प्रेस जाने लगे तो बोले—सामान सब लेती चलना। मैं भी चलूँगा।

मैं—आप रहिए। आप क्यों जायँगे ?

आप बोले—मैं समझता था, मेरे ऐसा कहने पर तुम नहीं जाओगी।

मैं—मुझे ख़ूब मालूम है कि आप मेरे बिना यहाँ नहीं रह सकते।

उस दिन हमारे जेठ साथ में दो मज़दूर, एक ठेला, एक ताँगा लिये तीन बजे ही आ गये। और सामान वग़ैरह रखवाकर हमें लिवा ले गये।

उसी दिन शाम को आप भी पहुँचे।

सुबह रुपए देकर जेठ से मैंने कहा कि इन्हें किसी अच्छे होम्योपैथ को दिखलाइए।

वे दवा लाये। दो-तीन रोज दवा खाने पर उनकी तबियत अच्छी होती नज़र आई। आख़िर वे जल्दी ही अच्छे हुए। शहर का आना-जाना बराबर जारी रहा।

एक दिन घर से चले तो धूप तेज़ थी। मैं बोली—धूप तेज़ है।

'तुमसे मतलब ? मौत तो हमारी है।'

मुझे उनकी इस बात पर झुँझलाहट आ गई। मैं बोली—ख़बरदार, आगे जाना न हो सकेगा। बैठिए, मैं प्रेस जा रही हूँ। अगर अपने आराम के लिए आई हूँ, तो तुम बैठो, मैं जा रही हूँ। और जो सामान वहाँ से आने-वाले हों, बताओ, लेती आऊँ।

आप बोले—छोड़ो जाने दो।

'मैं हर्गिज़ नहीं जाने दूँगी। आप फिर वही बात कहेंगे। मैं यह धौंस क्यों सहूँ?'

आप बोले—भाई, फिर सुनना तो ख़ूब डाँटना। ग़लती हुई।

'आप अच्छे हुए कि नहीं, यह बताइए। वहाँ होते तो रोग ज्यों का त्यों रहता। मुझे बीमारी नहीं पसंद। रुपयों से क्या ?'

आप बोले—मजबूरी सब कुछ करवाती है।

'जितना अपने से होगा, उतना ही न किया जायगा। जब आप खाट पर पड़ जायँगे तो कैसे काम होगा ?'

'न जाऊँ ?'

'धूप तेज़ है, मत जाइए। काम तो होता ही रहेगा।'

मैंने जूता पैरों से निकालकर रख दिया। आप उसी जगह चारपाई पर लेट गये। कोट उतार कर बोले--अब ख़ुश हो ?

मैं—बहुत ठीक। आराम कीजिए।

१९२४

सन् २४ की बात है। आप बेदार साहब के यहाँ प्रयाग गये हुए थे। 'माधुरी' आफ़िस की कुछ किताबें बोर्ड में मंजूर कराने के लिए गये थे। बेदार साहब शराबी थे। खुद पिया, आपको भी पिलाया। वहाँ से लौटे तो नशे में चूर। उसी दिन मेरे कान का फोड़ा फूटा था। मैं भी अपने कान में रूई लगाकर सो गई थी। न मालूम आप दरवाज़े पर कब से आवाज़ दे रहे थे, मुझे कुछ भी पता नहीं। जब बच्चों के कान में आवाज़ गई तो धुन्नू बेटी के साथ दरवाज़ा खोलने दौड़ा। मुझे इसकी भी ख़बर नहीं। बच्चों को देखकर कुत्तों की तरह डाँटने लगे। उनके डाँटने की आवाज़ मेरे कानों में आई। मैंने पूछा—बेटी, कुत्ता किधर से आ गया। बेटी बोली—तुम सुन नहीं रही हो। बाबूजी आये हैं। मुझे और भाई को डाँट रहे हैं बाबूजी ! मैंने पूछा—क्या बात है ?

बेटी बोली—बाबूजी बड़ी देर से आवाज़ दे रहे थे। हमने सुना नहीं।

मैं बोली—देखो बेटी, क्या समय है ?

बेटी—डेढ़ बजा है।

मैं उठने लगी कि चलकर उन्हें पानी-वानी दूँ और पूछूँ कि बच्चों को इस तरह डाँटना चाहिए।

बेटी बोली—तुम न जाओ। बाबूजी शराब पिये हुए हैं। तुम्हें भी डाँटेंगे।

मैं बोली—यह नया नशा सीखा।

मुझे भी क्रोध आ गया। मैं सो रही। सुबह उठी तो उनका नशा उतर गया था, मैं बोली—बच्चों को इस तरह डाँटना चाहिए ?

'मुझे आध घंटे तक चिल्लाना पड़ा था। तुम्हें ख़बर भी है ?'

'सुनता कौन ? बच्चे रात भर जागते रहते ?'

'अगर बच्चे न जाग सकते तो बच्चों की माँ तो जाग सकती थी।'

मैं बोली—मुझे कल ज़रा-सा आराम मिला ; मैं भी सो गई। फिर मुझे मालूम होता कि आप शराब पीकर आये हैं तो मालूम होने पर भी न खोलती। फिर आपने शराब क्यों पी ?

तब आप बोले—बेदार साहब माने ही नहीं।

मैं—आप बच्चे तो थे नहीं कि बेदार साहब ने ज़बर्दस्ती आपके मुँह में उँड़ेल दी। आइंदा आप अगर फिर पीकर आये तो मैं जागती हुई भी दरवाज़ा न खोलूँगी।

'मुझे पहले से मालूम होता तो मैं वहीं सो रहता।'

'तो क्या आप मुझसे कहकर गये थे कि मैं वहाँ शराब पिऊँगा। इन बुरी लतों में आप फँसते क्यों जा रहे हैं ?

'वह माना नहीं।'

'मनवाना चाहिए था।'

'उसके फेर में तुम पड़तीं तो शायद तुम भी पी लेतीं।'

'मैं ऐसों के फेर में पड़नेवाली जीव नहीं हूँ।'

'ख़ैर अब नहीं पिऊँगा।'

उसके ५-६ रोज़ के बाद फिर उन्हीं के यहाँ पी आये। उस दिन आठ

बजे के लगभग ही लौट आये। रात को दो बार क़ै हुई। मैं तो उठी नहीं। मेरी भावज ने उठकर पानी-वानी दिया। रात ही को क़ै भी साफ़ की। सुबह जब नशा उतरा तो बोले—रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहाँ थी ?

मैं बोली—मैं इन आदतों के फेर में पड़नेवाली नहीं। मैं उसी दिन आपसे कह चुकी हूँ।

आप बोले—बेचारी दुलहिन न होती तो मुझे पानी देनेवाला कोई नहीं था।

'मैं इसके लिए पहले ही बता चुकी हूँ।'

'तुम्हारा दिल बड़ा कड़ा है।'

'आज आपने समझा ?'

फिर उस दिन से उन्होंने कभी शराब नहीं पी।

'साहस'

सन् '२४ की बात है, मेरी पहली कहानी 'साहस' निकली थी। उसे मैंने उनसे छिपाकर लिखा और छपने को भेजा। उस समय चाँद के सम्पादक आर. सहगल थे। उस कहानी में गल्तियाँ थीं। उन्होंने मेरी कहानी जानकर, गल्तियों का सुधार कर, चाँद में छापी। उस अंक की एक प्रति मेरे नाम भेजी और उनके नाम एक बधाई का ख़त। बधाई में लिखा था—आप उपन्यास-सम्राट् थे ही, आपकी देवी भी लिखने लगीं। इसके लिए आपको बधाई। हालाँकि पुरुषों के ऊपर ही उन्होंने जूता गिराया है। फिर भी उन्हें बधाई है। हमारी कमज़ोरी तो उन्होंने बता दी। उसका परिणाम भी उन्होंने दिखा दिया है। इसलिए आप दोनों बधाई के पात्र हैं।

आप दफ़्तर से आने पर कापी मेरे हाथ में देते हुए बोले—आप अब लेखिका भी बन गईं। लो, यह तुम्हारी कहानी छपकर आई है। कहानी भी लिखी तो पुरुषों पर ही कटाक्ष ! सारे दफ़्तर में लोग शोर मचा रहे थे। सब कहते थे, पुरुषों पर आक्षेप किया है।

मैं बोली—कहानी क्या थी, एक मज़ाक़ थी।

'पुरुष तो अपनी खोपड़ी सहला रहे हैं। तुम मज़ाक बतला रही हो।'

मैं बोली—जो पुरुष उस तरह का व्यवहार करते होंगे, वे ही सहला रहे होंगे। सबों को न खलेगा। पुरुषों को तो चाहिए यह कि ऐसी हरकत न करें। तब उन्हें खोपड़ी न सहलानी पड़ेगी।

'पर तुम कहाँ बाज़ आओगी।'

'बाज़ आते रहे हैं, कब तक बाज़ आते रहें।'

उस कहानी को निकले ४-५ महीने हुए थे। एक पंजाबी सज्जन मेरे यहाँ आये और बोले—क्या आपने यह कहानी ख़ुद लिखकर देवीजी के नाम से छपवायी?

आप बोले—मैं वैसी कहानी लिख सकता हूँ?

वे सज्जन बोले—उस कहानी का जवाब 'हंस की चाल कौआ' नाम से एक सज्जन लिख रहे हैं।

आप बोले—देखिए, उनकी एक कहानी मेरे पास संशोधन के लिए आई है। आप इत्मीनान कर सकते हैं कि मैं नहीं लिखता। और यह कहकर कहने लगे—हमारे यहाँ के आदमियों के दिल बहुत संकुचित हैं। बिना पूरी बात जाने ही ऊट-पटांग बक देते हैं। यही सोचा होता कि ऐसी कहानी पुरुष लिख सकता है?

जब वे महाशय चले गये तो मुझसे बोले—तुम कहानी क्या लिखने लगीं, मेरे जान की आफ़त कर दी। तुम्हें क्या सूझी। आराम से रहती थीं। नहीं, मुफ़्त की बला अपने गले पाल ली। अबसे बेहतर है, मत लिखा करो।

मैं बोली—अब हटने से तो और भी काम न चलेगा। तब तो लोग यही कहेंगे कि चोरी पकड़ी गई तो शान्त हुए। ख़ुद तो नाम पैदा कर ही रहे थे, अपनी बीवी का भी नाम चाहते थे।

तो आप बोले—तुम इसमें सुख क्या पाती हो? रात-दिन बैठे-बैठे अपना ख़ून जलाती हो।

मैं बोली—यह ख़ून जलाना ही हुआ तो आप क्यों जलाते हैं? अपने ख़ून को आपके ख़ून से मैं महँगा नहीं समझती। जैसे आप कहते हैं कि शा है, शायद वैसे ही मुझे भी नशा हो आया हो।

आप बोले—नाहक़ अपनी जान परेशानी में डाल रही हो। मैं बोली—उनके डर के मारे मैं लिखना छोड़ दूँ? जब लोगों को मालूम हो जायगा तो ख़ुद झूठा दोष लगाने पर पछतायेंगे।

जब बन्नू खो गया था

सन् '२४ की बात है : बन्नू साढ़े तीन साल का था। एक दिन आप बाज़ार चारपाई लेने जा रहे थे। बन्नू भी चल पड़ा, धुन्नू को साथ लिये। दूकान के कोठे पर, दोनों बच्चों को छोड़कर चढ़े तो धुन्नू ख़ुद ऊपर पहुँचा। बन्नू अकेला। जब साथ में किसी को न देखा तो वह ग़ायब! आप नीचे उतरे तो घबराये। पास-पड़ोस के आदमियों से पूछने लगे : कोई लड़का आपने देखा? लोगों ने कहा : हमने नहीं देखा। आप घबराकर धुन्नू से बोले—बेटा, घर जा, पर अपनी माँ से न बतलाना कि बन्नू खो गया। धुन्नू की आँखों में आँसू थे। गला भरा हुआ था। मैंने पूछा—तुम्हारे बाबू बन्नू को लिये हुए कहाँ गये?

धुन्नू रोता हुआ बोला—बन्नू खो गया है। उसे बाबूजी ढूँढ़ रहे हैं। मैं बोली—आख़िर खोया कैसे? धुन्नू ने पूरा क़िस्सा सुनाया। उसके थोड़ी देर के बाद आप बन्नू को लिये आ रहे थे। मैंने पूछा, यह लड़का कहाँ रह गया था?

आप बोले—लड़का आज अगर न मिला होता तो मैं ज़िन्दा न मिलता, जब हम लोग दूकान के ऊपर चढ़ गये तो यह घूमते-घूमते एक दूकान के पीछे पहुँचा। और वहीं ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था। मैं ख़ुद रुआँसा हो रहा था कि बच्चे को ढूँढ़ने कहाँ जाऊँ? मेरी तो हिम्मत नहीं पड़ती थी कि क्या जवाब तुम्हारे सामने दूँगा। आज यह अगर न मिलता तो मैं भी न लौटता।

मैं बोली—कैसे आपने देखा?

बोले—मैं चारों तरफ़ ढूँढ़ रहा था और कान लगाये था कि कहीं रोने की आवाज़ तो नहीं आ रही है। यह वहाँ खँडहर में खड़ा बुरी तरह रो रहा था। इसके रोने की आवाज़ मुझे सुनाई पड़ी। मैं वहाँ गया। देखा, यह खड़ा-खड़ा रो रहा है—यह तो रो ही रहा था, मैं भी रो पड़ा। मैंने इसे गोद में ले लिया। बड़ी देर के बाद इसकी हिचकियाँ शान्त हुईं।

उस दिन से आप बाज़ार छोटे बच्चे को लेकर कभी नहीं गये।

कहारी का छोटा बच्चा

मेरे दोनों लड़के इलाहाबाद में पढ़ रहे थे। उन दोनों को अलग-अलग पत्र लिखने की आज्ञा थी। वे बराबर मुझसे कहते, कहीं धुन्नू बन्नू पर शासन न करता हो। मैं कहती—तो क्या बुरा? वह उससे बड़ा है। आप बोले—तुमने समझा नहीं। बच्चों में दीनता आ जाती है और अपने पिता के प्रति कुढ़ते रहते हैं। और अपनी जिम्मेदारी लड़कों पर क्यों छोड़ी जाय। क्योंकि उन्हें यह खयाल होता है कि वे जायज-नाजायज सब तरह का शासन करते हैं। प्रेम का शासन तो बहुत भला है! मगर वह किसमें है? आज कल कालेज में जाते ही लौंडों का मिथ्याभिमान जाग उठता है। इसी लिए मैं दोनों को स्वतंत्र रखना चाहता हूँ।

मैं—तो इससे क्या कुछ शासन की प्रवृत्ति रुक जायगी?

'क्यों नहीं रुकेगी? उसे वह तकलीफ़ देगा तो मुझे वह लिखेगा। मैं पूछूँगा।'

मैं—बहुत से पिता तो अपनी जिम्मेदारी छोड़ बैठते हैं।

'वे नालायक हैं। लायक़ पिता कब अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर डालेगा। अगर उसमें ज़िम्मेदारी उठाने की ताकत न हो तो किसी को दुनिया में लाने की क्या ज़रूरत?'

मैं—दुनिया में आदमियों का आना कब रुकता है।

'तो फिर ऐसे नालायकों की दुनिया में कमी भी नहीं। सब कुछ इंसान

करता है इज़्ज़त के लिए। जब अपने ही घर में इज़्ज़त न हुई तो क्या ? मुझे उन पिताओं के साथ सहानुभूति नहीं है जो दूसरों पर अपनी जिम्मेदारी डालते हैं।'

मैं—दुनिया में ऐसा ही होता है। मरने के बाद कोई देखने आता है कि क्या हो रहा है ?

'पहले से मर जाना तो अच्छा नहीं।'

'सभी इसी तरह सोचने लगें तो कैसे काम चले।'

वे अपने बच्चों को खुद पढ़ाते थे। ट्यूटर रखना उन्हें पसन्द न था। दो-तीन घंटे का समय वे प्रतिदिन लड़कों को पढ़ाने में लगाते। वे बच्चों को आदमी बनाना चाहते थे।

एक बार की बात है—मैं बनारस में थी। मेरी कहारी का छोटा बच्चा आग से जल गया। उसके सारे बदन में मलहम पुता हुआ था, कपड़े भी गन्दे हो गये थे। मेरा छोटा बच्चा बन्नू उसे कहीं बाहर पा गया। उसे देखकर बन्नू को दया आई। वह उस बच्चे को ज़ीने पर से दोनों हाथों का घेरा बनाकर, उसको अन्दर लाया। उस समय बाबूजी मेरे पास बैठे थे। लड़का बोला—अम्माँ, इसे कुछ खाने को दो। उस बच्चे का बदन देखकर तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। मैं डरी कि कहीं इसे धक्का न लग जाय, नहीं तो सारा बदन लहू-लुहान हो जाय। बन्नू का उस बच्चे पर प्रेम देख-कर उनकी आँखें भर आईं। मुझसे बोले—जल्दी दो न इसे कुछ खाने को। मैंने उसे मिठाई और फल दिये और बोली—इसे कैसे पहुँचाओगे ? धक्का लगते ही तो इसका शरीर रँग जायगा। तुम बाहर ही कुछ ले जाकर दे सकते थे ?

बन्नू—मैं इसे आसानी से पहुँचा आऊँगा। उस बच्चे को लेकर वह उसी तरह नीचे पहुँचा आया। आप बोले—यह लड़का बड़ा दयावान मालूम होता है। भला उसे वह कैसे लाया। मेरी भी हिम्मत उसे लाने की न होती। मैं तो चोट लगने को डरता। भगवान इसे जीवित रखे। तुम देखना,

तुम्हारा नाम यह रोशन करेगा। लड़का घिनौना भी तो बहुत था। माँ ही उसे छू सकती थी।

मैं—गदहा है।

'नहीं, नहीं। उसके आत्मा है।'

यों तो वे सभी को प्यार करते थे। मगर छोटे को बहुत ज़्यादा चाहते थे। कोई बच्चा बीमार पड़ता तो उन्हें बड़ी चिन्ता हो जाती।

एक बार बन्नू बीमार था, उसे चेचक निकली थी। उसे कोठे पर ले जाना था। तेरह वर्ष के बच्चे को गोद में लिये ऊपर ले जा रहे थे। उसे गोद में उठाये-उठाये खुद भी गिरने को हो गये। मैं पीछे खड़ी हुई थी। दोनों को सँभालती हुई बोली—बच्चे को उतारो। मैंने बन्नू से कहा—बेटा, चलो।

आप बोले—दोनों गिरते, जो तुम न बचातीं। कैसे तुम पहुँची?

'मुझे पहले से ही ख़तरा था।'

बन्नू चेचक की हालत में, रात में उठकर मेरी चारपाई पर चला आता। उससे समझाकर बोले—बेटा, पास मत सोया कर। अगर उन्हें भी माता निकल आई तो बड़ी मुसीबत होगी। तो पानी देनेवाला भी कोई न मिलेगा।

आप दोनों में बातें हो रही थीं कि मैं पहुँची। मैंने यह बातें सुनी थीं। मैं बोली—आप भी ख़ूब हैं। यह बीमारी मुझे न होगी।

तो आप बोले—यह छूत की बीमारी है, क्यों न लगेगी?

मैं—तो आप भी न हट जाइए। आपको भी तो पकड़ सकती है।

'मुझे तुम्हारी बीमारी की ज़्यादा चिन्ता है। क्योंकि तुम एक दिन भी इस हालत में पड़ जाओ तो मेरा किया कुछ भी न हो।'

मैं—मैं अपने को इतना आवश्यक नहीं समझती हूँ।

'तुम्हें क्या? आफ़त तो मुझ पर आयेगी।'

मैं—ख़ैर, मैं बीमार नहीं पड़ूँगी, आप घबराइए नहीं।

'मुझे इसी की चिन्ता है कि दोनों बालक बारी पूरी कर चुके, अब कहीं तुम भी न पड़ जाओ।'

मैं—बड़े आदमियों को कम निकलती हैं।

घर में कोई बीमार पड़े, उनको इतनी चिन्ता नहीं होती थी, क्योंकि मैं किसी भी रोगी की असली हालत उन्हें नहीं बताती थी। छोटी-मोटी बीमारियों का इलाज तो मैं खुद कर लेती। क्योंकि वे बहुत जल्दी घबरा जाते थे। वे मुझसे अक्सर कहते कि जिस दिन मैं कुछ लिखता-पढ़ता नहीं, मैं समझता हूँ, मेरे जीवन का वह एक दिन व्यर्थ गया। जहाँ तक हो सकता, मैं उन्हें घर-गृहस्थी से अलग रखती। यहाँ तक कि वे जब तक खुद अधिक बीमार न हो जाते, उनका लिखना-पढ़ना जारी रहता। हाँ, मैं जब ज़्यादा बीमार पड़ जाती तब उनकी क़लम रुक जाती। यहाँ तक कि एक बार मैं छः महीने तक बीमार रही। आप उन दिनों एक लाइन भी न लिखते थे। मैं उन दिनों गाँव में थी। गाँव की स्त्रियाँ मेरे पास हर समय बैठी रहतीं। आप बाहर बैठे-बैठे झुँझलाते। स्त्रियों की वजह से अन्दर आ न सकते थे। बाहर तबियत लगती ही न थी। मुझसे अक्सर पूछते—ये स्त्रियाँ तुम्हें क्यों घेरे बैठी रहती हैं?

मैं—क्या अनुचित करती हैं? बेचारी अपना काम-धंधा छोड़कर आती हैं, मेरा क्या बिगड़ता है।

'मेरी तबियत बाहर लगती नहीं।'

'आप कुछ काम क्यों नहीं करते? आख़िर कहानियों का इतना बड़ा तकाज़ा रहता है, उसे पूरा क्यों नहीं करते?'

'मैंने सबको भेज दिया है। तुम्हारी तबियत अच्छी हुई तो फिर लिखूँगा। नहीं तो भाड़ में जाय।'

मैं—मैं क्या मरी जा रही हूँ।

'तुम्हारे स्वास्थ्य-लाभ करने पर फिर मैं उसी तरह लिखा करूँगा। लोगों का आग्रह है कि यहाँ दवा करने को लाइए। पर तुम चलती क्यों नहीं?'

मुझे संग्रहणी थी। उनसे तो उनके घबराने के भय से बता न सकी; पर मुझे लगा कि इस बार मैं बचूँगी नहीं। इसी लिए मैं बाहर जाना पसन्द

न करती थी। उनसे बोली—यहाँ तो दवा हो ही रही है। जाने से क्या होगा।

'अच्छा क्या हो रहा है। अच्छे होने के लक्षण मुझे नहीं दिखाई दे रहे हैं।'

मैं—कुछ चिन्ता की बात नहीं। मान लो, मैं मर ही जाऊँ तो कौन कोयले की नाव डूब जायगी? बेटी धुन्नू सयाने ही हैं, बन्नू की परवरिश कर लेना। तब आँखों में आँसू लिये बोले—कोयले की नाव तो न डूबेगी; पर मैं डूब जाऊँगा।

उनके आँसू देखकर मेरी भी तबियत भर आई। अपने को सँभालती हुई बोली—मैंने तो मज़ाक किया, आप सच मान गये।

'तुम कितना ही छिपाओ। मुझे तो संदेह है।'

मैं—मैं बिल्कुल नहीं छिपा रही हूँ। अच्छी हो जाऊँगी।

उन दिनों वे नाश्ता-पानी अपने ही हाथों बनाते। जब मेरी तबियत कुछ-कुछ अच्छी होने लगी तो मेरे भाई आकर मुझे लिवा ले गये, आप भी मेरे साथ दो महीने तक रहे। मैं जब काफ़ी अच्छी हो गई तो मुझे छोड़कर वे आये। मेरे भाई ने आपसे कहा कि बहन को छोड़ जाइए। मैं देहात ले जाऊँगा। वहाँ की आब-हवा इनके अनुकूल पड़ेगी। तो आप बोले—देहात पहुँचा दो। हिफाज़त में त्रुटि न पड़े। बहुत कमज़ोर हो गई है।

मैं—इससे आप बेफ़िक्र रहिए। जब तक आपके पास थीं, तब तक आपकी ड्यूटी थी। अब भाई की ड्यूटी है।

आप बोले—मेरी ड्यूटी हमेशा है। शरीफ़ भाई हैं, इसी लिए उन पर ड्यूटी लगा रही हो। छोटे भाई पास ही बैठे थे, बोले—इसमें शराफ़त की क्या बात? हमारा उनका खून ही एक है। हम लोगों को आपने ख़बर ही नहीं दी।

आप बोले—मैं समझता था आपको ख़बर होगी।

भाई बोले—बिल्कुल ख़बर नहीं। जैसे ही ख़बर लगी, मैं दौड़ा आ गया।

इसके बाद आप बनारस चले आये।

'मैंने सब जीजा को दे दिये'

आज से पहले, १९२४ की बात है। मेरी सबसे छोटी भाँजी की शादी थी। बन्नू को खून के दस्त आ रहे थे। वहाँ जाने की पूरी तैयारी कर चुके थे। मैं लखनऊ थी। आप दुविधा में पड़े थे कि जाऊँ या न जाऊँ। मुझसे बोले—बताओ क्या करूँ। बन्नू की यह हालत। वहाँ भी जाना ज़रूरी है। मैं बोली—आप न जाएँ तो अच्छा। आप बोले—बहन मर चुकी है। तीनों लड़कियाँ रोएँगी। एक तो मा नहीं, दूसरे मैं भी न पहुँचूँ तो ग़ज़ब हो जाय। लड़कियों के रोने का प्रसंग आते ही खुद ही उनका गला भर आया। मैं बोली—जाइए। जो होगा, मैं देख लूँगी।

आप गये तो; मगर आपका जी बन्नू पर ही लगा रहा। चौथे दिन आप जब लखनऊ लौटकर आये तो बन्नू की तबियत कुछ सुधर रही थी। बन्नू को देखकर बोले—भगवान अच्छा ही करता है।

मैं बोली—आप भगवान के उपासक कब से हो गये?

आप बोले—देखो, बन्नू कितना बीमार था, बेचारा अच्छा हो गया।

मैं बोली—शादी ठीक-ठीक हो गई?

बोले—हाँ, शादी तो हो गई। मगर लड़कियों की बिदाई बड़ी दुखद होती है। वह छोटी बच्ची को बिदा ही करा ले गया। एक तो उस घर में खुद नहीं जाया जाता, दूसरे लड़कियाँ रोने लगती हैं, तो अजीब हालत हो जाती है।

मैं बोली—मिर्जापुर ही में तो शादी हुई है।

कहने लगे—कुछ भी हो। कैसे रहा जाय?

मैं बोली—जो रस्में अदा करने को मैंने कहा था, उन्हें पूरा कर दिया?

'भाई, यह सब तो मुझे नहीं आता। मैंने सब जीजा को दे दिये।'

२३ अगस्त सन् '२४ की घटना है। स्थान लमही गाँव, आप किसी काम से लखनऊ गए हुए थे। मैं घर पर थी, हमारे यहाँ उनके छोटे भाई के लड़का पैदा हुआ था। और उसके कुछ ही महिने पहले दोनों अलग हुए

थे। और कुछ आपस में मनमुटाव भी था। जिस रोज़ बच्चा होने को था उसी रात मुझे ख़बर हुई, और सुबह ९ बजे बच्चा पैदा हुआ।

रोज़ाना मेरा नौकर रात को घर चला जाता था। चूँकि मुझे शाम व ही ख़बर हो गई थी, उस रोज़ मैंने इस ख्याल से उसे रोक लिया कि रा को दाई बुलाने कौन जायगा। ख़ैर, सुबह हमारे जेठ जी ने नौकर को भे दिया। दाई तो ६ बजे आ गई, मगर नौकर ग़ायब, जब ८ बजे के क़री नौकर आया, मैंने उससे पूछा कि तुम अब तक कहाँ थे ?

नौकर—बड़े बाबू ने दाई बुलाने को भेजा था।

मैं बोली—दाई तो ६ बजे आ गई, और तुम कहाँ थे। मैंने डाँट क कहा—तुम इतने बड़े गँवार हो कि हमारे घर में जरा सा पानी भी नहीं है

नौकर चुपके से घड़ा लेकर नीचे गया। मेरी डाँट को नीचे जेठ जी अपन दरवाज़े पर सुन रहे थे। उन्होंने उलटा मुझे डाँटना शुरू किया, और जह तक बन पड़ा मेरे ऊपर ख़ूब बिगड़े, मुझे भी क्रोध आ रहा था। मैं इस ड से कि मैं भी कुछ कह न बैठूँ अपने दोनों कानों को बन्द करके बैठी रही और मुझे रोना भी आ रहा था, क्यों मैं बेगुनाह थी। और उसके साथ मैं कि की डाँट फटकार सुनने की आदी न थी। कोई घंटों वह मुझे डाँटते रहे। बाद वह तो ख़ामोश हो गए, लेकिन मैं दिन भर अनमनी-सी रही।

कोई ४ बजे वह लखनऊ से आये। दिन भर रोने से मेरे सर में दर्द भ था। जब वह आये, मुझसे पूछा कि तुम्हारी तबियत कैसी है। मैं बोली—'सर में दर्द है।' वह बोले—'क्या धूप में घूमी हो ?' उनका यह पूछन था कि मेरे आँखों में आँसू भर आए। मैं अपने आँसुओं को छिपाने क कोशिश करती हुई कमरे के अन्दर चली गई, मगर उनको मालूम हो गया वि कोई ऐसी बात है जिससे यह रंजीदा है। मेरे पीछे वह भी गये, और मेर हाथ पकड़कर पूछने लगे। उनका पूछना था कि मैं रो पड़ी। बोले—'सच बताओ तुम्हें हुआ क्या है ?' जब उन्होंने मुझसे ज़्यादा ज़िद की, ज़िद के साथ-साथ अपनी क़सम भी खिलाई। "बोलो—बात क्या है !"

मैंने उनको सब क़िस्सा बतला दिया। वह बोले—मैं अभी जाता हूँ, और पूछता हूँ कि आख़िर उनको हक़ क्या है, किसी के घर की औरतों पर बिगड़ने का ?

मैंने कहा—उनकी कुछ आदत ही है। भाभी पर भी तो बिगड़ा करते हैं।

वह बोले—भाभी पर बिगड़ें, भाभी पर बिगड़ने का उनका हक़ है, वह उनकी बीवी हैं। उनको दूसरे की बीवी पर बिगड़ने का क्या हक़ है ?

मैं बोली—जाने दीजिए। आदत की कोई दवा नहीं होती।

आप बोले—नहीं, मैं उनको समझा दूँगा।

मैं बोली—मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ उनसे कुछ न कहिएगा, नहीं तो वह कहेंगे कि बस आते ही आते लगा दिया। अपने घर में सभी लोग कहते हैं। कहना कोई जुर्म नहीं है। वह फिर उसी तरह तुम पर बिगड़ेंगे।

'और तभी बिगड़ते हैं जब मैं घर पर नहीं होता। उन्हें मुझ पर बिगड़ने का हक़ है, तुम पर नहीं, मैं उन लोगों की औरतों पर बिगड़ने नहीं जाता। और फिर तुम्हें उसी समय कह देना चाहिए कि नौकर अपने लिए रखे हैं या दूसरों के लिए।'

मैं बोली—मैं कैसे कह सकती हूँ, आखिर वह बड़े ठहरे।

'तो जब बड़ा अपना बड़प्पन नहीं रखता है तो हम मजबूर हैं।'

मैं बोली—मैं हाथ जोड़ती हूँ, आप उनसे कुछ कहिए नहीं। तुमको मेरे सर की क़सम।

आप बोले—अगर यही बात है तो तुमने मुझसे कहा क्यों ?

मैं बोली—मैं तो नहीं कहना चाहती थी, लेकिन आपने ही क़सम रखा दी।

आप बोले—तो तुम मुझी से शेर हो, और किसी से नहीं।

मैं बोली—शेर होने की बात नहीं है। वह मुझे डाँट रहे थे, पास-पड़ोस के आदमी सुनते रहे होंगे। मैं बोलती या आप कुछ कहेंगे, तो लोग कहेंगे कि दोनों भाइयों में झगड़ा हो रहा है। यह तो अच्छा नहीं हैं। ख़ैर उन्हें ही बड़ा हो जाने दीजिए, यह बातें कहने सुनने को बाकी रह जाती हैं।

वह बोले—तो मेरे डाँटने पर तुम्हें क्यों क्रोध आयेगा ? अब मैं भी डाँटा करूँगा ।

मैं बोली—आपका डाँटना मुझे नहीं अच्छा लगेगा ।

बोले—आख़िर मैं भी उम्र में तुमसे बड़ा हूँ ।

मैं बोली—बड़े छोटे का कोई सवाल नहीं है । आपका डाँटना मैं नहीं सह सकती, और फिर मैं जब कसूर ही नहीं करूँगी तो मुझे फिर डाँटेगा ही कौन ?

'तो तुमने सुबह क्या कसूर किया था, जिसके लिए तुम पर डाँट पड़ी थी ?'

गल्प-सम्मेलन रायबरेली

सन् '२५ की बात है, शायद फर्वरी का महीना था, हम लोग लखनऊ में थे, रायबरेली के स्कूल में गल्प-सम्मेलन था । लड़कों ने आपको सभापति चुना । आप वहाँ एक दिन का वायदा करके गये । लेकिन एक दिन के बजाय वहाँ चार दिन लग गये । चौथे रोज जब आप लौटे तो मैं बिगड़ी, आप जहाँ जाते हैं वहीं देर कर देते हैं, आप कभी यह भी नहीं सोचते कि देरी का घर-वालों के ऊपर क्या असर पड़ता होगा, आप तो वहाँ मौज करते हैं, मैं यहाँ परेशान, कि आख़िर बात क्या है कि आये नहीं ।

आप बोले—तुम मुझ पर अन्याय करती हो कि मैं कभी सोचता नहीं । मैं ख़ुद परेशान था यह सोचकर कि तुम परेशान होगी । मगर मैं मजबूर था । जाता तो मैं एक काम से हूँ मगर मेरे लिए वहाँ चार काम वह लोग पहले ही तैयार कर लेते हैं । अब जब मैं गया ही हूँ तो उन लोगों के सामने यह भी तो नहीं कहते बनता कि मैं किसी तरह रुकूँगा नहीं, भाग ही जाऊँगा । और शायद मेरी जगह पर तुम होतीं तो शायद मेरी तरह तुम भी मजबूर हो जातीं । मैं ख़ुद ही घर से निकलना नहीं चाहता, मगर क्या करूँ, कर्तव्य के आगे सर झुकाना ही पड़ता है । मैं तो कभी-कभी ख़ुद सोचता हूँ कि घर में बैठा रहूँ तो सबसे अच्छा रहूँ । मेरी इच्छा भी होती है,

मगर क्या करूँ, रहने भी तो नहीं मिलता, उस पर कहती हो कि मैं बाहर मौज करता हूँ। मेरी इच्छा तो यह होती है कि कलम-दवात हो और काग़ज़ हो, और तुम और हम हों। मैं तो कहता हूँ कि दस-बीस वर्ष के लिए इसी कमरे में कोई बन्द कर दे तो मैं बाहर जाने का कभी नाम भी न लूँ।

मैं बोली कि स्त्रियों की तरह घर में रहना होगा तो मालूम होगा, अभी तो जहाँ होता है घूमते ही तो रहते हैं।

'अच्छा तुम्हीं बताओ, जब तक मुझे कोई बाहर का काम नहीं होता, मैं इसी शहर में कहीं बाहर जाता हूँ? और जिसको तुम मौज समझती हो, मैं जल्दी से जल्दी भागने की कोशिश हमेशा करता रहता हूँ, जैसे कोई क़ैदी क़ैद से छूटते ही घर की तरफ़ भागता है, उसी तरह मैं भी भागता हूँ। मैं अपने दोस्तों में बरखुस मशहूर हूँ।

मैं बोली—यह तो सब तुम्हारी कहने की बातें हैं। जब आप कानपुर में थे, तब आप १० के पहले कभी घर नहीं आते थे। आप बोले—जब मैं १० के पहले कभी घर नहीं आता था, तब तुम्हीं कौन बैठी मेरी इन्तज़ारी करती थीं। ज़्यादातर तो तुम अपने घर रहती थीं, कानपुर में भी रहती थीं तो शायद मेरी ज़्यादा चिन्ता न थी। तुम थोड़ी भी मेरी चिन्ता करतीं तो शायद मैं घर से बाहर निकलने की क़सम खा लेता। तुम्हारी इस हालत पर भी मुझे महीने में २४ दिन दौरा करना होता तो उसमें मुशकिल से मैं १५ दिन दौरा करता था। और १५ दिन में कानपुर के आस-पास ही दौरा करता था, दूर के गाँवों में जाते जैसे मेरी नानी मरती, उस पर भी तुम्हारी यह शिकायत।

मैं बोली—जब मैं तुम्हारी परवाह ही नहीं करती थी, तब आप पूरा दौरा क्यों नहीं करते थे?

तब आप हँसकर बोले—तुम बेवकूफ़ थीं। मेरी परवाह नहीं करती थीं। मैं तो समझदार था। इसलिए तुम्हारी परवाह भी करता था और चाहता भी था। तुम तो हमेशा की पागल हो।

मैं बोली—मैं पागल हूँ या बेवकूफ हूँ, इन सब बातों को जाने दो। अच्छा तुमने मुझे दो दिन क्यों परेशान किया ?

तब बोले—पागलराम सुनो। मुझे कई जगह लोग पकड़ ले गये। जब कहीं पहुँच जाता हूँ तो सबको ज़रूरत निकल आती है। मैं ख़ुद पछताता था और परेशान था कि तुम परेशान होती होगी। अच्छा इससे तो फिर यह कहीं अच्छा होगा कि तुम मेरे साथ-साथ चला करो। तुमको भी शान्ति मिलेगी, और शायद इससे ज़्यादा मैं भी ख़ुश रहूँगा।

आज उन्हीं बातों को सोचती हूँ और बैठी-बैठी अफ़सोस करती हूँ। सब बातें तो भूल गईं, और बीत गईं। हाँ एक बात मुझे याद है कि मैं पागल हूँ। और शायद मरते दम तक याद भी रहेगी कि मैं पागल हूँ ; मरते दम तक याद भी रहेगी, क्योंकि उनको तो क़ैदख़ाने में भी कलम-दवात-काग़ज़ की और मेरी ज़रूरत थी। मगर मैं तो पागलपने के नशे में ऐसी पागल हूँ कि सब कुछ खोकर भी ज्यों की त्यों बैठी हूँ।

'मोटेराम शास्त्री'

सन् १९२६ की घटना है। आप 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। आप थे और पं० कृष्णविहारी मिश्र थे। आपने 'मोटेराम शास्त्री' नाम की एक कहानी लिखी। उस कहानी पर एक शास्त्री महाशय ने दोनों पर केस दायर किया। दोनों ने २००)-२००) की जमानत दाख़िल की। आप लोगों के साथ 'माधुरी' के मालिक विष्णुनारायण भी थे। उस कहानी पर विष्णुनारायणजी भी ख़ुश थे। तारीख़ के दिन दो बैरिस्टर देहरादून से आते थे जो नौ-नौ सौ रोज़ाना लेते थे। मेरे भाई और बहनोई भी जाते थे। कानपुर के सारे वकील और बैरिस्टर सब आ गये थे। कचहरी खचाखच भरी रहती। ख़ैर, बहस वग़ैरह के बाद मजिस्ट्रेट ने हुक्म सुनाया। आप दोनों बरी हो गये।

मजिस्ट्रेट साहब "मोटेराम शास्त्री" से बोले—आपको और कुछ कहना है ? अब तो सबसे बेहतर यही है कि आप चुपके से खिड़की के बाहर निकल

जाइए। जैसे ही मजिस्ट्रेट साहब ने यह कहा कि दोनों आदमी मुस्करा दिये। इसके बाद 'माधुरी' का वह अङ्क सबका सब बिक गया।

वैद्यजी घर आये तो बोले—चाहे तब 'मोटेराम शास्त्री' को कोई न जानता रहा हो, लेकिन अब दुनिया जान गई। माधुरी-आफ़िस में इस पर महीनों चर्चा रही।

कुआँ बनवाया

आज से पन्द्रह साल पहले की बात है एक दिन सुबह कहारी पानी भरने आई और घड़े लेकर कुएँ पर गई। कुएँ की जगत कच्ची थी। वह फूल कर गड़ारी सहित कुएँ में जा पड़ी। कहारी रुआँसी होकर आई और बोली—बाबूजी, आज मैं गिरते-गिरते बची। चलिए, देखिए, कुएँ में सब गिर गया। मैं तो बच गई। नहीं तो मैं भी अन्दर चली जाती।

आप ऊपर की बातें सुनकर, भीतर आने के बजाय भट्टे पर जाकर ४००० ईंटों के लिए आर्डर दे आये।

मैं घर में नाश्ता लिये बैठी थी। आप वहाँ से साढ़े नौ बजे के लगभग आये। मैं बोली—नाश्ते के समय आप कहाँ चले गये?

आप बोले—तुमने कुएँ की हालत नहीं देखी? महरी गिरने से बची। मैं बोली—पहले आप यह बताइए, आप थे कहाँ?

आप बोले—मैं ईंटों के लिए कहने गया था। आख़िर तीन महीनों के बाद अच्छा हुआ हूँ तो कुछ तो तावान देना ही पड़ेगा।

मैं बोली—कुआँ तो पंचायती था।

आप बोले—सबको न दिखाई पड़े तो मैं भी अन्धा हो जाऊँ। और कहीं आज तुम्हारी महरी कुएँ में गिरी होती तो सबसे पहले तुम्हीं रोतीं। मैं तुमसे यह पूछता कि सब औरतें तो हैं ही, तुम्हीं क्यों रो रही हो? न गाँव भर की औरतें रोतीं, न गाँव भर के मर्दों को दिखलाई पड़ता। इसलिए तुम मुझसे कुछ कह नहीं सकतीं।

मैं बोली—खाली ईंटों से कुआँ बन जायगा। उसमें तीन-साढ़े तीन सौ रुपए पड़ेंगे। कम से कम १००) रुपये का पत्थर लगेगा।

आप बोले—नहीं, नहीं।

मैं बोली—मैं हिसाब जोड़कर बताऊँगी तो पता चलेगा। जब दरवाज़े पर ईंट आ जायगी तो उसे पूरा करना मेरा काम हो जायगा।

'मैं तो यही चाहता था कि किसी तरह यह पूरा हो।'

२-३ रोज़ के बाद 'माधुरी' आफ़िस से बुलावा आया। आप वहाँ संपादन करने चले गये। उसे मैंने बनवाया। बनवाई में ३७५) लगे। जब वे आये तो उनके सामने हिसाब रखने पर वे बोले—ख़ैर यह काम तो हो गया। मैंने अगर ईंटे न रखी होतीं तो यह काम न होता।

मैं बोली—आपकी यह आदत है। एक-न-एक बला मेरे सिर रख देते हैं।

तो आप बड़े ज़ोर से हँसकर बोले—मुझे विश्वास रहता है कि मैं जिस काम में हाथ लगा दूँगा उसे तुम पूरा कर दोगी।

मैं बोली—और मेरा काम ही क्या है ?

'हाँ, तुम बहादुर आदमी हो।'

'मैं ऐसी बेवकूफ़ नहीं हूँ कि तुम्हारे ऊपर बोझा न लाद सकूँ; पर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है।'

वे नौकरानियों से कभी काम न लेते थे। कोई बोझा उठाना हो तो वे ख़ुद उठा लें। अगर घर में नौकर न हो, नौकरानी ही हो तो वे अपने हाथ से अपनी धोती साफ़ कर लें। उनको बाबू बनना बहुत बुरा लगता। ऐसी हरकतें दूसरों को भी करते देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आता। बच्चों के आलसी होने के डर से वे ज़्यादा नौकर नहीं रखते थे। उनके दिल में बड़े-छोटे का लिहाज भी बहुत रहता।

बहनोई

मेरे बहनोई ने दूसरी शादी की, उनके यद्यपि पहली बीवी से बच्चे थे। उन्होंने दूसरी शादी कर ली। और सारी संपत्ति दूसरी बीवी के नाम कर दी। कोई तीन लाख की संपत्ति उनके पास थी। इसी पर हम दोनों में विवाद हो रहा था।

मैं--उन्होंने अच्छा नहीं किया।

आप बोले—तब क्या करते ?

'और बच्चों को भी देते।'

'बच्चों के हाथ-पैर हो गये। कमाते हैं।'

'अगर कुछ न होता तो वे क्या करते ? तब तो बीवी बच्चों ही के ज़िम्मे पड़ती।'

'होने पर यह कोई नहीं समझता। जब न होता तो देखा जाता। फिर कौन यही निश्चित है कि उनकी बीवी की परवरिश वे कर ही देते ?'

'तभी आपने 'बेटोंवाली विधवा' नाम की कहानी लिखी ?'

'मैं आये दिन इसी तरह के केस देखा करता हूँ।'

'आप कैसे सब के दिल की बातें समझ लेते हैं ?

'तुम तो ख़ुद लेखिका हो, समझो। बहुत कम ऐसे लड़के होते हैं जो अपने पिता के बराबर अपनी बहनों और मा को प्यार करते हों।'

'आप तो विमाता ही के लड़के थे। विमाता में माता का कोई भी प्यार न था। पर आप तो माता ही समझते रहे।'

'क्या इसी तरह हमारे लड़के भी हैं ? तुम देखती ही हो कि वे लोग कभी-कभी बेधड़क तुम्हारी आज्ञा टाल देते हैं। इससे ज़्यादा बुरा मुझे कुछ नहीं लगता। इसी लिए मैं हमेशा चाहता हूँ कि बच्चों को कुछ करने के लिए कभी न कहा जाय। इसी तरह सोच लो उन्होंने दूरंदेशी की होगी। वह वकील हैं, समझदार हैं, संपत्ति भी है। फिर जिसे जीवन-काल में सबसे ज़्यादा प्यार करते हैं, उसे मरने के बाद किसके सहारे छोड़ें ! कोई भी शरीफ़

आदमी यहीं करता। मरने में अपना वश तो होता नहीं। नहीं तो कोई जीवन-संगिनी छोड़कर जाना चाह सकता है।'

मैं—बहुत से तो आदर की कौन कहे, डण्डे से स्वागत करते हैं।

'वे पशु हैं और गृहस्थ-जीवन का कोई भी रस उन्हें नहीं मिला है। नहीं तो ऐसा कौन चाहेगा। फिर दूसरों पर अपनी ज़िम्मेदारी कैसी? लेखक या तो देखा हुआ लिखता है, या जो लिख रख रहा है, उसे कभी अवश्य देखेगा। उन्होंने जो कुछ किया, अच्छा किया। मैं उनकी तारीफ़ करता हूँ। हर पुरुष को ऐसा ही करना चाहिए।'

मैं—स्त्री कौन बड़ी चतुर है? तब भी तो इन्हीं के जिम्मे वह रहेगी। उन लोगों के भाव और बुरे हो गये होंगे।

'तुम तो बच्चों की-सी बात करती हो। जब उन्होंने ऐसा किया है, तो जज भी नियुक्त कर जायँगे।'

मैं—जज हर वक़्त कहाँ रहेगा। घर में तो बच्चे ही रहेंगे।

'जज अपने इशारे ही से सब कुछ कर सकता है, वह पुलिस भी दे सकता है। वह मुझसे कहते भी थे कि मैंने अपने घर के लिए एक जज भी नियुक्त किया है। उनकी बीवी को कुछ भी बोलना न पड़ेगा। जज सब इन्तज़ाम कर देगा।

मैं—तो शादी करके उन्होंने क्या लाभ उठाया?

'उनकी ख़ुशी। इन्सान अपनी तपस्या का फल भोगना चाहता है। यह क्या कि बच्चों के ही लिए सब कुछ करो। उन्हें पढ़ा देने तक अपना धर्म है। वे तो दूसरों का प्रबन्ध कर सकते हैं।'

मैं—बच्चों के पास रहता तो दूसरों का हो जाता?

'उनके मरने से उनकी बीवी ही विधवा होगी, न कि बच्चे। वे तो मरने के बाद ख़ुश होंगे। अगर मेरा वश होता तो उनकी सारी सम्पत्ति उनके छोटे बच्चे और उनकी बीवी को ही देता।'

मैं—यदि सम्पत्ति न होती तो छोटे बच्चे तथा बीवी किसके ज़िम्मे जातीं?'

'जिनके पास कुछ नहीं होता उन्हें दुर्दशा भी तो भोगनी पड़ती है। आँख खोलकर देखो।'

'कर्ज़ा तो लड़कों को ही देना पड़ता है।'

'जिसके पास भला सम्पत्ति होगी, उसके पास कर्ज़ा होगा ?'

मैं—कर्ज़ा न हो तब तो ठीक है।

'मेरी बात तुम मानो। मैं बिल्कुल सच कहता हूँ। उनका यह काम मुझे बहुत प्रिय लगा। मेरी निगाह में उनकी इज़्ज़त बढ़ गई। यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो मैं उन्हें धोखेबाज़ समझता।'

१६२८

लखनऊ में तब मैं थी। एक दिन मेरे घर पर कालाकाँकर के राजा अवधेशसिंह आये। उनके साथ और भी कई आदमी आये। बातें चलती रहीं। आपने बेटी को आवाज़ दी—बेटी, पान दे जा। मैंने पान और इलायची भेजवा दी। जब वे चले गये तो आप अन्दर आकर बोले—कल मुझे ८ बजे कालाँकाकर की कोठी पर जाना है।

मैं बोली—आगन्तुक महाशय कौन थे ?

'राजा साहब ख़ुद थे ? क्या बताऊँ कल एक कहानी 'माधुरी' को ज़रूर देनी है। और एक दूसरी बला भी आ पड़ी।'

मैंने कहा—उन लोगों को आपने कहाँ बैठाया ?

आप बोले—जहाँ मैं बैठा था।

मैं बोली—यह तो ठीक नहीं। मैंने बीसों बार आप से कहा कि दो-चार कुर्सियाँ आप लाकर रख लें। इन लोगों ने क्या सोचा होगा ? और आपको कैसे अच्छा लगता है ?

आप बड़े ज़ोर से हँसते हुए बोले—तो फिर मैं राजा लोगों के लिए थोड़े ही इन्तज़ाम करता हूँ। मैं तो मज़दूर हूँ। जो मोटा-झोटा खाने-पहनने को मिला, खाया-पहना। मेरी गद्दी तो ज़मीन है। अब उन लोगों को

अच्छा न लगे तो इसके लिए मैं क्या करूँ।

मैं बोली—तो इससे क्या ? अपने को तो ख़ुद चाहिए। क्या हर एक आदमी अपने को अच्छा नहीं दिखलाना चाहता ?

आप बोले—तुम्हारा कहना ठीक है, पर यह यूरोप नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान है। यहाँ की आमदनी तो छः पैसे रोज़ की है। बहुतों को तो भरपेट रोटी भी नहीं मिलती। तुम क्या कहती हो ? वह विलासिता के सामान कहाँ से जुटा सकता है ? और अगर लोग मर-मरकर जुटाते हैं तो यह ग़रीबों के प्रति अन्याय है।

मैं बोली—महज़ आप ही के करने से सब कुछ थोड़े ही ठीक हो जायगा ?

वह बोले-—तो इसका मतलब यह थोड़े ही होता है कि सबके साथ मैं भी कुएँ में गिरूँ। अपना-अपना सिद्धान्त अलग होता है। मैं इसी में ख़ुश हूँ। न कोई चिन्ता, न कोई फ़िक्र ! हमें किसी भी चीज़ की चिन्ता नहीं है। कुर्सी-मेज मँगा लूँ तो कल तुम कहोगी क़ालीन भी चाहिए। फिर नौकरों की चिन्ता। एक-पर-एक लगा ही रहेगा। जो इनके फेर में पड़े रहते हैं, उन्हें इसी से फ़ुर्सत नहीं मिलती। इसी विलासिता का परिणाम है कि हम लोगों को गुलाम होना पड़ा। आज कितना ही हाथ-पैर हिलाते-डुलाते हैं पर कुछ कर नहीं पाते। उन्हीं लोगों के पापों का परिणाम है कि हम लोग गुलाम हैं और ऊपर से पाप करते जायँ तो न जाने क्या परिणाम होगा।

मैं बोली—आप भी ज़रा-ज़रा सी बात में क्या-क्या सोच जाते हैं !

आप बोले—यहाँवालों को बहुत सादे ढङ्ग से गुज़र करना चाहिए। हम लोगों को अपने से छोटों को देखना है। उनको देखो और उनमें मिलने की कोशिश करो। यही हम लोगों को चाहिए।

मैं बोली—आज स्वराज्य की आवाज़ लगानेवाले ये ही कुर्सी-मेज़वाले हैं। ग़रीबों के दिमाग़ की उपज यह नहीं है। नंगे और भूखे क्या कर सकते हैं ?

तब आप बोले—जैसे कि मोटे आदमियों ने ही आज़ादी खोई, वैसे ही पाने की चेष्टा करने में लगे हैं। कोई हमारे साथ ये एहसान नहीं कर रहे हैं। मनुष्य सब दिन नहीं पतित रह सकता। सरकारी मायाजाल यह नहीं है। आत्मा की पुकार को आदमी कहाँ तक ठुकरा सकता है? बड़े-बड़े चोर-डाकू भी अपने अपराध को समझ लेते हैं।

मैं बोली—यह सब भाग्य की बातें हैं। भगवान् भी इनके साथ नहीं रहम करते। आप बहुत हाय-हाय करें तो इससे क्या? हमको कुछ मिल थोड़े ही जाता है!

आप बोले—मैं ही क्या रहम उनके साथ कर सकता हूँ? उनका भला तो उसी समय होगा, जब उनमें शक्ति आयेगी।

मैं बोली—तब भगवान् को चाहिए कि उन ग़रीबों में ताकत भरे।

आप बोले—भगवान् मन का भूत है, जो इन्सान को कमज़ोर कर देता है। स्वावलम्बी मनुष्य ही की दुनिया है। अंध-विश्वास में पड़ने से तो रही-सही अक्ल भी मारी जाती है।

मैं बोली—गान्धीजी तो दिन-रात 'ईश्वर-ईश्वर' चिल्लाते रहते हैं।

आप बोले—वह एक प्रतीक भर है। वह देख रहे हैं कि जनता अभी बहुत सचेत नहीं है। और फिर जो जनता सदियों से भगवान् पर विश्वास किये चली आ रही है, वह यकायक अपने विचार बदल सकती है? अगर एकाएक जनता को कोई भगवान् से अलग करना चाहे तो सम्भव भी नहीं। इसी से वे भी शायद भगवान् का ही सहारा लेकर चल रहे हैं।

मैं बोली—आप भले न मानें, दुनिया थोड़े ही नास्तिक हो सकती है।

तब आप बोले—मेरा कहना झूठ नहीं है। तुम सच मानो, जो भी आज धर्म के नाम पर हो रहा है, सब अन्ध-विश्वास है। यह सब मूर्खों को बहकाने के तरीक़े हैं। तुम ख़ुद सोच सकती हो, यह सब स्त्रियों पर माया-जाल चलता है। इसी का नाम अन्ध-विश्वास है।

मैं बोली—क्या स्त्रियों के हिस्से में मूर्खता ही पड़ी है?

आप बोले—इसमें नाराज़ होने की तो कोई बात नहीं है। और मैं यह थोड़े ही कहता हूँ स्त्रियाँ जन्म से ही मूर्ख होती हैं। पुरुष जाति ने उन्हें मूर्खता का पाठ पढ़ाया।

मैं बोली--आप लोगों ने ऐसा क्यों किया ?

आप बोले--उसी तरह जैसे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने हम लोगों को ? जैसे हम लोगों के मूर्ख होने से सरकार को लाभ है, वैसे ही स्त्रियों को मूर्ख बनाने में पुरुषों को।

मैं बोली--सरकार को तो ख़ैर बहुत से लाभ हैं ; पर आप लोगों को इससे क्या लाभ हुआ ? स्त्री-पुरुष तो एक-दूसरे के अङ्ग हैं। आधा अङ्ग कट जाय तो क्या आधा अङ्ग ख़ुश रह सकता है ? तिस पर आप लोग समझदारी का दम भरते हैं।

आप हँसते हुए बोले--ये पुरानी बातें हैं। जो सरकारें आईं, उन्होंने यहाँ की पब्लिक को बेवक़ूफ़ बनाना चाहा। पुरुष वर्ग से भी कमज़ोर स्त्रियाँ थीं। पुरुष तो अपने को सँभाल ले गये। पर स्त्री अपने को न सँभाल सकी। तुम देखती ही हो कि मन्दिर और मस्जिद के झगड़े में गवर्नमेण्ट कितनी दिलचस्पी लेती है। उसी तरह यहाँ के पुरुष भी दिलचस्पी लेते रहे होंगे।

मैं बोली--तब आप स्त्रियों को कैसे मूर्ख बनाते हैं ? पुरुष-वर्ग स्वयं मूर्ख है जो स्त्रियों को मूर्ख बनाने चला है। यह तो उसी तरह हुआ कि दूसरों के असगुन के लिए अपनी आँख फोड़ ले। समझदारी इसे नहीं कहते।

आप बोले--स्त्रियाँ क्यों नहीं युग के अनुसार हो जातीं ?

मैं बोली--होंगी वे पर आप होने तो दें। आपको अपने पाप का प्रायश्चित्त स्वयं करना चाहिए।

तब आप बोले--स्त्रियों को अपनी उन्नति ख़ुद करनी चाहिए।

मैं बोली--आप लोगों ने उनकी शक्ति नष्ट कर दी है। इसी वजह से उन्हें ज़्यादा मान-अपमान महसूस भी नहीं होता।

आप बोले--नहीं। यह बात तो नहीं है। मैं बोली—है क्यों नहीं ?

यह सब बातें करते हुए उनके चेहरे पर चिन्ता के बहुत गम्भीर भाव थे। मैं रह-रहकर देखती जाती। पर विवाद जारी था।

मैंने ८०) का फर्नीचर मँगवाया। उससे कमरा सजा दिया। पर वे हमेशा ज़मीन ही पर बैठते। ज़मीन पर एक डैस्क रख लेते और एक डैस्क बच्चे के लिए होती। उस बच्चे को रोज़ सुबह आप पढ़ाते। हाँ, उस कमरे में, कोई आ जाता तो उसे ले जाते। रोज़ाना उसकी सफ़ाई स्वयं वे करते। मैं अपने दिल में सोचती मैंने नाहक़ फर्नीचर मँगवाकर और उनकी बला बढ़ा दी। झाड़ना-पोंछना उनका वक्त ख़राब करने लगा।

एक दिन उनके पास जाकर मैं बोली—आप मत साफ़ किया कीजिए। मैं स्वयं इसकी सफ़ाई करूँगी।

आप बोले--नहीं मैं स्वयं साफ़ कर लिया करूँगा। तुम्हारी मदद की ज़रूरत नहीं।

मैं बोली—मैं आपकी क्या मदद करूँगी!

जब मैंने झाड़न छीन लिया तो आप प्यार से बोले--तुम यह सब काम मत किया करो। कोई आदमी आ जायगा तो क्या सोचेगा? अपने दिल में सोचेगा अच्छे रईस हैं। बीवी सफ़ाई करती है, आप खड़े देख रहे हैं।

मैं बोली—तो इसमें क्या गुनाह है?

आप बोले—आजकल की तहज़ीब के ख़िलाफ़ है।

मैं बोली—आप की बात भी मुझे भद्दी लगती है।

आप बोले—अपना काम करने में कुछ बुराई नहीं है।

उस दिन से मैं ख़ुद उसे साफ़ करने लगी। और उनसे कह देती, नौकर ने साफ़ किया है। इसी तरह जूते में पालिश करने से भी उन्होंने मना किया था। यह सब बातें ज़रूर मामूली हैं, पर सोचिए कितना उनके अन्दर विवेक था। मेरे दिल में बार-बार आता है कि वे किसी सन्त से भी कम नहीं थे। मेरे लिए यह बड़े गर्व की बात है कि वे मेरे थे और मैं उनकी हूँ।

लखनऊ : महात्माजी के दर्शन

सन् १९२८ की बात है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की मीटिंग थी। और प्रयाग में ही वर्किंग कमेटी की भी मीटिंग थी। महात्मा गान्धी भी उन दिनों प्रयाग में आनेवाले थे। आपको महात्मा गान्धी से मिलने की बहुत दिनों से ख़्वाहिश थी। यह बात सुन्दरलालजी को मालूम हुई कि आपको महात्मा गान्धी से मिलने की इच्छा है। उनका पत्र आया, आप एकेडेमी की मीटिंग से दो दिन पहले आ जाइए, महात्मा गान्धी से मुलाकात कर लीजिए। आप मुझसे बोले—आज तो मैं जाऊँगा।

मैं बोली—आप तो कहते थे कि चौथे दिन जाना है, फिर आज क्यों जा रहे हैं?'

आप बोले—मैं दो दिन पहले जा रहा हूँ, महात्माजी से मिलना चाहता हूँ।

मैं बोली—तब तक क्या महात्माजी चले जायँगे! एकेडेमी की मीटिंग में तो जाना ही है।

आप बोले—मुमकिन है, तब तक महात्माजी चले जायँ, ज़्यादा दिन कहीं वह ठहरते भी तो नहीं।

मैं बोली—तो अच्छा जाइए।

'लोगों को यह सुन कर आश्चर्य होता है कि मैं अभी तक महात्माजी से नहीं मिला।'

वे दो दिन पहले भी गये और एकेडेमी की मीटिंग के दो दिन बाद लौटे, मगर फिर भी महात्मा गान्धी के दर्शन न कर पाये। जब घर आये, मैंने कहा—दो दिन पहले तो गये और दो दिन के बाद आये, तब भी आपको महात्मा गान्धी के दर्शन नहीं हुए?

आप बोले—उन बिचारे को फ़ुरसत कहाँ? सैकड़ों आदमी तो उनसे मिलनेवाले ठहरे, उनको एक मिनट की भी फ़ुरसत नहीं, सैकड़ों तो उनको रोज़ाना चिट्ठियाँ देखनी पड़ती हैं।

मैं बोली—आख़िर और लोग उनसे कैसे मिलते हैं, कि आज ही उनको काम फट पड़ा है, यह काम तो उनके हमेशा के हैं।

आप बोले—तो वह लोग हाथ धोकर दर्शन के पीछे ही पड़ जाते हैं। मैं केवल दर्शन ही तो करना चाहता नहीं था। मैं तो १०-५ मिनट उनसे समय लेता। और जो कुछ वह लिखते पढ़ते हैं, वह तो मैं कहीं न कहीं पढ़ ही लेता हूँ। मैं सुनता हूँ कि महात्मा जी जैसे और सब बातों में निपुण हैं, उसी तरह वह बात करने में भी बहुत कुशल हैं, इसी आशा को पूरा करने के लिए मैं गया था।

मैं बोली—अफ़सोस! चार दिन का समय भी गया और वह आनन्द भी न मिल पाया।

आप बोले—हाँ, इसको तो मैं अपनी बदक़िस्मती कहता हूँ।

फिर उस समय के बाद सन् '३५ में 'हिन्दी परिषद्' की मीटिंग वर्धा में हुई। उस समय आप 'हंस' के विषय में बातचीत करने के लिए वर्धा गये, 'परिषद्' को 'हंस' देना था। और उसके साथ ही साथ, हिन्दी और हिन्दुस्तानी के विषय में भी सलाह-मशविरा करना था। उसमें महात्माजी ने स्वयं बुलाया था। तब आप गये, और चार दिन तक वर्धा में रहे। जब वहाँ से आये, तब महात्माजी के विषय में कहने लगे—जितना मैं महात्माजी को समझता था, उससे कहीं ज़्यादा वह मुझे मिले। महात्माजी से मिलने के बाद कोई ऐसा नहीं होगा जो बग़ैर उनका हुए लौट आये। या तो वह सबके हैं या वह अपनी ओर सबको खींच लेते हैं। उनकी शक्ल-सूरत, और बातों में इतना खिंचाव है कि उन्हें जो भी देखता है, उनकी तरफ़ ख़ामख़ाह खिंच जाता है। मैं कहता हूँ कि बुरे से बुरा आदमी भी जो उनके समीप जाय तो उनका ही होकर लौटेगा; महात्मा गान्धी के समीप कोई कितना ही झूठा जाय, मगर उनके सामने उसे सच बोलना ही पड़ेगा।

मैं बोली—यह कोई बात नहीं है। महात्मा गान्धी जिन्ना को क्यों नहीं ठीक कर लेते? जिन्ना का ठीक करना आसान काम नहीं है।

'कोई समय आयेगा, जब जिला ठीक हो जायँगे। क्योंकि महात्मा गान्धी एक पहलू के आदमी नहीं हैं !'

मैं बोली—तो क्या आप भी महात्मा गान्धी के तरफ़दार हो गये ?

'अरे तरफ़दार होने को तुम कहती हो, मैं उनका चेला हो गया। चेला तो उसी समय हुआ, जब वह गोरखपुर में आये थे।'

मैं बोली—चेले तब हुए थे, दर्शन अब कर पाये।

आप बोले—चेला होने के मानी, किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों को अपनाना।

मैं बोली—तो आपने अपना लिये ?

आप बोले—मैंने अपना लिये ! अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने 'प्रेमाश्रम' लिखा है। सन् '२२ में छपा है।

मैं बोली—वह तो पहले ही से लिखा जा रहा था।

आप बोले—इसके मानी यह हैं कि मैं महात्मा गान्धी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

मैं बोली—तो इसमें महात्मा गान्धी की कौन ख़ास बात हुई ?

आप बोले—बात यह हुई कि जो बात वह कराना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ। इसके मानी यह हैं कि मैं उनका बना बनाया क़ुदरती चेला हूँ।

मैं बोली—यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है।

आप बोले—दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गान्धी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख करके उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गान्धी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।

मैं बोली—आप कैसे बनाते हैं हिन्दुस्तानी ?

आप बोले—जो कुछ मैं लिखता हूँ वह हिन्दुस्तानी में लिखता हूँ।

मैं बोली—तो आपके लिखने से हिन्दुस्तानी हो गई।

आप बोले—जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनो मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिंदुस्तानी और मेरा खयाल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी भी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।

मैं बोली—यह तो हिन्दुस्तान है यहाँ तो आम भाषा हिन्दी होनी चाहिए थी ?

आप बोले—यह हिन्दुस्तान नाम कैसे पड़ा, तुमको मालूम है ? यहाँ जब पहले मुसलमान आकर आबाद हुए और उन्होंने इसको फतह किया, तभी इसका नाम पड़ा था हिन्दुस्तान। नाम तो पड़ गया हिन्दुस्तान, मगर भाषा के लिए अभी झगड़ा मचा हुआ है। यह झगड़ा तभी हटेगा, जब हिन्दू और मुसलमान ठंडे दिल से सोच लेंगे कि हम दोनों को साथ ही साथ रहना है। और दोनों की भाषा मिला करके बने हिन्दुस्तानी। जब तक दोनों हिन्दू-मुसलमान अपनी-अपनी भाषा के लिए रोएँगे, तब तक इस मसले का सुलझना नामुमकिन है।

मैं बोली—तो क्या करें ? हिन्दी में फारसी के शब्द घुसेड़ दिये जायँ या उर्दू में संस्कृत के ?

आप बोले—इन दोनों को एक दूसरे में घुसेड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। भाषा आम बोल-चाल की हो। फिर चाहे हिन्दी में फ़ारसी के शब्द आ गये हों, और चाहे उर्दू में संस्कृत के, उनको लेने में किसी को एतराज न चाहिए। फिर जब मुल्क में कई कौमें आकर मिल गईं, तब शुद्ध तो मुल्क ही न रहा, तब शुद्ध भाषा कैसी ?

मैं बोली—अच्छा तो फिर कुछ दिनों में जब शायद रोटी-बेटी का भी सवाल आये, तो हिन्दू लोग इसको कैसे गवारा करें ? आप बोले—वह भी बाक़ी थोड़े ही है। बादशाही जमाने में तुम्हारे यहाँ के बड़े-बड़े राजों ने मुसलमानों के साथ बड़ी ख़ुशी से अपनी बहन और

'कोई समय आयेगा, जब जिन्ना ठीक हो जायँगे। क्योंकि महात्मा गान्धी एक पहलू के आदमी नहीं हैं !'

मैं बोली—तो क्या आप भी महात्मा गान्धी के तरफ़दार हो गये ?

'अरे तरफ़दार होने को तुम कहती हो, मैं उनका चेला हो गया। चेला तो उसी समय हुआ, जब वह गोरखपुर में आये थे।'

मैं बोली—चेले तब हुए थे, दर्शन अब कर पाये।

आप बोले—चेला होने के मानी, किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों को अपनाना।

मैं बोली—तो आपने अपना लिये ?

आप बोले—मैंने अपना लिये ! अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने 'प्रेमाश्रम' लिखा है। सन् '२२ में छपा है।

मैं बोली—वह तो पहले ही से लिखा जा रहा था।

आप बोले—इसके मानी यह हैं कि मैं महात्मा गान्धी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

मैं बोली—तो इसमें महात्मा गान्धी की कौन ख़ास बात हुई ?

आप बोले—बात यह हुई कि जो बात वह कराना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ। इसके मानी यह हैं कि मैं उनका बना बनाया क़ुदरती चेला हूँ।

मैं बोली—यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है।

आप बोले—दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गान्धी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख करके उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गान्धी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।

मैं बोली—आप कैसे बनाते हैं हिन्दुस्तानी ?

आप बोले—जो कुछ मैं लिखता हूँ वह हिन्दुस्तानी में लिखता हूँ।

मैं बोली—तो आपके लिखने से हिन्दुस्तानी हो गई।

आप बोले—जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिंदुस्तानी और मेरा खयाल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी भी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।

मैं बोली—यह तो हिन्दुस्तान है यहाँ तो आम भाषा हिन्दी होनी चाहिए थी?

आप बोले—यह हिन्दुस्तान नाम कैसे पड़ा, तुमको मालूम है? यहाँ जब पहले मुसलमान आकर आबाद हुए और उन्होंने इसको फतह किया, तभी इसका नाम पड़ा था हिन्दुस्तान। नाम तो पड़ गया हिन्दुस्तान, मगर भाषा के लिए अभी झगड़ा मचा हुआ है। यह झगड़ा तभी हटेगा, जब हिन्दू और मुसलमान ठंडे दिल से सोच लेंगे कि हम दोनों को साथ ही साथ रहना है। और दोनों की भाषा मिला करके बने हिन्दुस्तानी। जब तक दोनों हिन्दू-मुसलमान अपनी-अपनी भाषा के लिए रोएँगे, तब तक इस मसले का सुलझना नामुमकिन है।

मैं बोली—तो क्या करें? हिन्दी में फारसी के शब्द घुसेड़ दिये जायँ या उर्दू में संस्कृत के?

आप बोले—इन दोनों को एक दूसरे में घुसेड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। भाषा आम बोल-चाल की हो। फिर चाहे हिन्दी में फ़ारसी के शब्द आ गये हों, और चाहे उर्दू में संस्कृत के, उनको लेने में किसी को एतराज न चाहिए। फिर जब मुल्क में कई कौमें आकर मिल गईं, तब शुद्ध तो मुल्क ही न रहा, तब शुद्ध भाषा कैसी?

मैं बोली—अच्छा तो फिर कुछ दिनों में जब शायद रोटी-बेटी का भी सवाल आये, तो हिन्दू लोग इसको कैसे गवारा करें? आप बोले—वह भी बाक़ी थोड़े ही है। बादशाही जमाने में तुम्हारे यहाँ के बड़े-बड़े राजों ने मुसलमानों के साथ बड़ी ख़ुशी से अपनी बहन और

बेटियों की शादी की हैं, और वह इसमें बड़ा फ़ख्र समझते थे। हाँ मुसलमानों की स्त्रियाँ तुम्हारे यहाँ नहीं आई हैं। अब भी तुम्हारे घर की जो स्त्रियाँ निकाली जाती हैं वह मुसलमानों के ही घर जाती हैं, या चकले में जाती हैं। यह जो मुसलमानों की बढ़ी हुई कौम है, वह सब फारस से नहीं आये थे, उस समय तुम्हारे हिन्दू भाई क्यों नहीं सोचते थे कि हमें अपनी शुद्धता बनाये रखना चाहिए ?

मैं बोली—तो क्या आप मुसलमानों के हिमायती हैं ?

आप बोले—मैं किसी का हिमायती नहीं हूँ, न किसी का दुश्मन हूँ।

मैं बोली—आख़िर आप राम को मानते हैं कि रहीम को ?

आप बोले—मेरे लिए राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी श्रद्धा के पात्र हैं। और मैं इन सबों को महापुरुष समझता हूँ।

मैं बोली—आख़िर आप हैं क्या ?

आप बोले—मैं एक इंसान हूँ, और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ, और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू हैं, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान भी नहीं हैं। और इन दोनों में मेरे नज़दीक कोई ख़ास फ़र्क नहीं है, मेरे लिए दोनों बराबर हैं।

मैं बोली—कैसे दोनों बराबर हैं ? मुसलमान गाय की कुरबानी करते हैं और उसी क़ुरबानी के पीछे हज़ारों हिन्दू-मुसलमानों की जाने जाती हैं।

आप बोले—इसका दोषी एक ही वर्ग नहीं है। अगर मुसलमान क़ुरबानी करता है, एक बूढ़ी-टेढ़ी गाय को लेकर, जिस पर कि दोनों कौमों में झगड़ा होता है, तो जब अंग्रेज़ों के यहाँ सैकड़ों गायें और बछड़े मारे जाते हैं, तब क्यों नहीं हिन्दुओं के ख़ून में गरमी आती ? यह क़ुरबानी में गाय के लिए झगड़ा नहीं होता है, यह दोनों के अन्दर एक तरह की कुरदेन रहती है, उसी में पड़कर झगड़ा होता है। कौन-सा ऐसा देवी का मन्दिर है, जहाँ बकरों की क़ुरबानी न होती हो ? क्या बकरा जीव नहीं है ? फिर क्यों बकरे की क़ुरबानी की जाती है ? बकरे का गोश्त आप भी शौक़ से खाते हैं। सब

से दया की मूर्ति हिन्दू ही हैं, यह आप कैसे कह सकती हैं ? स्त्रियों पर सबसे ज़्यादा ज़्यादती हिन्दू ही करते हैं। ज़रा-सी भूल हो गई, उसको घर से बाहर निकाल बाहर किया। हिन्दू अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारते हैं, उस पर कहीं सुनते हैं कि किसी हिन्दू को मुसलमान बना लिया गया, तो बड़ा शोरगुल मचाते हैं। और जब औरत को घर से निकाल देते हैं, तब वह यह नहीं सोचते कि आख़िर यह जायगी कहाँ ? आख़िर वह मुसलमान ही होगी, तब उसको क्यों घर में नहीं रहने देते ? और औरत से जो ग़लती हो जाती है, उसकी गुनहगार अकेली औरत ही नहीं है, पुरुष भी हैं। बल्कि मैं तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नहीं तो ड्योढ़ा तो ज़रूर ही है। मैं कहता हूँ कि फिर स्त्री को ही क्यों बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यों नहीं निकाला जाता ? उसका क्यों नहीं बहिष्कार किया जाता ? उसमें सोलहो आना स्त्री को ही क्यों गुनहगार ठहराया जाता है ? और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ ज़्यादती करता आ रहा है। अपनी मरज़ी के माफ़िक क़ायदा-क़ानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह पुरुष ही करते हैं। तब आख़िर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायँगी ? और समाज ने सारी ज़िम्मेवारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है, ऐसा मालूम होता है कि सारे बन्धन स्त्रियों के लिए ही हैं। उससे पुरुषों को कोई बहस नहीं है। सारे क़ायदा-कानून अपने से उलटे ही स्त्रियों के लिए बनाये हैं। अपने आपको उनके शिकंजों से बचाकर ही रखा। और तुम्हीं सोचो, स्त्री को घर से निकाल भी देंगे, फिर वह मुसलमान भी न हो। वह शायद यह सोचते हैं कि वह दुनिया ही में न रहे। भगवान जाने क्या चाहते हैं !

मैं बोली—और रंडियाँ शहर से जो निकाली जा रही हैं, उनके लिए आप क्या सोचते हैं ?

आप बोले—उनको भी समाज चाहता होगा, कि यह शहर में न रहें, और एकान्तवास करें। मैं तो धन्यवाद देता हूँ दयानन्द को। उन्होंने आर्यसमाज का प्रचार करके, स्त्रियों का और समाज का बड़ा उद्धार

किया है। शारदा बिल जिन्होंने स्त्रियों के लिए पास कराया है, उनको भी स्त्रियों को धन्यवाद देना चाहिए।

मैं बोली—हम स्त्रियाँ इन महापुरुषों को धन्यवाद दें ?

आप बोले—अगर तुम लोग धन्यवाद न दो तो इसके मानी हैं तुम लोग कृतघ्न हो। स्त्री जाति को आगे बढ़ाने में महात्माजी ने भी उनका पक्ष लिया है। मैं कहता हूँ कि अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता, और स्त्रियों के साथ इन्साफ़ का बर्ताव नहीं करता, तो बहुत मुमकिन है, वह दिन जल्द ही आनेवाला हो, जब हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ, अत्याचारों से घबराकर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।

मैं बोली—वह ठीक नहीं होगा। वह हमारे दुर्भाग्य के दिन होंगे, जब हमारे घर की लड़कियाँ स्वयं अपनी शादियाँ करेंगी, क्योंकि उस उम्र में जब कि शादियाँ होती हैं, लड़के-लड़कियों में इतनी समझ नहीं होती कि वह अपने अच्छे-बुरे का फैसला कर सकें, और धोखे-भुलावे की बहुत शङ्का रहती है। ऐसी शादियाँ देखने में आकर्षक होती हैं ; पर होतीं हैं वास्तव में भुलावा।

आप बोले—चाहे मैं या तुम या दुनिया भर इसको रोकने की कोशिश करें, यह रुक नहीं सकता। एक दिन आयेगा कि कोई भी शक्ति इसको रोक नहीं सकेगी। हवा की रफ्तार यही हमको बतला रही है। जितना ही हम सोचते हैं कि पश्चिमी सभ्यता से दूर रहें, उतनी ही तेज़ी के साथ वह हमारे सर के ऊपर आ रही है।

मैं बोली—भगवान न करे कि उस दिन को देखने के लिए मैं दुनिया में बैठी रहूँ।

आप बोले—इसकी कोई बात नहीं, पुरानी सभ्यता से तुम भी तो घबराती हो।

मैं बोली—तो मैं इस तरह उसको थोड़े ही ठुकराना चाहती हूँ कि उसका नाम-निशान ही मिट जाय। जहाँ ख़राबी हो, उसमें सुधार चाहती हूँ।

आप बोले—तुम सुधार चाहती हो तो तुम्हारे लड़के उसको मिटाना ज़रूर ही चाहेंगे, इसमें घबराने की कौन-सी बात है ? जैसा समय होता है, उसी तरह क़ायदे-क़ानून भी तो बदलेंगे। सदी तो बीसवीं है और आप चाहती हैं, पहलेवाला युग। नहीं, बीसवीं सदी के अनुसार क़ायदे-क़ानून भी बनेंगे, और बनने चाहिए, जिसमें एकतरफ़ा डिगरी करने का किसी को हक़ न रह जाय।

मैं बोली—तो इसमें हम स्त्रियों को सुविधा तो होगी ही। इसलिए जिन-जिन महानुभावों ने हमारे साथ उपकार किया है, और आप भी हमारे साथ ही हैं, उन लोगों को तो हम स्त्रियाँ धन्यवाद देंगी ही, मगर मैं आपको भी धन्यवाद देती हूँ।

आप बोले—भाई मैं तुम लोगों के साथ कोई उपकार तो करता नहीं हूँ। मैं तो सिर्फ, मेरे बुजुर्गों ने जो अत्याचार किये हैं, उनका प्रायश्चित्त करता हूँ।

मैं बोली—कौन जाने किसने पाप किया, किसने पुण्य ? रोते तो हम दोनों ही हैं।

आप बोले—रोयेंगे तो दोनों साथ-साथ, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष। क्योंकि जो हम कर्म करते हैं, उसको हम साथ-साथ भुगतते भी तो हैं, और हमेशा भुगतेंगे।

मैं बोली—अब अफसोस करने की क्या बात है, अब तो अफ़सोस का समय भी नहीं।

आप बोले—पहले स्त्रियों को पुरुषों ने दबाया, जब स्त्रियाँ कमज़ोर हो गईं, तब उन्हीं की सन्तान हम बच्चे भी गुलाम बने। अब गुलामी का तावान हम लोगों को देना पड़ रहा है।

मैं बोली—हम स्त्रियाँ अब भी पिस रही हैं।

आप बोले—वह तो पिसना ही पड़ेगा, इसका अफ़सोस छोड़ देना चाहिए।

हमारा इस तरह का वाद-विवाद कोई न कोई पहलू लेकर हमेशा ही होता था।

बेटी की शादी

सन् '२८ की बात है। बेटी की शादी करनेवाले थे। कई लड़के लखनऊ में देखे। मगर कोई भी पसन्द न आया। जिसका घर-घर अच्छा होता उसका लड़का बदसूरत होता। अगर लड़का अच्छा होता तो घर खाली। एक बार मैं बोली—आप लड़का देखने गये थे, पसंद आया?

आप बोले—लड़का तो अच्छा है; पर साँवला है।

मैं बोली—तो क्या? चकले में थोड़े ही बैठाना है।

आप बोले—इससे क्या? सूरत-शक्ल तो होनी चाहिए।

मैं बोली—जिन्होंने आपको वह लड़का बताया, वे तो कहते थे कि बहुत अच्छा है।

आप बोले—मैं ही कहाँ कहता हूँ कि वह कूड़ा है। मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।

मैं बोली—तो आपको कौन लड़का पसन्द आयेगा?

आप बोले—तुम्हीं बतलाओ, अगर तुम्हारी शादी किसी कुरूप से हुई होती तो तुम्हें पसन्द आता?

मैं बोली—जिससे मेरी शादी हुई है, वह तो मुझे पसन्द है। पहले भाता कि न भाता, दैव जाने।

दूसरा लड़का फतेहपुर देख आये। वहाँ से लौटने पर मैं पूछने लगी—देख आये?

आप बोले—देख तो आया, पर मुझे कोई भी न पसन्द आया।

एक लड़का उन्नाव में देखा। उसका घर-बार अच्छा था। ज़हीन था। पढ़ने-लिखने में भी अच्छा था। बाद को मालूम हुआ कि लड़के की मा नहीं है।

जिस घर में हम लोग थे, उसके एक हिस्से में एक डाक्टर साहब रहते थे। उनमें-हममें घर की तरह का मेल था। देखनेवाले यही समझते थे कि ये दोनों एक ही घर के हैं। मेडिकल-कालेज में नौकर थे। एक रोज़ मैं डाक्टर से बोली—देखो, कालेज में कोई लड़का है ?

मेरे कहने के १०-५ दिन बाद ही एक लड़के का फ़ोटो और पता लाकर उन्होंने दिया। और बोले—देखो अम्मा, यह पसन्द हो तो तजवीज कराओ। और उसके साथ-साथ बोले—यह बी० ए० के दूसरे साल में है।

मैंने बाबूजी को फोटो दिया। और डाक्टर से मैंने कहा—जाकर विस्तार में सब बता देना।

डाक्टर—पहले फोटो को देखिए बाबू जी, बाद में मैं सब बताता हूँ।

फोटो देखकर बोले—लड़का तो अच्छा है। मुझसे बोले—तुम्हें कैसा लगा ?

मैं बोली—मुझे तो पसंद है।

तब आप हँसकर बोले—शायद इसकी नाक में भी आपरेशन हुआ है। बेटी की भी नाक इसी तरह है। ठीक है।

डॉक्टर से बोले—और तो सब बताओ भाई।

डाक्टर बोला—तीन हज़ार रुपए सालाना की जायदाद भी उसके पास है।

बाबूजी बोले—सबसे पहले यह बताओ, लड़के की मा है या नहीं ?

मैं बोली—मा से शादी करोगे ?

'भाई मैंने एक लड़के को तो छोड़ दिया है मा ही के बिना। अब दूसरे का क्यों न पूछूँ ?'

डाक्टर बोला—मा भी है। दो बहनें हैं। एक छोटा भाई है। वह भी पढ़ रहा है। दोनो बहनों की शादी हो चुकी है। एक प्रयाग में व्याही गई है। दूसरी जबलपुर में जब इनके पिता मरे तो ये कुल नौ साल के थे। इनकी उम्र अब इस समय तेईस वर्ष की है। पिता के मरने पर बहनोई ने आकर ज़मींदारी की देखभाल करना शुरू

कर दिया। ये दोनों भाई जबलपुर में पढ़ते हैं। मैंने आपके पूछने के पहले ही सब बातें जाँच कर ली हैं। तब आप बोले—इस लड़के का स्वभाव कैसा है और मा का कैसा है ?

डॉक्टर—लड़का शील-स्वभाव का बहुत अच्छा है। पढ़ने में भी जहीन है। मा का भी स्वभाव बहुत अच्छा है। मैंने तो यहाँ तक उनसे कह दिया है कि उस बच्ची को मैं अपनी बहन समझता हूँ। और मैं तो यहाँ तक कह चुका हूँ कि अगर किसी बात की शिकायत हुई तो मैं मुँह तक न दिखा सकूँगा।

तब आप बोले—हाँ, भाई बहुत दूर है। सब जाँच-पड़ताल कर लेना चाहिए। बाद को कोई ख़राबी हो तो बेचारी जीवन भर रोती रहे। और रोना क्या, उसकी तो ज़िन्दगी चौपट हो जायगी। और हम भी जब तक जीते रहेंगे, रोते रहेंगे। ये सब बातें सोच लो।

डॉक्टर—मैंने तो सब जाँच कर ली हैं। आप भी पत्र लिखकर सब पूछ-पाछ लीजिए। कौन अभी शादी हुई जा रही है। आप बोले—भाई, शादी-ब्याह के बारे में तो मेरी तबीयत आजकल बहुत डरती है। और बहुत मुश्किल हो भी गया है। आजकल के कालेज के लौंडे अपने माता-पिता को तो कुछ समझते ही नहीं हैं। भला दूसरों को कौन पूछे।

डॉक्टर—बाबूजी, अभी अच्छे लड़के-लड़कियों की कमी नहीं है। हाँ, कुछ हैं जो सिर-फिरे हो गये हैं।

आप बोले—कहीं उन्हीं में से कोई मेरे सिर न पड़ जाय।

मैं बोली—अगर किस्मत में यही लिखा होगा तो क्या करोगे ?

आप बोले—इन्सान तक़दीर और तदबीर दोनों को लेकर चलता है।

मैं बोली—सभी अच्छा-अच्छा करते हैं। मगर बुरा कौन करता है ?

आप बोले—इसका मतलब यह नहीं कि हम आँख बन्द करके चलें।

मैंने कहा—पहले पत्र तो लिखिए।

उसके बाद लड़के के बहनोई को शादी के लिए ख़त लिखा। ख़त छोड़ने

के बाद आप इधर-उधर पता लगाने लगे। मेरे भाई को इलाहाबाद ख़त लिखा। उनकी बहन जहाँ ब्याही थीं, वहाँ की ख़बर लेने के लिए मेरे भाई को भेजा। भाई का ख़त भी दो-तीन दिन के बाद आया। लिखा था कि मुझे तो मालूम हुआ कि लड़का अच्छा है। लोग उसकी तारीफ़ कर रहे हैं। आठ-दस रोज़ के बाद लड़के के बहनोई का ख़त आया। उन्होंने पूरा जायदाद आदि का विवरण लिखकर भेजा। उसके साथ-साथ यह भी मालूम हुआ कि वे लोग इसी प्रान्त के जालौन के पास के रहनेवाले हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि मैं इधर लखनऊ अपने एक मित्र की बीमार स्त्री देखने आनेवाला हूँ। आपके ही यहाँ ठहरूँगा। तब जो कुछ और आपको पूछना हो, आप पूछ सकते हैं। और आपने जो यह लिखा है कि मेरे बारे में जो पूछना हो, पूछो, उसके मुतल्लिक़ मुझे यही कहना है कि सूर्य को दीपक से नहीं देखा जाता। आपको तो मैं बहुत दिनों से जानता हूँ। मैं ही क्यों, लड़के के पिता भी आपके उपन्यासों के शौकीन थे।

उसके ८-१० रोज़ बाद वे ख़ुद आये। तीन आदमी सहित। वे हमारे घर ठहरे। उसके बाद आपको और जो बातें करनी थीं, आपने कीं। जिस रोज़ आये, उसी दिन आप बोले—अगर लड़की आपको देखनी हो तो आज ही दिखला सकता हूँ। बाद को न दिखा सकूँगा।

वे बोले—आपको मैंने देखा। लड़की दूसरे रंग की थोड़े ही होगी। हाँ, लड़के की मा के लिए फोटो की ज़रूरत होगी।

मैं बोली—मा तो आकर देख सकती हैं। वे आठ-दस रोज़ तक तीनों आदमी मेरे यहाँ रहे। फिर तीन तरह के फोटो खिंचवाकर उन्हें दिये गये। एक में मैं, बेटी और बन्नू थे। एक में बेटी डाक्टर की लड़की को लिए खड़ी थी। एक में अकेली बेटी का फ़ोटो खिंचवाया गया। उनको तीन तरह के फ़ोटो दिये गये। और तीनों आदमियों को बिदाई देकर रुख़सत किया गया।

उनके जाने के आठ-दस रोज़ बाद फिर उनका ख़त आया,

जिसमें उन्होंने लिखा कि लड़का अपने घर का मालिक है। इसलिए लड़के की बहन और वह ख़ुद लड़की देखने जायगा। यह पत्र पढ़कर आपको बहुत क्रोध आया। घर आकर मुझसे बोले—मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह लड़का भी सिरफिरा है। क्या बाप न हो तो कोई बुजुर्ग नहीं रहता ? जब उसका बड़ा बहनोई देख गया तो फिर क्या ? उसे विश्वास करना चाहिए था। बहनोई भी कोई गँवार नहीं। अच्छा समझदार आदमी है। अगर ऐसा ही है तो मैं ख़ुद उसके साथ शादी नहीं करूँगा। मैं जाकर पत्र लिख देता हूँ। मुझे ऐसी शादी नहीं चाहिए। मैं मालिक की शादी नहीं चाहता, बल्कि लड़के के साथ शादी करना चाहता हूँ। जो मेरे सामने आये, लड़का होकर आये। आपको जो मैंने फोटो दिया है, उसे भेजिए। और अब मुझे व्याह के बारे में कुछ भी न लिखियेगा।

वहाँ से दूसरा ख़त आया। उन्होंने लिखा कि मैंने जो यह कहा था कि लड़का घर का मालिक है, वह ग़लती मेरी थी। मैंने आपको इसलिए लिखा था कि लड़के के पिता के न होने से बात तय करने की जिम्मेदारी मेरी थी मैं भी दुनिया से उसी तरह डरता हूँ, जैसे आप। आगे-पीछे और कोई बात हो तो मैं अपराध से बरी रहूँ। उसी पत्र के साथ लड़के की शादी की स्वीकृति का भी ख़त था। लड़के (वासुदेवप्रसाद) ने पत्र में यह लिखा था कि 'शादी मुझे मंजूर है। इसका ख्याल रहे कि जिस घर में मेरी शादी हो, वह घर दिवालिया न किया जाय। क्योंकि शादी-व्याह एक दिन का रिश्ता नहीं। यह हमारा उनका रिश्ता तीन पुश्तों का होगा। इसलिए आप उनको दिवालिया न कीजिएगा।' यह वासुदेवप्रसाद ने अपने बहनोई को लिखा था।

उस पत्र को पाकर आप बहुत ख़ुश हुए और मुझसे बोले—लड़का बहुत समझदार है। वह पत्र उन्होंने मुझे दिया। पत्र हिन्दी में था। मैं बोली—आप उन्हें लिख दीजिए कि उनकी मा और बहनों में जो भी आ सकती हैं देखने आयें। बाबूजी ने ख़त में लिखा कि मैं ख़ुद चाहता हूँ कि सम-

धिन साहबा या उनकी बहन आकर देख जायँ। मेरी राय में तो समधिन साहबा आवें तो ज़्यादा अच्छा हो।

ख़त जाने के १५ दिन बाद उनके बहनोई अपनी स्त्री के साथ आये। वे दो-तीन रोज़ रहने के बाद जाना चाहती थीं। मुझसे बाबूजी बोले—अभी मत जाने दो। १०-१५ रोज़ रह लें तो जायँ, महज़ सूरत से क्या, साथ में रहकर उसका शील-स्वभाव भी देख लें। सूरत-शक्ल अगर बहुत अच्छी हो, और स्वभाव की ठीक न हो तो कैसा। जो बातें उन्हें न मालूम हो, तुम बता दो कि इस तरह देखो।

मैं बोली—क्या उन्हें देखना नहीं आता जो मैं बतलाने जाऊँ। आप बोले—वासुदेव के पत्र पढ़ने से तो मेरे दिल में उसके प्रति अपने लड़के का-सा स्नेह हो आया। चाहे शादी न हो तो भी मेरा स्नेह उस पर रहेगा।

वे बेटी के साथ ख़ूब हिल-मिलकर साथ-साथ रहीं। बेटी को मालूम तो था नहीं। इसलिए वह भी ख़ूब खुलकर रहती थी। एक दिन मैंने वासुदेव की बहन से पूछा—बेटी, तुम्हें जो कुछ कहना हो, मुझसे कहो। वे बोलीं—अम्माँ, मुझे कुछ नहीं कहना है। आप विश्वास रखें। वह पत्र भी आपको न लिखा जाता ; पर इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी वे अपने सिर कैसे लेते ?

जब मैंने बाबूजी से सारी बातें कह सुनाईं तो बोले—एक बात तुम और पूछ लो। मेरे एक ही बेटी है। बिदा-विदा में झंझट न पड़े।

मैंने उनसे कहा कि यह बात है कि विदा की शिकायत कभी न हो।

लड़की बोली—अम्माँ, इसकी शिकायत कभी नहीं होगी। बाबूजी के पास जाकर वह बोली—अब हमें अपना लड़का ही समझिएगा। यह मैं नहीं कह रही हूँ, बल्कि मेरी माँ ने मुझसे कहने को कहा है। आप बोले—यह कहने की क्या ज़रूरत ? मेरे तो हुए ही तुम लोग।

'बाबूजी, आपके बच्चे अभी छोटे ही हैं। आप लिख देंगे तो भैया ख़ुद पहुँचा जाया करेंगे। हाँ, जो पत्र में लिखा गया था, उसे आप भूल जाइए। और आज अगर मेरे पिता जीवित होते तो आपको कोई परीशानी न होती।

उसके बाद उन लोगों को बिदा किया गया।

अब यह तै हुआ कि बरच्छा जाना चाहिए।

मैंने कहा—दूर बहुत है। मेरी हिम्मत गवाही नहीं दे रही है। आप बोले—दूर क्या है, अगर पास में पैसा हो तो। जब तक हम लोग हैं तब तक पैसे की कमी नहीं। यही नहीं, तुम्हारे और लड़कियाँ भी नहीं हैं। मान लो तुमने पास में ही किया और लड़का किसी काम से दूर भी तो जा सकता है न? तब तुम्हारे लिए तो बराबर हुआ। फिर वासुदेव-सा लड़का मिलना कठिन है। पता नहीं, मेरे बच्चे इस तरह होंगे कि नहीं। मुझे तो वासुदेव अपना ही बड़ा लड़का लग रहा है। पत्र देखो। कैसा उदार है? लिखता है कि उस घर को दिवालिया न किया जाय। हमारा उनका सम्बन्ध तीन पुश्तों का होगा। इसका मतलब कि सब दिन का। देखती नहीं आज कल के लौंडों को। वे चाहते हैं कि किसी तरह रुपए मिलें। चाहे चोरी करने से, या डाका डालने से। अब ईश्वर का नाम लेकर मुझे जाने दो।

मैं भी राज़ी हुई। आप जब वहाँ से लौटे तो मुझसे बोले—लड़का बहुत अच्छा है और मेरे ही विचार के उनके पिता भी थे। हमेशा वे स्वदेशी पहनते थे। जिन दिनों बंगाल दो टुकड़ों में हुआ था, उन दिनों वे भी जेल गये थे। हालाँकि उनके जेल जाने के बाद वहाँ की पब्लिक ख़ूब लड़ी। और पब्लिक ने उस लड़ाई में कोई ४०००) रुपए व्यय किये। देवरी के लाट कहे जाते थे। यह सम्बन्ध बहुत अच्छा होगा। उसके बाद आप लखनऊ से सब तैयारी करके बनारस आये।

जब द्वार-पूजा का समय हुआ तो अपने बड़े भाई को भेजा। वे भी खड़े तमाशा देख रहे थे। बरातियों में से कुछ ने इधर-उधर बताशे फेंके। यह उन्हें अच्छा न लगा। मुझसे बोले—तुम दरवाज़े पर पैसे लुटा दो।

मैं बोली—इस समय उन्हें लुटाना चाहिए।

आप बोले—तुम वासुदेव को छोड़कर सबों को पैसों से मारो। मैंने अपनी भाभी से कहा—थोड़ा अक्षत डालकर पैसे लेती आओ।

मैं बोली—आप लुटाइए।

आप बोले—नहीं। तुम ख़ुद लुटाओ।

बारात जनवासे गई। मैं उसके बाद बोली—द्वार-पूजा आपको करना चाहिये था।

आप बोले—मुझसे ये रस्में नहीं होंगी।

मैं बोली—अभी कन्यादान तो आपको करना ही होगा।

आप बोले—कन्यादान कैसा? बेजान चीज़ दान में दी जाती है। जानदार चीज़ों में तो गौ ही दी जा सकती है। फिर लड़की का दान कैसा? यह मुझे पसन्द नहीं।

मैं बोली—इसे तुम्हें करना ही होगा।

आप बोले—तो फिर मैं अपनी लड़की को दान दे दूँ? यह मैं नहीं कर सकता।

मैं बोली—बच्चों की-सी बात न कीजिए। कन्यादान होता नहीं?

'तुमको करना हो करो। मैं नहीं करूँगा।'

आख़िर किसी तरह मंडप में आये। और मैंने ही कन्यादान किया। वे बैठे रहे।

जब शादी हो गई तो वासुदेव का नाई बोला—साहब, मुझे इस समय न्यौछावर चाहिए। आप बोले—कितना चाहिए बताओ? बोला—कम से कम १०) चाहिए। आपने अपनी जेब से रुपए निकालकर बेटी के सिर पर घुमाकर नाई को दे दिया। नाई ख़ुश हो गया।

जुलाई में वासुदेव का ख़त आया—अब मैं क्या पढ़ूँ? पत्र पाने के बाद आप बोले—मेरी राय में तो इलाहाबाद आकर वह क़ानून पढ़े।

मैं बोली—क़ानून ही अच्छा होगा।

आप बोले—हाँ, घर का वह मालगुजार है। सागर में वकालत करेगा। अपनी ज़मींदारी भी देखेगा। नहीं तो बाहर जाने से ज़मींदारी में हानि होगी।

यही बात उसे लिख दी। और यह भी लिखा कि ख़ूब मेहनत से पढ़ो।

तब से वासुदेव को लड़के से भी ज़्यादा समझने लगे। उसकी ज़रूरतें बारीकी से आप देखते रहते। एक बार वह लखनऊ आया। उनको मालूम हुआ कि लूकरगंज से म्योर कालेज तक उसे आना पड़ता है। उसे साइकिल चाहिए। आपने मुझसे रुपए लिये और जाकर साइकिल खरीदी। जब साइकिल लाये तो बोले—ऊपर से वासुदेव को बुला दो। अपनी साइकिल देख ले। जो त्रुटि हो, बताये।

मैंने ऊपर आवाज़ दी और कहा—वासुदेव, अपनी साइकिल देख लो। जो कमी हो, बताओ। वह देखकर बोला—सब ठीक है।

वे जिस चीज़ की कमी महसूस करते, फौरन ख़रीदकर भेजते।

वासुदेव उनसे डरता बहुत था। वे जितनी बातें पूछते, उन्हीं का जवाब वे देते। इसपर कभी-कभी मुझसे कहते यह लड़का मुझसे बहुत डरता है।

मैं बोली—धुन्नू और उसमें फर्क है। वह लिहाज़ करता है।

आप बोले—मुझे तो धुन्नू और वह बराबर लगते हैं।

कई बार वासुदेव के पत्र आये, उनमें एकाध गलतियाँ रह गईं। आप उन गलतियों को सुधार कर, उसे रवाना कर देते। और लिखते—अपनी अँग्रेज़ी ठीक करो। जब भी इस तरह की ग़लती होती, वे पत्र वापस कर देते। एक बार मैं बोली—वह अपने दिल में क्या सोचता होगा? आप बोले—क्या सोचेगा? मैं ऐसे ही धुन्नू वग़ैरह को भी लिखूँगा। वह अपना लड़का नहीं जो उसे उसकी ग़लती न बताऊँ?

वह उर्दू नहीं जानता था। उसे उर्दू सिखाने की कोशिश करते।

बेटी की शादी में इतने बड़े-बड़े बटुले दिये कि ख़ाली वह न उठा सकती।

एक दिन मैं बोली—आपने इतने बड़े-बड़े बेमसरफ़ बर्तन क्यों दिये?

किसी दिन बेटी को उतारना पड़ जाय तो? बेटी कैसे उठा सकेगी? तो आप बोले—बेटी को उतारने के लिए थोड़े ही मैंने दिये हैं। जब तक ये चीज़ें रहती हैं, तब तक याद रहता है। कई पुश्तों तक लोग याद करते हैं।

मैं बोली—तो फिर देखने के लिए दिये?

आप बोले—और क्या? किस काम में आयेगा? रुपए तो ख़र्च हो जाते हैं। चीज़ें बच रहती हैं।

जब वासुदेव आता तो उसकी घर-गृहस्थी के बारे में ज़रूर पूछते।

एक बार की बात है, वासुदेव बेटी को बुलाने आया। उस बार मैंने कहा—अभी विदाई नहीं करूँगी। उन्होंने मेरे सामने कुछ नहीं कहा। मेरे घर में एक पंडितजी थे, उनसे बोले—आप घर में कह दें तो अच्छा हो। खाना बनानेवाला कोई नहीं है।

जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने आपसे कहा—यह कहते हैं।

तो आप बोले—कह दो उनसे, अभी बेटी घर-गृहस्थी देखने नहीं जायेगी। उनकी बहन कहाँ गई?

मैं बोली—उनकी वह बहन भूपाल गई हैं। वहाँ उन्हें वसीका मिला है। वह इनकी मौसेरी बहन हैं। साल-का-साल बाहर रहेंगी तो उनका वसीका बन्द हो जायगा।

आप बोले—कितना वसीका मिलता है?

मैं बोली—पचीस रुपए मिलते हैं।

आप बोले—उनका पता ले लो। पचीस मैं भेजा करूँगा। पता उनसे पूछ लो।

मैं बोली—साल दो साल का नहीं है, जीवन भर का है।

आप बोले—मैं अपनी ज़िन्दगी भर देता रहूँगा।

मैंने इस बात को हँसी में उड़ा दिया और वासुदेव से ऐसा कह दिया। वासुदेव चुपके वापस गये।

लखनऊ की होली

होली की बात है—मेरे दामाद वासुदेवप्रसाद प्रयाग में वकालत पढ़ रहे थे। उनको भी होली पर बुला लिया गया था। बड़ा लड़का धुन्नू रंग के डर से बाहर भागा। वासुदेवप्रसाद और बन्नू ऊपर जाकर कोठे का दरवाज़ा बन्द करके बैठे। आप तो अपने कमरे में ही रहे। जो भी आता, रंग और अबीर से उनका स्वागत करता। उन दिनों उन्हें खाँसी आ रही थी। जब कई आदमी नहलाकर उन्हें चले गये तो मैं बोली—आपको खाँसी का डर है कि नहीं ? बोले—दोनों लड़के और दामाद सब भागे। मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। आख़िर ये लड़के हैं कहाँ ?

मैं—धुन्नू तो बाहर भागा। और दोनों ऊपर कमरा बन्द किये बैठे हैं। आप नीचे से बोले—वासुदेवप्रसाद, बन्नू को लिये यहाँ आओ।

जब वे दोनों सामने आ गये, तब बोले—भाई, रंग से इतना डर। रंग ही तो है, और आज हिन्दू-मात्र रङ्ग खेलते हैं। तुम लोग यहाँ होते तो तुम लोगों पर भी रङ्ग पड़ता। और मैं छूट जाता। देखो, तुम लोगों के अभाव में खुद लड़का बना बैठा हूँ। और हर कोई रङ्ग से नहला जाता है।

दोपहर तक न उन्हें नहाने दिया, न ख़ुद नहाये। बोले—तुम लोगों के दिल में उत्साह होना चाहिए। मुझे तो लड़कपन में जिस तरह का उत्साह था, आज भी ज्यों-का-त्यों वैसा ही है। तुम लोग लड़कपन ही में उत्साह खो बैठे।

वासुदेव सिर झुकाये सुनता रहा। जब धुन्नू आया, तो उस पर भी फटकार पड़ी।

दरवाज़े का भय

सन् '२८ की बात है। आप गोश्त लेने बाज़ार गये। लौटे कोई साढ़े नौ बजे। दोनों बच्चे स्कूल गये थे। मैं आँगन में बैठी थी। मेरे आगे गोश्त वग़ैरह रखकर बोले—बिस्तर अन्दर रखवा दिया न ?

मैं बोली—मुझे तो याद नहीं पड़ा। जाकर मैं ख़ुद रख आती हूँ।

'तुम कहाँ जाओगी। मैं ख़ुद रख आता हूँ।'

आप बिस्तर रखकर कमरे का दरवाज़ा बन्द करने लगे। जैसे ही दरवाज़ा खींचा कि वह सिर पर आ गिरा। इत्तिफ़ाक़ से सीख़चे लगे थे, उसके नीचे भी ढेले गिरे। दरवाज़ा सीख़चों पर गिर पड़ा और बहुत ज़ोर की आवाज़ हुई। जैसे ही दरवाज़ा गिरने को हुआ कि दोनों पल्ले खुल गये। आप भीतर हो लिये, पर पैर में चोट आ ही गई। मुझे भी चोट लगी। मुझे तो अपनी चोट महसूस न हुई। मैं दौड़ी ऊपर पहुँची। वहाँ देखती हूँ, आप एक कोने में खड़े काँप रहे थे। मूर्च्छा-सी थी। मैंने उन्हें सँभाला। जब उनकी तबियत कुछ सँभली तो बोले—आज बड़ी ख़ैरियत हुई। नहीं तो हम तुम दोनों आज ख़तम हुए थे।

मैं बोली—जब तक होनी है, तब तक क्या हो सकता है।

तब से वे दरवाज़े से बहुत घबराते।

लखनऊ की आतिशबाजी

सन् '२८ के लगभग की बात है। नवम्बर का महीना, स्थान लखनऊ; शायद वायसराय आये थे। आप दफ़्तर से आये। मुझसे बोले—आज लखनऊ में कोई ४००००) आतिशबाजी और रोशनी में ख़र्च होगा, शायद तुमने अपनी ज़िन्दगी में भी न देखी होगी।

मैं बोली—किसको फालतू पैसा मिला है, जो इस कदर बेरहमी से ख़र्च कर रहा है।

आप बोले—ख़र्च कौन कर रहा है? मैं पूछता हूँ, चलोगी देखने, चाहो तो बच्चों को लेती चलो, सबको दिखला दो।

मैं बोली—आप चलेंगे?

आप बोले—हाँ, क्यों नहीं चलूँगा, ग़रीबों का घर फूँक तमाशा देखा जायगा। उसमें हम लोग भी तो अपनी आँखें सेंक ही लेंगे, और आह भर

लूँगा, और अपनी बेहयाई की हँसी में शायद हँस भी लूँगा, और इससे आगे, अपना बस ही क्या है।

मेरी समझ में तब तक यह बात नहीं आई थी, कि रुपया कहाँ से आया होगा, और यह क्यों ऐसा कहते हैं। मैं हँसकर बोली—अभी तक तो आप लेखक ही थे, अब कवि कब से हो गये जो कविता में बातें करते हैं ?

बोले—मैं भाई कविता में तो बातें नहीं करता हूँ, मैं तो यहाँ का रोना तुम्हें सुनाता हूँ।

मैं बोली—यह आपकी गोल-मोल बातें मेरी समझ में नहीं आतीं ठीक से मुझे समझा दीजिए।

आप बोले—पहले मुझे एक गिलास ठंडा पानी तो पिला दो।

मैं अन्दर गई, और थोड़ा-सा सूखा मेवा, और ठंडा पानी लाकर शॅ पर रख दिया। और उसी पर मैं बैठ गई, और तीनों बच्चे भी बैठ गये। बच्चे मेवे खाने लगे, आप चिलगोजा छील कर एक-एक अपने मुँह में डाल रहे थे। मैंने चाहा कि चिलगोजा मैं छील दूँ। आप बोले—नहीं, अगर तुम छील दोगी तो मैं इकट्ठे खा जाऊँगा, यों मैं एक-एक छीलकर ही खाऊँगा। अब सुनो आतिशबाजी की बात। जो राजे-महराजे हर साल यहाँ आते हैं वे कुछ न कुछ इसी लिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब वायसराय और युव-राज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत में ख़र्च हो। और जो कमी पड़ती है, वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है। उन ग़रीबों के ख़ून की कमाई, कूड़ा-घास की तरह आतिशबाजी में फूँक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छै पैसे रोज़ हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक़ है, कि एक-एक शहर में ४०-४० और ५०-५० हज़ार आतिशबाज़ी में फूँका जाय ? जहाँ पर तन ढँकने को कपड़ा न हो, दोनों जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें, उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय, और इसलिए कि वाय-सराय साहब ख़ुश होंगे, और इन मोटे आदमियों को ख़िताब देंगे ?

लड़कों ने जब रोशनी का नाम सुना, तब सब पकड़कर शोर मचाने लगे

कि 'चलिए बाबूजी ! चलिए !' आप उन लड़कों को शान्त करते हुए बोले—अभी नहीं, तुम जाकर खेलो, रात में रोशनी होगी। लड़के तो कुछ देर के लिए बाहर चले गये, मैं बोली—तो यह लोग पैसे देते ही क्यों हैं ?

आप बोले—अगर वह देंगे नहीं तो क्या वह ज़िन्दा रहने पायेंगे ? ये मोटे-मोटे आदमी उनको खा जायेंगे, या छोड़ेंगे ?

मैं बोली—जब उन्हें हर हालत में मरना ही है तो कुछ करके क्यों नहीं मरते ? इससे तो कहीं बेहतर है कि कुछ करके मरें।

आप बोले—यहाँ ८० प्रतिशत काश्तकार हैं, २० प्रतिशत और लोग बाकी बचते हैं, जिसमें पढ़े-लिखे, मालदार, रोज़गारी सब हैं। अगर इनमें इतनी ही शक्ति और बुद्धि होती, तो आज यह मुट्ठी भर अंग्रेज़ हमारे देश में डेढ़ सौ साल से राज्य न करते होते। मगर नहीं, इनमें न तो शक्ति है, और न बुद्धि।

मैं बोली—तो क्या सब निकम्मे हैं ?

तब आप बड़ी गंभीरता के साथ बोले—हाँ, यह सब देखकर तो यही कहना पड़ता है कि यह सब निकम्मे हैं। और शायद मुल्क इसके लिए तैयार भी नहीं है।

मैं बोली—क्या यही लोग तैयार होंगे ?

कहने लगे—इसमें न क्रोध करने की बात है, न हँसने की, बल्कि यह तो आँसू बहाने की बात है।

मैं बोली—सब तो ख़ुश हैं, कोई तो आँसू नहीं बहा रहा है।

आप बोले—तो इसके माने हैं कि हममें इतनी जड़ता छाई हुई है कि उसका दर्द ही हम महसूस नहीं करते।

मैं बोली—तो क्या इस बीमारी का कोई इलाज है, या यह मर्ज़ लाइलाज है ?

तब आप बोले—महात्मा गान्धी शायद कुछ कर जायँ, नहीं तो फिर इसी तरह सहते-सहते हालत ख़राब होती चली जायगी। जब इंसान ख़ुद मरने के लिए तैयार हो जाता है, तभी उसमें किसी दूसरे को मारने की शक्ति आती है।

मैं बोली—जब इंसान खुद ही मर जायगा, तब किसी को क्या खाकर मारेगा, उस समय तो इंसान ख़ुद ही मिट जायगा।

आप बोले—तुमको वह कहावत याद है कि नहीं—मरता क्या न करता? वह हालत जब इंसान की हो जाती है, तब वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। जब तक इंसान को थोड़ा-सा भी सुख मिलता जाता है, तब तक उससे सुख का मोह छोड़ा नहीं जाता, लालसा आगे को बनी रहती है। जब इन्सान समझ लेता है, कि मरने के सिवाय कोई चारा नहीं, तो वह मरने के लिए तैयार होता है।

मैं बोली—तब क्या यहाँ अंग्रेज़ वसूल करने आ रहे हैं?

वह बोले—माना कि अंगरेज़ वसूल करने नहीं आते पर एक शहज़ोर ही तो कमज़ोर को चूस रहा है।

मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या चूसना बन्द हो जायगा? आप बोले—चूसा तो थोड़ा-बहुत, हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमज़ोर को शहज़ोर चूसें। हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ?

आप बोले—अभी कोई जल्दी उसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो कि जल्दी ही हो जाय. तब आप किस का साथ देंगे?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सबसे कह दूँगा कि मैं तो मज़दूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर ही हैं।

मैं हँसकर बोली—इस तरह कहने से काम नहीं चलेगा। वह तुम्हारा विश्वास भी नहीं करेंगे।

वह बोले—तब तक सब पढ़-लिख जायँगे। क्या रूस में लेखक नहीं

है ? वहाँ के लेखकों की हालत यहाँ के लेखकों की हालत से अच्छी ही नहीं, कई गुना अच्छी है। मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आये।

मैं बोली—तो क्या रूसवाले यहाँ भी आएँगे ?

वह बोले—रूसवाले यहाँ नहीं आयेंगे, बल्कि रूसवालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।

मैं बोली—वह लोग अगर यहाँ आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।

वह बोले—वह लोग यहाँ नहीं आयेंगे, हमीं लोगों में वह शक्ति आएगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों और मज़दूरों का राज्य होगा। मेरा ख़याल है कि आदमियों की ज़िन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।

मैं बोली—वह कैसे होगा ?

आप बोले—सुनो वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भी भरपेट आराम से रोटियाँ नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ न कुछ फ़िक्र हमेशा रहती है।

मैं बोली—तो फ़िक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मज़दूरों का राज्य होने पर क्या हमको फ़िक्रों से छुट्टी मिल जायगी ?

आप बोले—क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीवी-बच्चों को कोई तकलीफ़ नहीं होगी, और इसकी ज़िम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है तो हमारा क्या सिर फिर गया है, कि हम अपनी जान खपाकर रात-दिन मेहनत करें, और आमदनी का कुछ न कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों कोई तकलीफ़ न होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है कि आराम से खाना-पहनना नहीं चाहेगा ?

मैं बोली—मैं आपके सामने एक दर्जन नाम गिना सकती हूँ, जिन्होंने बुढ़ौती में शादी की, जब कि पहली बीवी से भी लड़का लड़की दोनों मौजूद थे। वह जो कुछ कमाते थे, सोलहों आना ख़र्च कर डालते थे, और मरने के बाद उन्होंने अपने कफ़न को भी नहीं छोड़ा था, लेकिन उनको कोई चिन्ता नहीं थी और भगवान के सहारे रहते थे। कई आदमियों के ऐसे नाम गिना सकती हूँ, जो काफ़ी मालदार हैं, और चिन्ता फिक्र करने की कोई वजह नहीं है, फिर भी रात दिन कोई न कोई चिन्ता अपने सिर पर लिये रहते हैं।

आप बोले—अगर ऐसे ज़माने में, जैसे ज़माने आज हैं, चारों तरफ़ हाहाकार मचा हुआ है, इस जमाने में कोई अपनी और अपने घरबार की चिन्ता न करता हो, और भगवान के सहारे ख़ुश-ख़ुश बैठा रहता हो, तो उसको समझ लेना चाहिए कि परले दरजे का बेहया है। बाल-बच्चों के रहते बुढ़ापे में शादी करें, उससे लिये इस्तेमाल क़रने को मेरे पास कोई शब्द ही नहीं। और जो कोई अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए चिन्ता करे, जैसे महात्मा गान्धी, वह तो मेरी निगाह में सबसे महान शक्ति हैं।

हम लोगों में इस तरह की बात हो ही रही थी, कि लड़के फिर पहुँच गये, और बोले, 'चलिए बाबूजी। समय हो गया। सब लोग तो जा रहे हैं।' सबको लेकर गये, साथ में मैं भी थी। सब लोग तो ख़ुश-ख़ुश आतिशबाज़ी देख रहे थे, आप ऐसे अनमने एक किनारे बैठे हुए थे, कि उनको देखकर मालूम होता था, जैसे इनके अपने ही घर की सम्पत्ति फूँकी जा रही हो।

एकाध घण्टे के बाद सबको वापिस ले आये। लड़के नहीं आना चाहते थे, बोले—'मेरे सर में दर्द हो रहा है,' चले तो आये, मगर आतिशबाजी के फूँकने का महीनों रंज रहा। पचीसों बार घर में उन्होंने इसकी समालोचना की, हमारे मुल्क का पैसा ऐसी बेरहमी से ख़र्च होता है कि हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। मगर अपना बस ही क्या है।'

मैं बोली—तो आप रोकने की कोशिश क्यों नहीं करते ?

'अरे भाई, मेरे बस की बात होती तो मैं आज ज़मीन ही पर क्यों रहता, आकाश में न उड़ा करता ? मगर अफ़सोस तो यही है कि अपना कोई बस नहीं है।'

मैं बोली—जहाँ कोई अपना बस नहीं, वहाँ अफसोस करना बेकार है।

वह बोले—चाहे कुछ भी हो, जिस बात का हमको दर्द होता है वह जल्दी भूला नहीं जा सकता।

मैं बोली—बहुत लोगों ने आतिशबाज़ी देखी होगी, और ख़ुश हुए होंगे, आतिशबाज़ी की समालोचना भी की होगी, कि कैसी अच्छी थी, और आप बैठे-बैठे आतिशबाज़ी फूँकने की समालोचना कर रहे हैं।

आप बोले—इसी का नाम तो जड़ता है, वही जड़ता तो हम लोगों में छाई हुई है, कि अपना घर फूँक तमाशा देखें और ख़ुश हों।

मैं बोली—वह आपसे ज़्यादा समझदार हैं, जो ख़ुश हो रहे होंगे। और आप तो अपना दूना नुकसान कर रहे हैं। एक तो आतिशबाज़ी में रुपया फूँका जाय और आप रात-दिन उसकी चिन्ता करें। लोग बड़े मजे की कहावत कहते हैं—रहिमन चुप हो बैठिए, देख दिनन को फेर, जब नीके दिन आयहैं बनत न लगिहैं बेर।

आप बोले—यहाँ तुम्हारे जैसे दिमाग़ के आदमी रहे होंगे, तभी तो यहाँ की आज़ादी छिनी होगी। मुझे तो लक्ष्मणजी की एक चौपाई बहुत अच्छी लगती है, "कायर मन कर एक अधारा : दैव दैव आलसी पुकारा।"

मैं बोली—तो क्या किया जाय, हथेली पर सरसों भी तो नहीं जमेगी।

आप बोले—तो तुम्हारे विचारों में तो यह है कि ख़ामोश होकर बैठा जाय।

मैं बोली—सोच करने से कुछ हाथ नहीं आता, कौन मुफ़्त की बक-बक करे।

मैं उठकर चली आई।

१९२९ : होली

कई मुसलमान लेखक आप से होली मिलने आये। साथ में फूलों का हार था और अबीर भी। आप कमरे में बैठे हुए थे। उन लोगों ने आपको गुलाल लगाकर पान दिया। उस अबीर को उन लोगों को लगाकर भर-अंक मिले। बड़ी देर तक वे लोग बैठे रहे। उसके बाद उन्होंने सबके साथ बैठकर खाना खाया। खाते समय तीनों आदमियों में बातें चल रही थीं। मेरी एक 'कुर्बानी' नाम की कहानी निकली थी। उस पर उन लोगों ने उन्हें बधाइयाँ दी थीं। और हार और उर्दू में परचा दिया था जब उन्हें पहुँचाकर लौटे तो उसी हार और उसी गुलाल से मुझसे होली खेले।

मैं बोली—आप ने बड़ी देर लगा दी।

आप हँसते हुए बोले—काम तुम करो। बधाई मुझे मिले।

मैं बोली—आख़िर है क्या, बताओ न !

आप बोले—तुमने जो 'कुर्बानी' नाम की कहानी लिखी है, उसी पर उन लोगों ने मुझे बधाई दी है।

मैं हँसती हुई बोली—फिर देखो, मैं अब की ऐसी कहानी लिखूँगी, जिससे आपकी बदनामी हो। समझे न !

आपने हँसकर कहा—इसमें चिढ़ की क्या बात है ? पुरुष बड़े हैं। उन्हें सब कुछ मिलता है।

मैं बोली—उस पर आपको गालियाँ भी मिलेंगी। मुझे संतोष हो गया कि चलो दूसरी कहानी नहीं लिखनी पड़ेगी। उसी पर मुझे लोग विधर्मी बना डालेंगे।

आप बोले—हिन्दुओं की बात तो निराली होती है।

मैंने पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आपने हँसकर जवाब दिया—न मैं हिन्दू हूँ, न मुसलमान।

मैंने कहा—नहीं यह बात नहीं है। आप हिन्दू तो हई हैं।

आपने कहा—जिस धर्म में रहकर लोग दूसरे का छुआ पानी नहीं पी सकते, उस धर्म में मेरे लिए गुंजाइश कहाँ ? मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दू धर्म किस पर टिका हुआ है ?

मैं उन पर व्यङ्ग करती हुई बोली—स्त्रियों के हाथ में।

आप बोले—हिन्दू-धर्म सबसे ज़्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। ज़रा-सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू-समाज ने बहिष्कृत किया। सबसे ज़्यादा हिन्दू स्त्रियाँ चकलेखाने में हैं। सबसे ज़्यादा हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान होती हैं। ये आठ करोड़ मुसलमान बाहर के नहीं हैं, घर के ही हैं। ये सब तुम्हारी ही बहनें हैं। और मैं यह भी कहता हूँ कि ऐसे तंग धर्म में रहना भी नहीं चाहिए। पहली बार जब हिन्दुओं के मौजूदा धर्म की नींव पड़ी तब पुरुष कर्त्ता-धर्ता थे। उन्होंने अपने लिए सारी सुविधाएँ रख लीं, हिन्दू स्त्रियों को छोटे से दायरे के अन्दर बंद कर दिया ; फिर वह कैसे उदार विचार का होता। वे स्त्रियाँ न देवियाँ थीं, न मिट्टी का लोंदा। जो-जो अच्छाइयाँ या ख़राबियाँ पुरुषों में होती हैं वे ही सब स्त्रियों में भी पाई जाती हैं। तो जब तक कि दोनों बराबर-बराबर न बँटी हों, तब तक कैसे कल्याण होगा ? पुरुषों की वे सुविधाएँ स्त्रियों को भी मिलनी चाहिएँ। थोड़ी-थोड़ी गल्तियों में अपनी बेटी-बहनों को निकाल देते हैं। फिर वे कहीं न कहीं तो ज़रूर जायँगी। हिन्दुओं की कोशिश तो यह होती है कि उन स्त्रियों को दुनियाँ ही से विदा कर दिया जाय। सरकार के भय से ज़रा चुप रहते हैं। उधर मुसलमानों का धर्म बहुत विशाल है। उनमें सबको रखने की ताकत है। इधर हिन्दू लोग ख़ुद अपने लिए गड्ढा खोदते हैं तब उसमें कौन गिरेगा ? वही गिरेंगे भी। मान लो एक गर्भवती औरत को कोई निकाल दे तो वह कहाँ जायगी ? यह समझ लो, एक औरत को निकालते समय दो को तुमने मुसलमान कर दिया। फिर उसके जितने बच्चे होते जायँगे, सब मुसलमान ही तो होंगे। तुम्हारे यहाँ जब स्त्री और पुरुष में समानता नहीं है, तब अन्य धर्मवालों में कब संभव है ? बिलकुल असम्भव है। मगर हिन्दू लोग अपनी हठधर्मी नहीं

छोड़ते। फिर मैं तो कहता हूँ कि अगर हिन्दू ऐसी ही हठधर्मी में पड़े रहे तो जब इनके घर की लड़कियाँ ख़ुद दूसरे के घर में शादी करना पसन्द करेंगी, तो क्या तुम समझती हो यह नुकसान थोड़ा है। फिर इन लोगों में तो मूढ़ता-सी आ गई है। देखो ज़रा-सी कुर्बानी के पीछे सैकड़ों आदमी साल में मरते हैं।

मैं बोली—आख़िर ज़्यादा हिन्दू न !

आप बोले—चाहे कोई हों। मरते तो हैं तो तुम्हारे ही भाई-बन्द न ! तुम्हीं में से निकलकर वे मुसलमान हुए हैं, और यह सब तुम्हारी मूर्खता का तावान है। फिर मैं तो कहता हूँ, गाय के पीछे आदमी की कुर्बानी होना अच्छा है ? और वह गाय तो तुम्हारी और मुसलमानों दोनों की है। वह भी इसी जगह पैदा होते हैं और मरते हैं। जिस-जिस चीज़ से उसका हानि-लाभ होगा, उसी से तुम्हारा भी होगा। अगर तुम ठंढे दिल से समझा दो तो दूसरी बात है। अगर तुमसे समझाते न बने तो उसे छोड़ दो। यहाँ तो झगड़ा करने का मर्ज़ है।

मैं बोली—आप समझदार हैं तो ख़ुद क्यों नहीं समझा देते।

वे बोले—जिनको मैं समझाता हूँ वे ख़ुद समझदार हैं। वे गाय की कुर्बानी ख़ुद नहीं करते।

मैंने कहा—कौन फिर करते हैं ? किसे समझाया जाय ?

आप बोले—उन लोगों को समझाना है, जिनकी रोज़ी इन्हीं झगड़ों पर चलती है। इसमें पंडा, मुल्ला और नेता शरीक रहते हैं। उन्हीं को इसमें ज्यादा मज़ा आता है। इस झगड़े में जनता का क्या हाल होगा, इससे उन्हें कोई बहस नहीं। उनको तो वाहवाही मिलनी चाहिए और मौज उड़ाने के लिए पैसे। जितना हम लोग पंडों से परेशान हैं, उतना ही समझदार लोग मुल्लाओं से।

मैं बोली—तब आप लोग क्यों नहीं उनको निकाल बाहर करते ?

आप बोले—कोई समय आयेगा, जब वे लोग बाहर ही निकाल दिये जायँगे।

अंग्रेजों के यहाँ हजारों बछड़े काट-काटकर भेज दिये जाते हैं। उनसे कोई नहीं कहता कि इन बछड़ों को मत भेजो। न बेचें तो जबरन कोई थोड़े ही छीन लेगा। मगर नहीं, उनसे कोर दबती है। जहाँ लड़ना है, वहाँ नहीं लड़ते।

मैं बोली—हम लोगों की पूजा की चीज़ गाय है।

आप बोले—तुम लोग कौन कम हो मुसलमानों से। तुम लोग भी तो भेड़-बकरे देवी को बलि चढ़ाते हो। क्या उस बकरे की जान नहीं होती? इसी से मैं कहता हूँ, कोई धर्म न अच्छा होता है, न बुरा। उन्हीं हिंदुओं को मैं कहता हूँ जो गाय के पीछे प्राण देते हैं, वही हिंदू अपने मा-बाप को रोटियाँ नहीं दे सकते हैं। वही हिंदू घर की बेटी-बहन को निकाल देते हैं। यह क्या इंसानियत से दूर करनेवाली बातें नहीं है? फिर भी लोग नाज़ से कहते हैं, गऊ हमारे पूजने की चीज़ है। जो मा को रोटी न दे सके, वह गाय को क्या चारा देगा?

मैं बोली—यहाँ सैकड़ों आदमी गाय के पीछे प्रतिवर्ष कुरबान होते हैं। गाय के पीछे।

आप बोले—रानी, पागल न हो तुम, सुनो। वह गाय के पीछे नहीं कुर्बान होते, बल्कि वे अपनी कुरेदन के पीछे कुर्बान होते हैं। उनके अंदर जो कुरेदन रहती है, उसी को मौक़ा पाकर दोनों निकालना चाहते हैं।

मैं बोली—आप किस मज़हब को अच्छा समझते हैं?

आप बोले—अवश्य मेरे लिए कोई मजहब नहीं। राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी बराबर हैं। इन महापुरुषों ने जो कुछ किया सब ठीक किया। उनके अनुयायियों ने उसको उलटा किया। कोई धर्म ऐसा नहीं है कि जिसमें इंसान से हैवान होना पड़े। इसी से मैं कहता हूँ, मेरा कोई ख़ास मज़हब नहीं है। सबको मानता भी हूँ। इस तरह के जो नहीं हैं, उनसे मुझे कोई मुहब्बत नहीं। यही मेरा धर्म समझो।

ड्योढ़े दर्जे में

सन् '२९ की बात है। मैं प्रयाग से लौट रही थी। मेरे साथ बन्नू था, आप थे। हम तीनों इन्टर-क्लास से आ रहे थे। चैत का महीना था, अष्टमी थी। गाड़ियों में बेहद भीड़ थी। जब बहुत-से देहाती मुसाफ़िर हमारे डिब्बे में घुस आये तो आप बोले—यह ड्योढ़ा दर्जा है, किराया ज़्यादा लगेगा।

देहाती लोग बोले—क्या करें बाबूजी, दो रोज से पड़े हैं।

आप बोले—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाओगे?

'हम लोग शीतलाजी के दर्शन करने गये थे।' देहातियों ने कहा।

आप बोले—शीतलाजी के दर्शन करने से तुम्हें क्या मिला? सच बताओ, तुम लोगों का कितना-कितना ख़र्चा हुआ है?

'एक-एक आदमी के कम-से-कम १५)।' देहातियों ने कहा।

आप बोले—इसका यह मतलब कि तुम लोगों ने चार-चार महीने के खाने का गल्ला बेंच दिया। इससे अच्छा होता कि देवीजी की पूजा तुम घर पर ही कर लेते। देवीजी सब जगह रहती हैं। वहाँ भी तुम पूजा कर सकते थे। देवी-देवता तभी ख़ुश होते हैं जब तुम आराम से रहो।

'क्या करें मनौती माने थे। अगर देवीजी के यहाँ न जाते तो नाराज़ न होतीं!' देहातियों ने कहा।

गाड़ी बेहद भरी थी। साँस लेना कठिन था। गर्मी भी पड़ने लगी थी। अगला स्टेशन जब आया तो मैं बोली—इनसे कह दीजिए उतर जायँ। इन उपदेशों का पालन इनसे नहीं होगा।

आप बोले—तो बिना समझाये भी तो काम नहीं चलने का।

मैं बोली—फिर से समझा लेना। मेरा तो दम घुटा जा रहा है।

आप बोले—इन्हीं के लिए तो जेल जाती हो, लड़ाई लड़ती हो और इन्हीं को हटा रही हो। मुझे तो इन गरीबों पर दया आती है। बेचारे मूर्ख धर्म के पीछे मर रहे हैं।

मैं बोली---जो बेवकूफ़ी करेगा, वह भूखों न मरेगा तो और क्या होगा ?

आप बोले---क्या करें। सदियों से अन्ध विश्वास के पीछे पड़े हैं।

मैं बोली---जो ख़ुद ही मरने के लिए तैयार हैं, उन्हें कोई जिन्दा रख सकता है ? इनके ऊपर जबरन कोई कानून लगा दिया जाय तो इनमें समझ आ सकती है।

तब आप बोले---धीरे-धीरे समझ लेंगे। यद्यपि अभी काफ़ी देर है। कोई काम जबरन किया जायगा तो मरने-मारने को तैयार हो जायँगे।

मैं बोली---तो गाड़ी में बैठे-बैठे नहीं सीख जायँगे।

तो फिर बोले---आख़िर तब कब समझाया जाय ?

मैं बोली---आप इन्हीं के लिए तो पोथा-का-पोथा लिख रहे हैं।

'ये उपन्यास लेकर थोड़े ही पढ़ते हैं। हाँ, उन उपन्यासों के फिल्म तैयार कर गाँव-गाँव मुफ़्त दिखलाये जाते तो लोग देखते।'---आप बोले।

मैं बोली---पहले आप लिख डालिए। फिर फिल्म तैयार करवाइएगा।

हममें ये बातें हो रही थीं कि तब तक रेलवे-पुलीस का आदमी आया। उन सबों को धमकी देने लगा और कहने लगा कि ड्योढ़ा है। और किराया लाओ।

उस पुलीसमैन की हरकत देखकर आपको बड़ा क्रोध आया। और बोले---तुम लोग आदमी हो या पशु ?

पशु क्यों हूँ। तीसरे दर्जे का किराया दिया और ड्योढ़े में आकर बैठे हैं !'

'तीसरे में जगह थी जो उसमें बैठते ? किराया तो तुमने ले लिया। यह भी देखा कि गाड़ी में जगह है या नहीं ? आदमियों को पशु बना रखा है, तुम लोगों ने। मैं इनके पीछे लड़ूँगा। यह राहज़नी कि किराया ले लें और गाड़ी में किसी को भी जगह नहीं। चलो। दो, इनको तीसरे दर्जे में जगह। और उन आदमियों से कहा कि चलो। मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ। और उन आदमियों को लिये हुए पुलीसमैन के साथ आप उतर पड़े।

पुलीसमैन ने उन आदमियों को किसी तरह एक-एक करके भरा। जब आप लौट कर आये तो मुझसे बोले—देखा इन आदमियों को ?

मैं बोली—आप क्यों लड़ने लगे ?

आप बोले—मैं क्या कोई भी इस तरह की हरकत नहीं देख सकता। और इस तरह के अत्याचार देखकर कुछ न बोले तो मैं कहूँगा कि उसके अन्दर गर्मी नहीं है।

मैं बोली— कांग्रेस के आदमी जो नेता कहे जाते हैं, वे 'ए' 'बी' में मौज से रहते हैं। यह पता भी नहीं रखते कि 'सी' क्लासवालों को क्या आराम तकलीफ़ है।

आप बोले—अगर यहाँ के सभी आदमी ज़िम्मेदार ही होते तो इस तरह का मुल्क न होता। हमारी इसी कमी से सरकार राज कर रही है। मुट्ठी भर अँग्रेज़ पैंतिस करोड़ आदमियों पर राज्य करें. इसके माने क्या है ? हममें चरित्रबल, आत्मबल कुछ भी नहीं है। उसी का तावान हम भोग रहे हैं और रो रहे हैं।

मैं बोली—यह एक दिन में थोड़े ही सँभलेगा ?

आप बोले—तो क्या सब हाथ-पर-हाथ धरे लोग बैठे रहें, तब भी तो अच्छा न होगा ?

मैं बोली—होगा। जब होगा।

वे बोले—तो तुम नाहक़ जेल गईं, कांग्रेस के पीछे मरती रहीं। यह आज़ादी का पौधा इमली के दरख़्त की तरह है। बाबा लगाता है तो पोता फल खाता है।

रायसाहबी

मैं लखनऊ में थी। हेली साहब गवर्नर होकर आये थे। उन्होंने अपने एक मित्र से, जो हिन्दुस्तानी थे, कहा—धनपतरायजी को आप पत्र लिखें मैं उनको रायसाहबी देना चाहता हूँ, क्योंकि वे भारत के सबसे बड़े राइट

हैं। जिनसे गवर्नर साहब ने कहा, वे इनकी किताबों के बड़े भक्त थे। उन्होंने एक पत्र लिखा और लिखा कि गवर्नर साहब आपको रायसाहबी का ख़िताब देना चाहते हैं। आप उनसे मिलिए।

वह पत्र लेकर आप अन्दर आये, मुझसे बोले—गवर्नर साहब का मेरे पास पत्र आया है।

मैंने पूछा—क्या लिखा है ?

'साहब बहादुर मुझे रायबहादुरी देना चाहते हैं।'

मैं—उन्हीं का ख़त है कि किसी और से लिखवाया है।

'हाँ, किसी और से लिखवाया है।'

'कौन महाशय हैं ?'

'हैं एक महाशय, सर का ख़िताब उन्हें भी मिला है।'

'लीजिए शौक से रायसाहबी।' मैं बोली—खाली रायसाहबी देंगे कि और भी कुछ ?'

'इशारा तो और भी कुछ के लिए है।'

'तब लीजिए न।'

'तो क्यों देना चाहते हैं, बता दूँ ? तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू रह जाऊँगा।

मैं—कैसा पिट्ठू ?

'उसी तरह, जैसे और लोग हैं। अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है। तब गवर्नमेण्ट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा। तुम मंज़ूर करो, तो ले लूँ।'

मैं—ज़रूर लीजिये।

'तुम्हारा निर्णय हो तो मैं लिखूँ।'

मैंने सोचा, कहीं सचमुच न लिख दें बोली—बड़ा मँहगा सौदा है।

तब आप बोले—हाँ मैं ऐसा ख़ुद न करूँगा।

'उनको क्या जवाब दीजिएगा।'

'उनको धन्यवाद लिख दूँगा और लिख दूँगा कि मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ। अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर। गवर्नमेण्ट की रायसाहबी की इच्छा नहीं। गवर्नर साहब को मेरी तरफ़ से धन्यवाद दे दीजिएगा।

लखनऊ : महिला-आश्रम

सन् '२९ की बात है। महीनों से रात को मुझे हल्का-हल्का बुख़ार आता था। सुबह ४ बजे उतर जाता था।

कांग्रेस का ज़माना था। सुबह से १२ बजे तक घर के खाने-पीने का काम करती। १२ बजे के बाद महिलाश्रम चली जाती। आप बार-बार मुझे मेहनत करने से रोकते। डाक्टरों का कहना था कि मेहनत करने से बुख़ार हो आता है।

मैं उस बुख़ार को छिपाना चाहती थी। अगर बुख़ार की हालत जान जाते तो कांग्रेस का काम रुक जाता।

जुलाई का महीना था। शराब की पिकेटिंग हो रही थी। मैं ५०-६० औरतों को लिये तीन-चार दिन गई। वहाँ से लौटने पर नहाती थी।

चौथे दिन मुझे तेज़ी से बुख़ार चढ़ आया। दस दिन और दस रात तक बुख़ार रहा। आपको यह देखकर क्रोध आया।

उन दिनों देहातों में मोहनलाल सक्सेना दौरा करने जाते थे। आये तो तीन दिन तक आप भी उन्हीं के साथ दौरा करते रहे। चौथे दिन जब देखा कि मेरा बुख़ार नहीं उतरा। मैं बोली—आप तीन दिनों तक कहाँ थे ?

आप बोले—जहाँ से तुम बुख़ार लेकर आईं, वहाँ का काम करने गया था।

मैं बोली—आप तीन रोज़ ग़ायब रहे।

'अगर ग़ायब न रहता तो काम कैसे चलता।'

मैं बोली—मेरे अच्छी होने पर आप जाते। घर में छोटे-छोटे बच्चे, मैं बीमार।

आप बोले—जब कोई मरने पर तुला हो तो मैं उसे ज़िन्दा रख सकता हूँ!

मैं बोली—मरने पर कौन तुला है? हाँ, जिम्मेदारी समझना हर एक का कर्तव्य है।

'इसके माने कि तुम मरती रहो और मैं बैठे-बैठे देखा करूँ?'

मैं बोली—और मैं क्या करती? ये ६०-७० औरतें कैसे काम करतीं? उनमें समझदार और ज़िम्मेदार तो दो ही तीन औरतें हैं। वे तो आराम से अपने घर रहें और वे सब नौकरानियाँ हैं, जो काम करती रहें, जिनको अभी तक यह भी नहीं मालूम है कि स्वराज्य में क्या मिलेगा? अभी तक तो यह समझ रही हैं कि ये काम कर रही हैं, मैं भी कर रही हूँ।

आप बोले—इसके माने यह कि मरता भी रहे तो काम करता रहे।

'जब मर रही हूँ तो खाट पर पड़ी नहीं हूँ? रोज़ाना वे आती हैं और देख जाती हैं।'

'तुम्हें देखने आती हैं?'

'हाँ, पर हमदर्दी के मारे नहीं। यह समझकर कि आराम तो नहीं कर रही हैं?'

'इसके माने यह कि वे तुमको बेवकूफ़ बनाती हैं।'

मैं बोली—वे बेवकूफ़ नहीं बनाती हैं। उन्हीं को क्या गरज़ पड़ी है कि वे सब काम करें। मुझे तो उन बेचारियों पर दया आती है। न वे कुछ जानती हैं, न समझती हैं, फिर भी हमारे साथ मरने को तैयार रहती हैं। वे बराबर हमारे साथ सिर खपाती हैं। बहुत-सी तो इतनी ग़रीब हैं कि उन्हें खाने को नहीं रहता। फिर जब काम ठीक-ठीक न होता रहेगा तो बदनामी तो नाम वालियों की होगी। नेकनामी मिलेगी तब भी हमीं लूटेंगी।

'अच्छा तो आराम से सोओ न।'

दसवें रोज़ जब मेरा बुख़ार उतरा तो मैंने जूस लिया। तभी वे आ और मुझे पकड़ ले गईं।

आप उनसे बोले—दो-चार रोज़ इन्हें आराम कर लेने दो। फिर ये बीमार पड़ जायँगी।

स्त्रियाँ—इसके माने यह कि हम भी अपने घर आराम करने जायँ। क्या हमारे घर कोई ब्याह-शादी है?

मैं बोली—तुम तो नाराज़ होती हो। मैं फिर काम करूँगी। आराम के मारे थोड़े ही जान बचा रही थी। एकाध रोज़ ज़रा आराम कर लेने दो।

स्त्रियाँ—आप जब तक आराम करेंगी, तब तक हम भी घर रहेंगी। उन स्त्रियों के साथ तो हम से काम न हो सकेगा।

मैं बोली—दया करो। देख तो रही हो। मैं चारपाई पर पड़ी हूँ। आज तो जूस लिया है।

स्त्रियाँ—अच्छा जब आप काम करने जायँ तो हमें बुला लें।

मैं बोली—बहनो, रूठो नहीं। मैं सुबह आऊँगी। अभी तो मुझसे चला भी नहीं जा रहा है।

बोलीं—हम आप से रूठती नहीं हैं। वहाँ हमें लोग कहते हैं कि ये तनख़्वाह पाती हैं। हम कैसे काम करें आप ही बताइए। दिन भर कांग्रेस का काम करती हैं। रात को बेसन पीसती हैं; धोई बनाती हैं, तब हमारा काम चलता है। उस पर जिसे देखिए, वही डाँट बैठता है। अब तो हमने यही सोच लिया कि आप काम न करेंगी तो हम घर पर बैठ जायँगी।

मैं बोली—बहनो, जब तक मैं लखनऊ में हूँ, तब तक मेरी लाज रखना।

उसी समय मैं कपड़े पहनकर पैदल उनके साथ चली। क्योंकि सबों के लिए चार ताँगे लगते।

आप बैठे ही थे। आपने देखा। 'मैं जा रही हूँ,' यह कहती हुई मैं चली गई। दो ही तीन दिन काम कर पाई थी कि फिर मुझे बुख़ार चढ़ा। मैं ख़ुद कपड़े भी नहीं उतार पाई। नौकर ने मेरा जूता खोला। और तीन दिन और तीन रात मुझे बुख़ार चढ़ा रहा। इस पर आप मुझ पर बहुत नाराज़ होने

लगे। बोले—क्या प्राण देने पर उतारू हो ? मैं सोचता हूँ तुम ऐसी ही रहीं तो महीने दो महीने में मर जाओगी।

मैं बोली—आप ख़ुद भी तो देख रहे हैं। क्या करूँ। कोठरी में बन्द होना चाहूँ तो भी बन्द नहीं हो सकती। उस दिन तो आप ने सबकी बातें सुनीं। मैं मज़बूर होकर गई। इसके आगे मेरे पास कोई भी दवा नहीं है।

आप बोले—अब महीना-दो-महीना तुम खाट पर पड़ी रहो। तब तो लोग समझेंगे कि तुम भली नहीं हो।

मैं बोली—बहाना वहाँ चलता है, जहाँ लोग जबर्दस्ती काम करवाते हैं। जो काम अपनी ज़िम्मेदारी समझकर किया जाता है, उससे कैसे मुँह मोड़ूँ ?

आप बोले—इसमें ज़िम्मेदारी की क्या बात है ? महात्माजी से थोड़े ही कोई बढ़ जायगा। जब वे बीमार होते हैं तो उनसे कोई नहीं मिलने पाता।

मैं बोली—क्या मैं महात्मा गान्धी हूँ ?

आप बोले—आदमी तो हई हो। महात्माजी की ज़रूरत सारे हिन्दुस्तान को है तो तुम्हारी तुम्हारे घरवालों को ही है। अगर तुम न मानोगी तो मैं मिलनेवालियों को रोक दूँगा।

मैं बोली—यह मेरे साथ अत्याचार होगा।

आप बोले—उसी तरह का अत्याचार होगा, जैसे तुम क़लम तोड़कर फेंक देती हो। जैसे तुम्हें मेरी ज़रूरत है, वैसे ही मुझे भी तुम्हारी ज़रूरत है।

इसके बाद मैं १०-१२ रोज़ तक पड़ी रही।

उसी साल अप्रैल में हम दोनों बनारस आये। उन्होंने 'माधुरी' का काम छोड़ दिया।

महिला-आश्रम: स्त्री और पुरुष

एक बार कांग्रेस की मीटिंग हो रही थी। उसमें काम करनेवाले १४० पुरुष थे, उनमें आप भी थे। स्त्रियाँ केवल १० थीं। तिस पर पुरुषों की शिकायत थी कि स्त्रियाँ अधिक तादाद में हैं।

आप बोले—तो यह भूल है।

मैं—तभी से स्त्रियाँ महिलाश्रम से प्रसन्न नहीं हैं। उनका कहना है कि हम लोग बहुत हैं। थोड़े लोग काम करें। हमारी तकलीफें तो पुरुषों के ध्यान में भी नहीं आतीं। छः महीने हुए, कांग्रेस दफ़्तर ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया गया। तब से सारा बोझ महिलाश्रम पर ही है। अब उनको सोचना चाहिए कि आज स्त्रियाँ न होतीं तो काम कैसे बढ़ता।

'तभी न मैंने कहा कि उनकी भूल थी।'

'आप बतायें न, स्त्रियाँ कैसे आगे बढ़ें?'

'अधिकार भी बड़ी मँहगी चीज़ है। बलिदान करो न उसके लिए! दया से कोई चीज़ मिल भी जाय तो अच्छा नहीं और स्थायी भी नहीं होती। अपने पौरुष से ली हुई चीज़ अच्छी होती है।'

मैं—हमको अपाहिज बनानेवाला है कौन?

'इसकी शिकायत तुम न करो। वह समय ही ऐसा था। पहले का रोना रोने से काम नहीं चलेगा। अब सँभलो।'

मैं—उस पुरानी हालत में भी हम-तुम दोनों साथ थे और आज भी साथ देने को तैयार हैं। तब आप कैसे कहते हैं कि माँगने से नहीं मिलता। तुम्हीं अपना बलिदान करो!

तब बोले—जो अब तक स्त्रियों के साथ बराबरी का बर्ताव नहीं बरत पाये हैं, वे इतनी जल्द उदार नहीं हो सकते। आज पुरुष स्त्रियों पर इस बात से बहुत प्रसन्न हैं कि आज स्त्रियाँ मैदान में न आतीं तो कांग्रेस तो ख़तम ही थी।

'तब स्त्रियों के गुरु पुरुष कैसे हुए? स्त्रियाँ भला कब अपने कर्तव्य से विमुख हुईं?'

'जब स्त्रियाँ अपने को पुरुषों से अलग समझने लगेंगी तो याद रखो, संसार भयंकर हो जायगा।'

'तब नाज किस बात पर? जहाँ ही देखिए, पुरुष आगे कदम बढ़ाये रहते हैं।'

'नहीं, वे तुम्हारी दया के पात्र हैं। और तुम लोग उन पर क्रोध मत करो। जिसे तुमने अपने हाथ से बनाया, वह तुम्हारे हाथ से कैसे ख़राब होंगे ?

'इसके माने तो यह हैं कि हत्या के बल खेत खाते हैं।'

'और क्या समझती हो ? जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही गंभीर होता है। उसी के ऊपर दुनिया टिकती है। इसी से मनु भगवान ने कहा हैं—गुरु बाप से एक हज़ार गुना भी अधिक पूज्य है। इसके योग्य क्या सहज ही हो जाओगी ?'

मैं—इसके आगे क्या कहूँ। लड़ाई तो जब है, जब कोई बराबर का लड़नेवाला हो। इसी वास्ते हम अपना सिर झुकाये चले जाती हैं। और घुट-घुटकर मरती भी हैं।

'इसी से तुम लोगों को शक्ति का स्थान मिला है।'

मैं—पुरुषों को भुलावा देना खूब आता है।

'स्त्री-पुरुष का अलगौझा कैसा ? स्त्रियों के अलगाव में तो हम जीवित भी नहीं रह सकते।'

मैं—पुरुष तो पहले ही स्त्रियों पर डण्डा लेकर उठते हैं।

'वह पशुबल है। जिसकी दुनिया में कोई वकत नहीं। देव-दानव में झगड़ा होने पर दानव हमेशा जीतते हैं, क्योंकि वे जायज़-नाजायज़ सब कुछ कर सकते हैं, जहाँ कोई नीति नहीं, कोई धर्म नहीं। उस समय देव हमेशा बैठा रहता है, क्योंकि ओछा वह, जो ओछे के मुँह लगे। इसी वास्ते वह देव हमेशा ही ऊँचा रहेगा। जो दानव है, उससे शिकायत क्या की जाय। इसी तरह स्त्री और पुरुष हैं। पुरुषों को स्त्रियाँ मिटाना नहीं चाहतीं तो खुद नहीं मिटेंगी तो होगा क्या ? मगर हाँ, वे हमेशा पूजनीय हैं। यह उन्हीं के योग्य भी है।

मैंने कहा 'खूब' और वहाँ से उठ आई।

उनके दिल में स्त्री-जाति के प्रति श्रद्धा थी। वे स्त्रियों को पुरुष से बड़ा

समझते थे। अगर मैं गाँव में रहती और शाम को बाहर बैठना चाहती तो आप बाहर मुझे देखते ही अपने लिये झट दूसरी कुर्सी लाने चले जाते। अगर गर्मी में शाम को वे छत पर होते और मैं भी जा पड़ती तो आप फ़ौरन दूसरी कुर्सी के लिए नीचे चले जाते। अगर वे खाना खाने बैठते तो पानी खुद ले लेते। मेरे लिए भी गिलास में पानी रख देते। मेरी आड़ में जब नौकर न रहता तो अपनी चारपाई बिछाते हुए मेरी भी बिछा देते। अगर मैं घर में अकेली खाना पकाती होती तो उसी जगह चौके के पास वे रात भर बैठे रहते। जब मैं खाना पका चुकती, तो मुझे लिये हुए वे अपने कमरे में जाते। मुझे पढ़ने के लिए कोई अच्छी चीज़ देकर तब आप लिखना शुरू करते। खाना खाते हुए मुझे उनके पास बैठना ही पड़ता। चाहे कोई भी पकाता। उनको अकेले खाना अच्छा न लगता था। वे खाते समय काफ़ी गप-शप करते थे। 'लीडर' रोज़ पढ़कर वे मुझे सुनाते। अगर मैं पास न होती तो मुझे बुला लेते। और उसे पढ़कर, हिन्दी में अनुवाद कर मुझे सुनाते जिसमें मैं अँग्रेज़ी न जानने की चिन्ता न करूँ। इसलिए मैं कभी उर्दू और अँग्रेज़ी न पढ़ लेने के कष्ट का अनुभव न करती। मुझे शहर ही में अगर कहीं जाना होता, वे मेरे साथ वहाँ तक जाते। दरवाज़े तक मुझे पहुँचाकर वापस आते।

मेरे जेल जाने के पहले की परिस्थिति : लखनऊ।

पहले जब मैं काँग्रेस में काम करने लगी, जुलाई का महीना था। मैं चुपके-चुपके काम करती। मैं क्या काम करती यह घर में कभी ज़ाहिर न करती। क्योंकि मुझे डर था कि उनको मालूम होने पर वे मेरा घर से बाहर निकलना मुशकिल कर देंगे और बहुत मुमकिन था कि वे जल्दी से जल्दी जेल चले जाते। क्योंकि वह पहले ही से जेल जाने के लिए तैयार थे। जब-जब बातें होतीं तब-तब यही कहते थे कि अबकी बार मुझे जेल अवश्य जाना है, फिर अब तुम लोगों को खाने की भी कमी नहीं है, और कुछ नहीं होगा

तो मेरी किताबों की रॉयलटी तो मिल ही जायगी। मैं प्रेस मैनेजर को लिखता जाऊँगा तो वह तुमको कम-से-कम सौ तो दे ही देंगे।

मैं बोली—अभी तक तुम्हारी रॉयलटी की सौ कौड़ी तो मिली नहीं, सौ रुपए तो बहुत बड़ी चीज़ है।

'अरे भाई जब तक काम चलता रहता है, तब तक रुपयों की तरफ़ किसी की निगाह भी तो नहीं जाती।'

मैं कम-से-कम एक दिन में दो मुहल्लों की मीटिङ्ग अटेंड करती थी और भाषण देती थी। पर मैंने अख़बारों में अपना नाम देने की रोक लगा दी थी। मैंने इस डर से रोक नहीं लगाई थी कि गवर्नमेंट मुझे गिरफ़्तार करेगी बल्कि इसलिए कि एक दो स्त्रियों में यह वहम हो गया था कि मैं उनसे आगे हूँ और मैं जो काम करती हूँ, उसमें मेरा नाम होता है। मेरी आत्मा इस बात को गवारा नहीं करती थी कि मेरा नाम हो और जो दिन भर मेरे साथ और मुझसे ज़्यादा काम करें उनका न हो। इसको मैं पहले से बुरा समझती थी और अब भी समझती हूँ। साथ ही उससे काम की रफ्तार कम होने का ख़तरा भी था। इसके बदले में मुझको उन स्त्रियों से ख़ास सहानुभूति थी जो कि मेरी चीज़ थी। और काम, बिना भाव विवेक के बड़ी तेज़ी के साथ सब करने को तैयार रहती थी। दूसरे मैं उनसे यह छिपाना चाहती थी कि मैं उस आन्दोलन के काम को बढ़ाना चाहती हूँ। मगर उनको इसका हाल कांग्रेस के दफ्तर से मालूम हो जाता था। मैं जब रात को घर लौटती तो बहुत डरते-डरते घर में आती और आते ही घर के कामों में लग जाती। घण्टे दो घण्टे उनके साथ भी ग़पशप करती। उन्हीं दिनों मुझे हलका-हलका बुख़ार भी रात को हो जाता था। पर मैं बीमारी को छिपाती। इसी तरह हमारा काम चलता था। इस सब का कारण यह था कि मैं उनको जेल न जाने देकर खुद जाना चाहती थी, और आख़िर हुआ भी वही। हालाँकि जब कभी उनको मेरी चालाकी मालूम होती तो वह मेरे ऊपर झुँझलाते, कभी-कभी मुझसे झगड़ा

भी कर बैठते थे। मैंने जो कुछ काम किया वह देश-सेवा के लिए न कि अपने स्वार्थ के लिए।

हार

अगर वे कहीं जल्से में जाते तो वहाँ जो उन्हें हार वग़ैरह मिलता तो लौटते ही उसे वे मुझे पहना देते। और कहते—लो यह हार।

मैं—यह हार तो जनता की तरफ़ से मिला होने के कारण बड़ा क़ीमती है। जनता से आपको मिला। आप ने उसे उठाकर दूसरे को दे दिया। यह क्या? यह तो ऐसा लग रहा है कि हार का मूल्य आपने नहीं समझा।

आप बोले—नहीं, उसने मुझे भेंट किया। वह भेंट की हुई चीज़ मेरी हो गई। मैं जिसका पुजारी हूँ, उसे मैंने चढ़ा दिया। इसका मूल्य है। अब और भी बढ़ गया। मैं तुम्हें अपने से कम नहीं समझता।

मैं—मतलब यह कि जनता द्वारा दिया हुआ कर्तव्य का बोझ आपने मेरे सिर डाल दिया। मैं अगर इस बोझ को अपने दुर्बल कन्धों पर न सँभाल सकूँ तो?

'मैं तो समझता हूँ कि किसी बोझ को बिना तुम्हारे सहारे के नहीं उठा सकता। फिर मैं तो तुमसे अलग अपने को समझता ही नहीं। मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि कोई पुरुष बिना स्त्रियों के कुछ भी नहीं कर सकता। जब तक स्त्रियों का हाथ किसी काम में न लगेगा, तब तक कोई भी काम पूरा नहीं पड़ सकता। जब घर-घर की स्त्रियाँ, पुरुष हिन्दुस्तान की तरक्की में लगेंगे, तभी कल्याण होगा।'

मैं—खुशामद करना हो तो आपको बुला ले। स्त्रियों को तो इस तरह की बातों से और अभिमान हो जायगा।

'मेरा विश्वास है कि चाहे औरों को हो या न हो, पर तुमको तो क़तई नहीं हो सकता।'

मैं—मैं कोई देवी नहीं हूँ। मुझे भी गर्व हो सकता है।

'मुझे मालूम है। तुम्हारे गर्व से कल्याण ही हो सकता है। ऐसा गर्व तो होना ही चाहिए। अगर वैसा गर्व मुल्क भर में हो जाय तो हम आदमी बन जायँगे। जो अपने को बलिदान कर दूसरे का गर्व बढ़ाता है उसका गर्व मान्य है।

नमक कानून

सन् १९३० की, लखनऊ बात है। महात्मा गान्धी नमक कानून तोड़ने डाँडी गये थे। सब शहरों में महात्मा गान्धी की जय की धूम मची हुई थी। उन दिनों हम लोग भी लखनऊ में थे। वह 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। अप्रैल का महीना था। मेरे दरवाज़े पर अमीनुद्दौला पार्क था। उसी जगह रोज़ स्वयंसेवक आकर नमक बनाते और ऐसा मालूम होता था कि सारा लखनऊ उसी जगह उमड़ा आता था। उन्हीं के साथ-साथ पुलिस मय हथियार के पहुँच जाती थी। कई युवकों को अपने हाथ से कुरते और टोपियाँ पहनाकर नमक बनाने को भेजते। उनको मैं अपने हाथों से हार पहनाती, और जब वह मेरे पैर छूने लगते तो बरबस मेरी आँखों से आँसू ढुलक जाते। मैं भी उसी उमङ्ग में सीने से लगाकर आशीर्वाद देती, बेटा विजयी हो। इसी तरह तीन महीने तक यह काम चलता रहा। इसके बाद हममें और उनमें बातें होती थीं। वह बराबर कहते थे, रानी ! मेरे जेल जाने का समय आ गया है। मैं उनको जेल नहीं जाने देना चाहती थी, क्योंकि उनकी सेहत ठीक नहीं थी। मैं सोचती कि अगर यह जेल जायँगे तो इनकी क्या हालत होगी। उसका ख़्याल ही मुझे सिहरा देता था। मगर उनके सामने उसका विरोध भी नहीं कर सकती थी; क्योंकि इसमें कायरता थी। सभी के पुत्र और पति और भाई सबके प्यारे होते हैं, तब सभी अपने-अपने को छिपाकर रखना चाहें, तब काम करनेवाले कहाँ से आयेंगे, इसकी चिन्ता मुझे थी। अब मैं स्वयं सोचती कि बच्चे जेल जाने के क़ाबिल थे ही नहीं और इनको जेल जाने देना चाहती नहीं थी, तब सवाल आता कि आख़िर जेल जाये तो कौन ? उसमें आगे बढ़ना मेरा काम था।

२० जुलाई को स्वरूपरानी नेहरू लखनऊ आई थीं। और उनका भाषण सुनने मैं गई थी। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े आदमी मेरे ख़्याल से सभी जेलों में जा चुके थे। जवाहरलालजी भी जेल में थे। माता स्वरूपरानी नेहरू के भाषण में वह जोर था, वह दर्द था, वह गरमी कि जो शायद मुर्दों में भी जान डाल सकती थी। मुझ जैसी मुर्दादिल को भी कुछ गर्मी मिली और मैंने भी अपने कर्तव्य की तरफ़ क़दम बढ़ाया। माता स्वरूपरानी नेहरू ने स्त्रियों के सामने उनका कर्तव्य बताया, उसमें बहुत सी स्त्रियों ने हस्ताक्षर किये, और उसमें मैंने भी अपना नाम दिया। उसी दिन से मैंने भी काम करना शुरू किया। पहले महिला-आश्रम नहीं था, उन्हीं दिनों ग्यारह स्त्रियों ने मिलकर महिला-आश्रम कायम किया। सब स्त्रियाँ बारह बजते-बजते आश्रम में पहुँच जाती थीं, उनमें मैं और मेरी लड़की भी रहती थी। पहले शुरू-शुरू का काम था। स्त्रियों में काफ़ी घबराहट थी। मुझे भी काफी घबराहट होती थी। मुझे अकेले घर लौटना होता, तब मैं घबराई हुई रास्ते में चलती। पर कहीं वह मुझे बाज़ार में देख लेते तो वह मेरे साथ हो लेते। कहते कि तुम इस क़दर घबरा क्यों जाती हो? मैं झेंप जाती और कहती, मैं क्या करूँ? मेरा अकेले में जी घबराता है। वह कहते, इसमें घबराने की कौन-सी बात है। तब मैं कहती कि मान लो कोई बदमाश मिल जाय तो क्या होगा? तब वह कहते कि मान लो कोई बदमाश है ही, तो तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगा। तुम चुपके से अपने घर चली आना। तब वह मुझे दरवाज़े तक लौटकर पहुँचा जाते। फिर लौटकर बाज़ार से सामान लेने जाते। इसी तरह दो-ढाई साल तक चलता रहा।

जेल में

सन् १९३१ नवम्बर का महीना था, ११ वीं तारीख। आप तीन दिन पहले ही बनारस गये हुए थे। ८ बजे का समय था। एक बहिन महिला-आश्रम से आई और मुझसे बोलीं—

चलिए आपको कांग्रेस दफ़्तर में बुलाया है। मुझे नहीं मालूम काम क्या है। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि विदेशी कपड़ों की दुकानों पर हमारे १० स्वयंसेवक गिरफ्तार हो चुके हैं, और व्यापारी लोग विदेशी कपड़ों की गाँठों पर मोहर नहीं करा रहे हैं। अब आप लोग जाइए तब कहीं उन लोगों में गरमी आयेगी।

मैं ११ बहिनों के साथ एक मोटर पर गई और कुछ बहनों को लौटती मोटर पर आने के लिए बुला गई। वहाँ जाने पर हमने पिकेटिङ्ग करना शुरू किया और कोई १५, २० मिनट के बाद पुलिस इन्सपेक्टर आया। मुझसे बोला—आपको हम गिरफ़्तार कर रहे हैं। मैं बोली—पहले वारन्ट दिखलाओ।

इन्सपेक्टर—वारन्ट की कोई जरूरत नहीं, नये कानून के अनुसार।

मैं अपनी छओं बहिनों से बोली—महात्मा गान्धी की जय के नारे लगाओ। हम लोग गिरफ़्तार हो गई हैं। चलिए।

हम लोग महात्मा गान्धी और भारतमाता की जय के नारे लगाते हुए लारी पर बैठ गये। सात बहिनें हम थीं, एक इन्सपेक्टर, ७ कान्स्टेबिल बैठ गये। सब बहिनें राष्ट्रीय गीत गाती हुई चलीं। थोड़ी दूर जाने पर पुलिस इन्सपेक्टर लारी रुकवाकर उतर गया, फिर भी हमारा गाना उसी तरह होता रहा। मुझे ख़्याल आया कि मेरी गिरफ़्तारी के पहले कोई ५०-६० स्त्रियों को पुलिस शहर से बाहर बीहड़ स्थानों में छोड़ आई थी। जब लारी से इन्सपेक्टर उतर गया, तब मैंने देखा कि मेरी लारी पर जो सिपाही बैठे थे, उनकी आँखों में आँसू थे। मेरा ख़्याल है कि उनके दिल के अन्दर दर्द भी था। मुझसे बोले—माताजी, यहाँ हमको बाईस-बाईस रुपये मिलते हैं, अगर हमको बाहर दूसरा कोई १०) भी देता तो हम इस पाप की नौकरी को कभी छोड़ देते।

मैं बोली—बेटा इसकी कोई बात नहीं है, जब तक तुम नौकरी करते हो, तब तक तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि ईमानदारी के साथ अपना कर्तव्य करो, क्योंकि एक तरह की यह भी बेईमानी है कि तुम हमारे साथ

रियायत करो। जैसे हम अपने नेता की बात मानकर जेल जाते हैं, उसी तरह तुम्हारा भी कर्तव्य है। तुम लोग यह ज़रूर करना कि हम लोगों को कहीं बाहर न छोड़कर जेल में ही छोड़ना।

सिपाही आँखों में आँसू भरकर बोला—माताजी ! यदि आप लोग इतनी उदार न होतीं तो जेल ही क्यों जातीं, हम आपको जेल में ही ले जाकर छोड़ेंगे। दुख तो इस बात का है कि जिन माताओं और बहनों की हमें पूजा करनी चाहिए थी, उन्हीं को आज इस पापी पेट के लिए जेल लिये जा रहे हैं।

मैं बोली—बेटा ! तुम लोगों को ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें अपना कर्तव्य करने के लिए शक्ति दे। तुम अब भी मेरे बेटे हो और मैं तुम्हारी मा हूँ। हाँ रास्ते दोनों के अलग-अलग हैं।

यही कहते-कहते हम जेल के फाटक के पास पहुँच गये। वहाँ इन्सपेक्टर पहले ही से मौजूद था। सिपाही लोग भी आँखों से आँसू पोंछते हुए लारी से उतरे और हम सात स्त्रियाँ भी लारी से उतरीं।

जेल के दफ़्तर में गईं। वहीं सबसे नाम-गाँव पूछा गया। जेलर ने सबके नाम-गाँव लिखने के बाद, जिन बहिनों के पास जेवरात थे, उनको उतरवा-कर रखवा लिया और हम बहिनों को जेल में ले जाने के लिए, जमादारिन से कहा। मैं जेलर साहब से बोली—आप कांग्रेस दफ़्तर में फोन करा दीजिए कि हम लोग जेल के अन्दर आ गई हैं।

जेलर ने कहा—बहुत अच्छा, मैं किये देता हूँ।

मैं—धन्यवाद।

जेल के अन्दर जब मैं गई तब दोपहर के दो बजे थे। जेल में बहिनों को हमारे आने की पहले ही से ख़बर मिल चुकी थी, वह हमारे स्वागत के लिए आँचलों में फूल भरे, हाथों में माला लिये पहले ही से खड़ी थीं। हम,जैसे ही पहुँचे वैसे ही वे गले में माला डालकर, फूल बरसाकर इस तरह मिलीं, मानो मुद्दतों से बिछुड़ी हुई परिचित बहनें मिली हों। थोड़ी देर में

वहाँ ख़ासी भीड़ इकट्ठा हो गई। वह थोड़ी ही देर में देश की सारी बातें सुन लेना चाहती थीं। इसी तरह बाहर की बातें बताते-बताते ५ बज गये। ५ बजने के बाद कोई चार-पाँच सौ आदमी और मेरी लड़की और बच्चे भी पहुँचे। फिर मैं दफ़्तर में बुलाई गई। हम सब बहिनें फाटक पर आईं। मेरे घर से कपड़े वग़ैरह और मेरी रोज की ज़रूरी चीज़ें लेकर आये थे। मेरा छोटा बच्चा ९ साल और कुछ महीने का था। स्कूल जाते समय वह मुझसे कहकर जाता कि अम्माँ तुम बाहर कांग्रेस का काम करने न जाना, नहीं तो गिरफ्तार हो जाओगी। तुम घर पर नहीं रहतीं तो घर अच्छा नहीं लगता। रोजाना तो मैं उसको उपदेश देती थी कि मान लो मैं गिरफ्तार हो गई तो तुम क्या करोगे। क्या मुझसे माफ़ी मँगवाओगे? तब वह नन्हीं-नन्हीं दोनों बाहें गले में डालकर और मेरे सीने में मुँह छिपाकर कहता, नहीं अम्माँ माफ़ी नहीं मँगवाऊँगा। आज उसी को अपने सामने देखकर मैं ख़ुद रो पड़ी। आँसुओं को छिपाती मेरी आँखें बच्चों के सामने न उठती थीं। डर यह था कि मेरे छिपे हुए आँसू मेरे बच्चे देख न लें। एक बहिन मेरे बच्चों के साथ मिलने को गई थीं। उन बहिन को मैंने अपने बच्चों को सौंपा 'जब तक मेरे पतिजी न आ जायँ, तब तक आप इन्हीं के पास रहियेगा।' उस वक्त अपने बच्चों को दूसरों के हाथों में सौंपते हुए जो दर्द मेरे दिल के अन्दर उठा, उसको बहुत-बहुत कोशिश करते हुए भी छिपा नहीं पाती थी। आज भी मैं उस दर्द को महसूस करती हूँ अपने पति की मृत्यु पर और अपने जीवित रहने पर। क्या उनको हम लोगों को छोड़ते समय कम दर्द रहा होगा? मगर नहीं, समय सबको सब तरफ़ नचाता है और इन्सान विवश होकर रहता है, और उसी में ग़ोते खाता रह जाता है। सब दर्दों को भुलाते हुए भी मनुष्य उन्हें भुला नहीं पाता है। यह मेरी ही नहीं सभी मनुष्यों की कमज़ोरी है। अब भी मैं उन सब बातों को याद करती हूँ तो आँखों में आँसू छलछला आते हैं।

दूसरे दिन मेरे पति घर आये। उनको पहिले ही मेरे जेल जाने की

ख़बर मिल चुकी थी, वह मुझसे मिलने जेल में आये। मैं दफ्तर में बुलाई गई। आप फाटक पर खड़े थे। मुझे देखते ही उनकी आँखें भर आईं। 'अच्छा तुम जेल में आ गईं ?'

मैंने कहा—'हाँ मैं तो आ गई हूँ। कहिए आप तो अच्छे थे ?' आप बोले हाँ—'मैं अच्छा हूँ, तुम अपनी कहो, तुम कैसी हो ?' मैं ख़ुद अपना ख़ुशी का चेहरा बनाती हुई बोली—हाँ मैं तो अच्छी हूँ। यहाँ हमारे जेलर काफ़ी आराम दे रहे हैं। मुझे कोई कष्ट नहीं है।' उसके बाद वह मुझसे मिले। मैंने उनको घर की बातें बतलाईं और कहा कि अच्छी तरह से रहिएगा। बच्चों का ख्याल रखिएगा।

इन सब बातों के बाद वह अपनी स्वाभाविक हँसी में हँसकर बोले—तुम तो इधर कैद हुईं, उधर मुझे भी बन्दी बना दिया।

मुझे उनकी बनारस की बात याद आई, जो उन्होंने प्रेस के विषय में कही थी कि हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं, हमारा तुम्हारा ध्येय अलग नहीं हो सकता। मैं बोली—इसका निर्णय तो आप सात साल पहले ही कर चुके हैं। फिर आप बोले—अच्छा उसी को तुमने पूरा किया है ?

मैं बोली—पूरा तो नहीं किया, हाँ पूरा करने की कोशिश करती हूँ। मगर मैं तुम्हारे बग़ैर अकेली कैसे कर सकती हूँ ? मैं घर पर रहती तो शायद सारा घर चौपट हो जाता। मैं वहाँ भी आराम करती थी, आप की कृपा से यहाँ भी आराम ही है। घर पर तो बहुत काम है। यहाँ तो मैं आराम से हूँ।

इसी तरह छः बार वह मुझसे मिलने गये, मगर मैं देखती थी, कि वह मुझे जेल में देखकर ख़ुश न थे। मैं देखती थी कि वह मुझे देख आँखें में आँसू भरे रहते थे। जिस समय मैं छूटनेवाली थी, मुझे उस तारीख़ के एक दिन पहले ही छोड़ दिया गया। छूटकर मैं अकेली ही घर पहुँची। उस समय आप दफ़्तर में थे। जब वह शाम को घर आये तो मुझे देखकर मुस्करा दिये। मैंने उठकर उनके पैर छूए, मुझे उठाकर सीने से लगाते हुए उनकी आँ

सजल हो गईं। मुझसे बोले—'क्या तुम बीमार थीं?' गला तो मेरा भी भर आया था। मैं बोली, मैं तो काफ़ी अच्छी हूँ। आप बीमार थे क्या? आप बोले, 'मैं बीमार क्यों होने लगा। मैं तो घर में आराम से बैठा था, मुझे तो बीमार होने की कोई वजह ही नहीं थी।'

हमारी छोटी भावज, बच्चे आदि बैठे ही थे। मेरी छोटी भावज बोलीं—आप कहते हैं कि मैं आराम से बैठा था। जिस दिन से आप जेल गईं, उस दिन से कभी आपके चेहरे पर किसी ने हँसी तक तो देखी नहीं। आप झेंपते हुए बोले—'आप भी खूब हैं।' मेरी भावज बोली—'मैं झूठ नहीं बोलती, मैं तो सच कह रही हूँ।' इसमें सब बच्चों ने मिलकर हाँ में हाँ मिलाई।

मेरी भावज उठकर फल और मेवे ले आईं। सब लोग खाते जाते थे और मेरी ग़ैरहाज़िरी में जो जो बातें हुई थी, मुझसे बतलाते जाते थे। ऐसा मालूम होता था कि घर में नया जीवन आ गया है। मगर एक-दूसरे की तन्दुरुस्ती की तरफ़ देखते हुए हम दोनों खुश न थे, क्योंकि ७ पौंड मेरा वजन घटा था और १४ पौंड उनका। रात को जब सब लोग हट गये तब मैंने पूछा कि आखिर आपकी हालत क्या है।

'कुछ नहीं अच्छा तो हूँ,' आप बोले।

मैं बोली—अच्छे तो नहीं है, जैसा मैं छोड़ गई थी वैसे भी नहीं हैं।

आप बोले—वैसा कैसे रह सकता था? तुम उधर जेल में थीं, इधर मैं जेल का अनुभव कर रहा था।

मैं बोली—जिस डर को मैं कई महीने पहले आपसे छिपाने की कोशिश करती थी, अब देखती हूँ कि वह आपने घर बैठे ही पूरा दिया। यह मेरे साथ क्या तुमने अन्याय नहीं किया?

आप बोले—चाहे मैंने न्याय किया, चाहे अन्याय; मगर इन्सान तो इन्सान ही रहेगा, वह कैसे अपनी तबियत को बदल देगा? मैं तुम्हारी बातों में आ जाता था। मगर तुम मुझसे छिपा-छिपाकर काम करती थी, क्या तुमने यह पाप नहीं किया? तुम कौन हट्टी-कट्टी थीं, दायमुल मरीज़! यह

कहो कि तुम ख़ैरियत से जेल से लौट आईं। मुझे तो रात-दिन यही चिन्ता रहती थी कि शायद तुम्हारी लाश ही जेल से निकलेगी। तुमको याद है कि नहीं जब तुम्हारे जेल जाने के पहले मैंने तुम्हारा नाम वर्किंग कमेटी में देखा था, तभी मुझे मालूम हो गया था कि तुम जेल जाने को तैयार हो। बल्कि मैंने मोहनलाल सक्सेना से जाकर कहा था कि इनका नाम आपने व्यर्थ दिया है। तब उन्होंने अपनी मजबूरी जाहिर करते हुए कहा कि मैं क्या करूँ साहब। इनको स्त्रियों ने चुना। उस समय तुमने कहा था कि मैं जेल जाने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैं तो बहुत बचकर रहूँगी। जब जेल जाने की बारी आई, तब मैं घर पर भी मौजूद नहीं। तुम पहले ही से जेल में कूद पड़ीं।

मैं बोली—७०० स्त्रियों का लोभ भी तो नहीं छोड़ा जा सकता। मैं भी मजबूर थी।

वह बोले—क्या यह तुम्हारी चोरी नहीं है? जहाँ-जहाँ काम होता था, पुलिस की लारी तुम्हारे साथ घूमती थी। और तुम मुझे हमेशा बहाना दे करके निकल जाती थीं। यहाँ तक तुमने रोक दिया था कि तुम्हारा नाम तक अख़बारों में न जाय। क्या यह धोका नहीं था?

मैं बोली—मैं डरती थी कि आप मुझे रोक देंगे और खुद जायँगे। इसको धोका भी कहा जा सकता है और पाप भी हो सकता है। मगर मैं मजबूर थी, मेरे दिल के अन्दर एक प्रकार की बेचैनी रहती थी कि आख़िर मेरे घर से जेल कौन जाय, और जाना चाहिए ही था। बच्चे इस काबिल होते तो मैं पहले ही उनको भेजती। आपकी भी तो तन्दुरुस्ती अच्छी न थी कि आप जायँ।

आप बोले—तुम जेल गईं तो मैं अच्छा हूँ न?

'अच्छा-बुरा तो वही होता है जो ईश्वर चाहता है।'

आप बोले—तो फिर पहले ही से ईश्वर पर क्यों न रहीं?

'पहले ईश्वर पर इसलिए नहीं रही कि तक़दीर और तदबीर दोनों साथ-साथ चलते हैं।'

आप बोले—ख़ैर ठीक है।

मैं बोली—हाँ जो कुछ हो, सभी ठीक है।

उस दिन रात के दो-ढाई बजे तक इसी तरह की बातें होती रहीं।

× × ×

जब मैं जेल से लौटी, और दूसरे दिन उनके कमरे में गई, तो वहाँ मैंने देखा कि मेरा फ़ोटो लगा है और उसको एक चन्दन की माला और एक फूल की माला पहनाई गयी है।

मैं बोली—यहाँ आपने मेरा फ़ोटो क्यों लगाया? यहाँ लोग आते जाते हैं, यहाँ क्यों लगा दिया? इसको यहाँ नहीं लगाना चाहिए था, क्योंकि यहाँ हर तरह के लोग मिलने-जुलने आते हैं। यह अच्छा नहीं मालूम होता; इसे मुझे उतारकर दे दीजिए।

आप हँसकर बोले—यह क्या हटाने के लिए लगाया है?

मैं बोली—यह अच्छा नहीं लगता साहब, कोई देख लेगा।

'तो क्या मैंने उसको छिपाकर रखा है? देखने के लिए तो है ही।'

मैं बोली—यह तो एक तरह से मुझे शर्म मालूम होती है।

'न मालूम तुम्हें क्यों शर्म मालूम होती है, मुझे तो कोई शर्म नहीं मालूम होती। तुम्हारे कमरे में मेरा फ़ोटो भी तो लगा है। तो मेरे ही कमरे में तुम्हारी फ़ोटो तुम्हें क्यों बुरी लगती है?'

मैं बोली—मर्दों के कमरों में औरतों के फ़ोटो अच्छे नहीं लगते।

'इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं है। तो तुम्हारी फोटो कहाँ लगे, कि तुमको बुरी न लगे, अच्छी लगे, और तुमको शर्म भी न लगे?'

मैं बोली—मेरा फ़ोटो मेरे कमरे में रहे। मेरा भाई लगावे, मेरे बेटे लगावें तो मुझे बुरा न लगेगा।'

आप बोले—मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा फ़ोटो लगाने का सबसे ज़्यादा अधिकार मुझे है। ख़ैर यह जो दो नाम तुमने लगाये, यह तो कुछ

नहीं, मगर मेरी उमर का कोई दूसरा पुरुष तुम्हारा फ़ोटो लगावे और उसकी उपासना करे, तो शायद मैं उसका जानी दुश्मन हो जाऊँ।

मैं बोली—इसमें उपासक होने की कौन-सी बात है ? आप अपने मित्रों के फ़ोटो नहीं लगाते हैं ?

आप बोले—मित्रों का फोटो तो मैं लगा सकता हूँ, मगर मित्रों की बीवी का फ़ोटो लगाने का मुझे कोई हक़ नहीं है। एक मा, बेटी, बहन छोड़कर।

'इसी मेल के शायद तीसरे लोग भी हो सकते हैं।'

'तुम ख़ुद सोच सकती हो कि तुम्हारी तरह की किसी दूसरी औरत की फोटो मैं अपने कमरे में लगा लूँ तो क्या तुमको बुरा नहीं लगेगा ?'

मैं बोली—मैं तो समझूँगी कि मा-बहिन समझकर लगाया होगा, मैं तो कभी भूल से भी ख़्याल नहीं करूँगी।

आप बोले—तुम दो हो सकती हो। या तो तुम बिलकुल बेवकूफ़ हो, या पागल, या तो तीसरी बात सोचने की तुममें शक्ति ही नहीं है।

मैं बोली—अच्छा साहब, मैं पागल हूँ, बेवकूफ़ हूँ, सब कुछ हूँ। मेरा फ़ोटो मुझे उतारकर दे दीजिए, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

आप बोले—फ़ोटो तो मैंने लगाया है, उतारने के लिए नहीं। या तो तुम भी हमारा फोटो उतारकर दे दो।

मैं खीझकर बोली—जाओ जी, जाकर हँसी कराओ, मुझे क्या करना है। जो लोग आएँगे, आपसे मज़ाक करेंगे, मैं क्या सुनने को बैठी रहूँगी ?

आप बोले—तुम्हारी बला से, मैं ऐसा नाज़ुक नहीं हूँ कि इन सबों से डरूँगा, और न मैं ऐसा हूँ कि मज़ाक़ नहीं कर सकता। तुम इसकी फिकर छोड़ दो। मज़ाक़ से तुम्हारी ही नानी मरती है, मेरी नहीं।

मैं बोली—मर्दों को मज़ाक़ क्यों बुरी लगने लगी, हम औरतों को मज़ाक़ बुरी लगती है। मैं देखता हूँ कि मज़ाक़ से सबसे ज़्यादा तुम्हारी नानी मरती है।

मैं खीझकर वहाँ से चली आई।

सन् '३१ : 'सी-क्लास' आन्दोलन

नमक कानून तोड़ा जा रहा था। कइयों को आपने अपने पैसों से खादी का कुर्त्ता, टोपी, धोती पहनाकर मेरे हाथ से उसके गले में हार पहनवाकर लखनऊ के गूँगे नवाब के पार्क में भेजा। भेजते हुए कहते थे—जाओ बहादुरो, नमक-कानून तोड़ो। मैं भी जल्दी पहुँचता हूँ। उन लोगों को हार पहनाते हुए मेरी आँखों में आँसू आ जाते। कभी-कभी वहाँ मार भी पड़ जाती। उस समय का वह दृश्य आज भी आँखों में आँसू ला देता है। आप भी कई बार चलने को तैयार हुए। पर मेरे अनुरोध को वे टालते नहीं थे। जब-जब भी जेल जाने का प्रस्ताव आता, मैं स्वीकार न करती। उनकी तन्दुरुस्ती सालों से गिरी हुई थी। फिर भी उनका दिल बिलकुल युवा का-सा था। मुझे यही लगता कि जेल में इनकी तन्दुरुस्ती बहुत ख़राब हो जायगी। उनकी यह बातें सुनकर मैं आगे निकली। उन्हें जेल में मैं नहीं देख सकती थी।

एक दिन की बात है—मैं महिलाश्रम गई थी, वहाँ बहुत-सी बहनों ने सलाह करके मुझे कप्तानी का पद दे दिया। मैं क्या करती। ७०० स्त्रियों का आग्रह कैसे टालती। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। उसी समय बाबू मोहनलाल सक्सेना ने मुझे वर्किङ्ग-कमेटी का मेम्बर भी बनाया। वहाँ पर जो भी कार-रवाइयाँ हुईं, उन्हें अंग्रेज़ी में उन्हें नोट किया। मेरे साथ जो वालंटियर मेरे घर पर पहुँचाने आया, उसी के द्वारा बाबूजी को लिखा कि इसे उर्दू और हिन्दी में तर्जुमा करने का अधिकार है आपको।

वह आदमी लौट गया तो आप मेरे पास आये और बोले—तुमको मालूम है, यह कप्तानगिरी तथा वर्किंग-कमेटी की मेम्बरी तुम्हें जेल ले जायगी।

मैं—मेरा कुछ वस नहीं उन लोगों के सामने चलता था। वे दूसरों को पसन्द ही नहीं करती थीं। फिर वे कोई नौकर नहीं। जो अपनी जिम्मेदारी अधिक समझता है, उसे उतना भार दिया ही जाता है और उसे लेना भी चाहिए। और भाई, दो में एक को तो करना ही पड़ेगा।

आप बोले—मैं भी अब जेल जाने की तैयारी में हूँ।

मैं—मैं कहाँ जेल पहुँच रही हूँ।

मुझसे इतनी बातें करने के उपरान्त आप कांग्रेस-आफ़िस जाकर मोहनलाल सक्सेना से बोले—भाई, यह तुमने क्या किया? जिन्हें तुमने कप्तान और वर्किंग-कमेटी का मेम्बर बनाया है, वह अगर जेल गईं तो उनकी महज़ लाश बचेगी। वे हमेशा अपनी ताक़त के बाद काम करती आई हैं।

सक्सेना—उन्हें तो स्त्रियों ने चुना है। मेरा क्या बस था? हाँ, वे उतनी स्त्रियों का आग्रह टाल न सकीं।

जब मैं जेल गई तो आप घर पर न थे। दूसरे दिन पहुँचे। घर पर मेरी लड़की, दोनों बच्चे तथा नौकर थे। दूसरे दिन सबको साथ लेकर जेल में मेरे पास पहुँचे, उनकी आँखें आँसुओं से भरी थीं।

मैंने उनसे कहा—मैं बड़े आराम से हूँ।

उन्होंने कहा—ठीक है।

जब-जब मिलने के लिए वे जेल गये, तब-तब उनकी यही हालत रही। कई मित्रों की बधाइयाँ आईं, तार आये। कई मित्र सामने बधाई देते हुए बोले—भाई, आप ख़ूब रहे। बीबी जेल में और आप बधाई लेने घर बैठे।

'मैंने तो अपनी सबसे अमूल्य चीज़ भेंट की है।'

जब तक मैं जेल में थी, प्रति सप्ताह वे इतनी चीज़ें यह समझकर भेजते थे कि सबके काम आये। जब मैं छूटकर आई तो मालूम हुआ कि वे तभी से न हँसे, भरपेट शायद खाना भी न खाया। वज़न तो ड्योढ़ा मुझसे उनका घटा। उन्हीं दिनों सी० क्लास के कैदियों पर मार पड़ती थी, भरपेट खाना नहीं मिलता था, न कम्बल ओढ़ने-बिछाने को मिलता था। इसका घोर दुःख मुझे था। एक दिन मैं अपने घर में इसका ज़िक्र कर रही थी कि कितना बड़ा अन्याय है। ए० बी० वाले तो सब सुविधाएँ पावें और सी० क्लास के बेचारे वालंटियर को इतने दुःख। मेरी समझ में नहीं आता, ये

ए० बी० वाले कैसे इसे तोड़ नहीं डालते। वहाँ पर भी ज्यों-के-त्यों रईस। मेरी समझ में इस रईसी से द्वेष फैलेगा।

आप बोले—इसी रईसी ने ही तो हिन्दुस्तान को ग़ारत किया है।

मैं—इसका आंदोलन करने का मेरा निश्चय है।

आप बोले—इस बार मुझे जाने दो।

मैं उन सी० क्लास की कैदियों की हालत से सिहर उठी। और बाबूजी से बोली कि आप इसी में चले जायँगे। एक आदमी के किये क्या होगा। बहुत ज़ोरों का आन्दोलन चाहिए। लेकिन इसके लिए कांग्रेस-दफ़्तर तैयार नहीं है। मैं इस विषय में कांग्रेसवालों से बातें कर चुकी हूँ। मैं कौंसिल के सामने जुलूस लेकर जाना चाहती थी। लेकिन कांग्रेसवाले कहते हैं कि हज़्रतगंज में दो बार गोलियाँ चल चुकी हैं। आन्दोलन करने का अभी मौका नहीं है। मैंने वहाँ तो कहा, लेकिन आपसे मैं पहले न कह सकी। उसके दो ही तीन दिन बाद हम ७५० स्त्रियाँ इकट्ठा हुईं; उनमें लीड करनेवाली केवल चार स्त्रियाँ थीं। जुलूस के दिन गोली-डण्डों के भय से मैंने अपने घर में ख़बर तक न दी। जब हमारा जुलूस हज़रतगंज पहुँचा तो एक तरफ़ पब्लिक थी, दूसरी तरफ़ पुलिस। बीच में स्त्रियों का लम्बा जुलूस। वहाँ जब हमारा जुलूस पहुँचा तो लोग एसेंबली बन्दकर अपने-अपने घर भाग गये। हम लोगों ने ज़ोरों से कहा कि आप आज भले बन्द कर दें। देखें कब तक बन्द रहती है। हम कल फिर आयेंगे। आपको जिस तरह तैयार होना हो, तैयार रहें। सुबह फिर हम लोग वैसे ही जुलूस बनाकर चले। हम लोगों के रास्ते में ४०० कांस्टेबिल हाथ में हथियार लिये और ४ लारियाँ वहाँ खड़ी थीं। इसका पता आपको 'माधुरी' आफ़िस में लगा। वहाँ से दस-पाँच को लेकर आप हम लोगों को देखने आये। पर करते क्या? वहाँ तो पुलीस के दल ने जुलूस को रोक दिया था। मेरी राय यह हुई कि ५-५ स्त्रियाँ जत्था बनाकर चलें। पहले जत्थे में मैं भी रही। मोहनलाल सक्सेना बोले—आप तो अभी लौटी हैं, आप पीछे ही रहें। मैं बोली—यह मेरी मर्यादा के बाहर की बात है।

नीचे ज़मीन जलती थी, ऊपर सूर्य तप रहा था। बहुत देर खड़े रहने के बाद होम-मेम्बर छतारी ने पूछा—आपका मंशा क्या है ?

'सी० क्लास के कैदियों के साथ आदमियत का व्यवहार किया जाय। पशुओं का-सा नहीं।'

छतारी—अच्छी बात है।

'अगर आप न कर सकें, तो साफ़ कहिए। हमने तै किया है कि एसेंबली अगर इस सवाल को अपने हाथ में नहीं लेती तो उसे तोड़ देना चाहिए।'

'आप कल पता ले लें। इसका इन्तज़ाम फौरन किया जायगा।'

'कल ही सही।'

हमारा जुलूस किसी तरह वापस आया। आप भी थे। मैं महिलाश्रम गई, क्योंकि शाम को पब्लिक-मीटिंग थी। कांग्रेस का स्टेज गैरकानूनी करार दे दिया गया था। मुझसे उनसे मुलाकात भी नहीं हुई। मीटिंग अमीनाबाद पार्क में थी। १२,००० पब्लिक थी। कई पुरुषों के भाषण हुए। मेरा भी नाम ऐलान किया गया। मेरा नाम सुनते ही आप दहल गये। मैं स्टेज पर आई। और करती ही क्या। मैंने भाषण बहुत गरम दिया। उन भाषणों का असर इतना हुआ कि पचासों के करीब स्वयंसेवक अपने नाम लिखाने को तुरंत तैयार हो गये। जब मैं बाहर निकली तो आप मुझसे मिले और बोले—मनाओ ख़ुदा को कि ख़ैर हुई। नहीं तो तुम अब तक सेंट्रल जेल या अस्पताल में होतीं। तुमको मालूम नहीं कि कांग्रेस गैर-कानूनी क़रार दे दी गई।

'मुझे मालूम क्यों नहीं था।'

'मालूम होते हुए आग उगल रही थीं ?'

मैं—मैं क्या करती। जब बोलने खड़ी हुई तो चुप रहती ? जब मरना ही है तो कुछ कर जाना चाहिए था।'

'तुम मुझे हमेशा धोखा देती रहती हो। जब-जब मैं तैयार होता हूँ, तुम पहले ही तैयार हो जाती हो। और मैं रुक जाता हूँ।'

'दो में एक ही आदमी तो जा सकता है। हम इतने मालदार नहीं कि हमारे बच्चे हमारे बिना ही सुखी रह सकेंगे। फिर आप साहित्य के ज़रिये तो अपना काम कर ही रहे हैं। ख़ामोश थोड़े ही बैठे हैं। मैं घर में बैठी-बैठी क्या करूँ। आप घर में बैठकर और ज़रूरी काम कर रहे हैं। सब यश आप ही ले लेंगे ?

'जब कभी जस बँटने लगेगा तो सब मैं तुम्हें दे दूँगा।'

मैं बोली—बड़े दानी आप रहे। ऐसा दिल तो स्त्रियों को मिला है कि काम करके छिप जाती हैं। बच्चे हमें हों, तकलीफ़ हम भोगें। नाम आपका हो।'

हम दोनों में इस तरह के विनोद चलते रहते थे।

× × ×

म्युनिसिपैलिटी से रंडियों के निकाले जाने का प्रस्ताव पास हो चुका था। मैं सोचने लगी कि आख़िर ये जायेंगी कहाँ और इनका पेशा क्या होगा ? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आख़िर ये हमारी ही बीच की तो हैं। मैं इन्हीं चिन्ताओं में मशगूल थी। पाप करने में क्या इन्हीं का हिस्सा होता है ? पुरुष-समाज क्या इससे बाहर है ? यह अत्याचार तो उन्हीं लोगों की प्रेरणा का फल है। आप उसी समय मेरे कमरे में आये और मुझे उदास देखकर बोले—कैसी तबियत है ?

मैं बोली—स्त्रियों की तबियत होती ही क्या है ?

बोले—आख़िर बात क्या है ?

मैं बोली—पूछकर क्या कीजिएगा ? ईश्वर ने पुरुषों को स्त्रियों की ज़िम्मेदारी दी है। वे चाहे जो कर सकते हैं। मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता कि परमात्मा स्त्रियों को क्यों जन्म देता है। दुनिया में आकर वे क्या सुख उठाती हैं, मेरी समझ में नहीं आता। शायद पुरुषों के पैरों तले रौंदी जाने के लिए ही वे संसार में आती हैं। और हमेशा उन्हीं सबकी वे सेवा भी करती हैं। अगर मेरा वश होता तो मैं स्त्री मात्र को संसार से अलग कर देती। न रहता बाँस, न बाजती बाँसुरी।

आप ज़ोर से हँसते हुए बोले—आख़िर बात क्या है ?

उसी जगह अख़बार था। उनके सामने कर दिया। बोली—देखिए अपने लोगों की करामात।

आप उसको पढ़कर कुछ गम्भीर हो गये। बोले—रानी, यह न तुम्हारे वश की बात है, न मेरे। और इन बातों में रखा ही क्या है ? व्यर्थ में तुम ख़ुद दुःखी होती हो। और उसका दोष मुझ पर देने लगती हो। तुम यह जानती हो कि मेरे वश में यह सब कुछ नहीं है।

मैं बोली—आप इस पर लिख और बोल तो सकते ही हैं। यह क्या कि जो बात बुरी लगे, उसे वैसा मानकर बैठ जाय।

आप बोले—लिखने के मामले में तो मैं कभी पीछे नहीं रहा हूँ। इन्हीं की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए मैंने सेवा-सदन लिखा। और भी कहानियाँ और लेख मैंने लिखे हैं। अमल करना न करना तो उन लोगों के हाथ में है। तुम सारा का सारा दोष मेरे सिर मढ़ देती हो। ख़ुद परेशान होती हो और मेरे ऊपर बिगड़ती हो।

मैंने पूछा—कोई उपाय हो तो बतलाइए। यह बात सुनकर मेरा चित्त बहुत उद्विग्न हो उठा है।

आप बोले—जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं या तो फिर कोई बड़ा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियों को सुलझा दे। सदियों से बिगड़ा हुआ ज़माना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायगा।

मैं बोली—पुरुषवर्ग यह क्यों समझता है कि दुनिया में उन्हीं लोगों के रहने की जगह है। उन लोगों को पहले वे ही लोग घर से निकाल लाते हैं। वे लोग उन्हीं लोगों के ख़राब करने की वजह से ख़राब होती हैं। फिर आख़िर वे दुनिया से कहाँ जायँ ? मरने पर भी तो छुटकारा नहीं।

आपने कहा—मालूम होता है मैंने यह हालत बना रखी है ?

मैं बोली—मुझे तुम पर ग़ुस्सा नहीं आ रहा है। मुझे ग़ुस्सा आ रहा है

'दो में एक ही आदमी तो जा सकता है। हम इतने मालदार नहीं कि हमारे बच्चे हमारे बिना ही सुखी रह सकेंगे। फिर आप साहित्य के ज़रिये तो अपना काम कर ही रहे हैं। ख़ामोश थोड़े ही बैठे हैं। मैं घर में बैठी-बैठी क्या करूँ। आप घर में बैठकर और ज़रूरी काम कर रहे हैं। सब यश आप ही ले लेंगे ?

'जब कभी जस बँटने लगेगा तो सब मैं तुम्हें दे दूँगा।'

मैं बोली—बड़े दानी आप रहे। ऐसा दिल तो स्त्रियों को मिला है कि काम करके छिप जाती हैं। बच्चे हमें हों, तकलीफ़ हम भोगें। नाम आपका हो।'

हम दोनों में इस तरह के विनोद चलते रहते थे।

× × ×

म्युनिसिपैलिटी से रंडियों के निकाले जाने का प्रस्ताव पास हो चुका था। मैं सोचने लगी कि आख़िर ये जायेंगी कहाँ और इनका पेशा क्या होगा ? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आख़िर ये हमारी ही बीच की तो हैं। मैं इन्हीं चिन्ताओं में मशगूल थी। पाप करने में क्या इन्हीं का हिस्सा होता है ? पुरुष-समाज क्या इससे बाहर है ? यह अत्याचार तो उन्हीं लोगों की प्रेरणा का फल है। आप उसी समय मेरे कमरे में आये और मुझे उदास देखकर बोले—कैसी तबियत है ?

मैं बोली—स्त्रियों की तबियत होती ही क्या है ?

बोले—आख़िर बात क्या है ?

मैं बोली—पूछकर क्या कीजिएगा ? ईश्वर ने पुरुषों को स्त्रियों की ज़िम्मेदारी दी है। वे चाहे जो कर सकते हैं। मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता कि परमात्मा स्त्रियों को क्यों जन्म देता है। दुनिया में आकर वे क्या सुख उठाती हैं, मेरी समझ में नहीं आता। शायद पुरुषों के पैरों तले रौंदी जाने के लिए ही वे संसार में आती हैं। और हमेशा उन्हीं सबकी वे सेवा भी करती हैं। अगर मेरा वश होता तो मैं स्त्री मात्र को संसार से अलग कर देती। न रहता बाँस, न बाजती बाँसुरी।

आप ज़ोर से हँसते हुए बोले—आख़िर बात क्या है?

उसी जगह अख़बार था। उनके सामने कर दिया। बोली—देखिए अपने लोगों की करामात।

आप उसको पढ़कर कुछ गम्भीर हो गये। बोले—रानी, यह न तुम्हारे वश की बात है, न मेरे। और इन बातों में रखा ही क्या है? व्यर्थ में तुम ख़ुद दुःखी होती हो। और उसका दोष मुझ पर देने लगती हो। तुम यह जानती हो कि मेरे वश में यह सब कुछ नहीं है।

मैं बोली—आप इस पर लिख और बोल तो सकते ही हैं। यह क्या कि जो बात बुरी लगे, उसे वैसा मानकर बैठ जाय।

आप बोले—लिखने के मामले में तो मैं कभी पीछे नहीं रहा हूँ। इन्हीं की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए मैंने सेवा-सदन लिखा। और भी कहानियाँ और लेख मैंने लिखे हैं। अमल करना न करना तो उन लोगों के हाथ में है। तुम सारा का सारा दोष मेरे सिर मढ़ देती हो। ख़ुद परेशान होती हो और मेरे ऊपर बिगड़ती हो।

मैंने पूछा—कोई उपाय हो तो बतलाइए। यह बात सुनकर मेरा चित्त बहुत उद्विग्न हो उठा है।

आप बोले—जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं या तो फिर कोई बड़ा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियों को सुलझा दे। सदियों से बिगड़ा हुआ ज़माना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायगा।

मैं बोली—पुरुषवर्ग यह क्यों समझता है कि दुनिया में उन्हीं लोगों के रहने की जगह है। उन लोगों को पहले वे ही लोग घर से निकाल लाते हैं। वे लोग उन्हीं लोगों के ख़राब करने की वजह से ख़राब होती हैं। फिर आख़िर वे दुनिया से कहाँ जायँ? मरने पर भी तो छुटकारा नहीं।

आपने कहा—मालूम होता है मैंने यह हालत बना रखी है?

मैं बोली—मुझे तुम पर गुस्सा नहीं आ रहा है। मुझे गुस्सा आ रहा है

दुनिया की अनीति पर और आप पर तो इसलिए बिगड़ रही हूँ कि आप इसे सुनकर कोई उद्योग करें।

आप बोले—तुम विश्वास मानो यह मेरे वश के बाहर की बात है। समाज से लड़ने के लिए स्त्रियाँ जितनी विवश हैं, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं। अपना वश ही नहीं है तो क्या किया जाय।

मैं बोली—गान्धी जी भी इस पर कभी कुछ नहीं लिखते।

आप बोले—जिन विषयों पर बोलते हैं उन्हीं को कहाँ लोग मान लेते हैं ?

मैं बोली—अब तो शायद वे ही इन अभागिनों का कुछ उपकार कर सकें।

मेरे कहने पर वे हँसने लगे। मुझे और भी क्रोध आया। मैंने कहा, आप हँसते क्यों हैं। मुझे बेचारियों पर दया आ रही है और आप हँसते हैं।

आप बोले—लाचारी की बात है। ज़्यादा सिर खपाना ठीक नहीं।

मैं बोली—ऐसे समाज को तो ख़त्म कर देना चाहिए। मालूम नहीं भगवान् है कि नहीं ? है तो ऐसे अत्याचार कैसे देखता है ? और फिर वह भी तो शायद पुरुष ही है।

आप बोले—इसी लिए मैं कहता हूँ कि स्त्रियों के साथ भगवान् ने भी अत्याचार किया है। जो भी कठिनाई के काम थे, वे तुम लोगों के जिम्मे कर दिये। और तब भी सबसे ज़्यादा तुम्हीं लोग ईश्वर के चक्कर में पड़ी रहती हो। तभी न कहता हूँ, नास्तिक हो जाओ।

मैंने कहा—जले पर नमक मत छिड़को।

आप बोले—तुम तो पागल हो गई हो।

'तो ये कायदे-क़ानून ईश्वर ने थोड़े ही बनाये हैं। आप ही लोगों के बनाये हैं।'

आप बोले—यह सब तो होता ही रहेगा।

मैं बोली—यह बहुत पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं।

आप बोले—बहुत दिनों से हो रहा है, बहुत दिनों तक होता भी रहेगा।

हम लोगों के मान का यह नहीं। फिर भी मैं कहता हूँ ये रंडियाँ हिन्दुओं के माथे पर कलङ्क-स्वरूप हैं ?

'न मालूम ये बातें कैसे आईं।'

आप बोले—रामायण में तुलसीदास ने भी तुम लोगों पर आक्षेप किया है। उन्हें क्यों नह कोसतीं ?

मैं बोली—तो उनका यश ही कहाँ गाती हूँ। फिर तुलसीदास को वैसा स्त्री ने ही बनाया। तुलसीदास ने क्रोध में आकर वैसा लिखा है। स्त्रियों के प्रति किसी ने न्याय नहीं किया है।

आप बोले—होगा कोई बिरला ही महात्मा।

मैं बोली—जाने कब कौन होगा ! शायद इस युग में कुछ सुधार हो।

आप बोले—गान्धी-युग में भी इसका सुधार न हुआ तो फिर सौ वर्ष के लिए इसे गया ही समझो।

मैं बोली—कौन जाने कैसी हालत होगी, बुरी या भली ?

आप बोले—हालत तो अच्छी होनी चाहिए। तुम्हारी तरह औरों को भी क्रोध आता ही होगा।

सुख के दिन बीत गये। वे कहाँ चले गये, पता नहीं। जाने फिर लौटेंगे या नहीं ? यह संसार भूलभुलैया है। कैसे मैं समझूँ कि वे कहाँ जमा होते हैं ? अगर जमा होते होते तो फिर उन्हें वापस होना चाहिए था।

मैं उन पर कर्तव्य और अकर्तव्य सब डाल देती थी। मैं उनसे ज़िद करती थी। अब यह मेरी समझ में आता है कि मैं कितनी नादान थी। वही मैं अब हूँ। शायद अब किसी के सामने मुँह खोलने को नहीं तैयार हूँ। मेरा ख़याल था कि मैं सब कुछ हूँ। क्यों न समझती ? मेरे लिए उन्हें छोड़कर और था ही कौन ? आख़िर मैं अपने सुख-दुःख की गाथा किससे कहती ? क्योंकि एक तरह से वे ही मेरी नाव खेनेवाले थे। मैं सारा बोझ उन्हीं पर रख देती थी। शायद इसी लिए मेरा उन पर सारा अधिकार था। हम सारी बातें सबसे नहीं कह सकते। दूसरे तो दूसरे ही हैं। वे अपने थे। तभी

शायद उन्हें मेरी चिन्ता हर तरह रहती थी। और इसी लिए मैं मुँह भी फुलाती थी। अब तो जैसे बदल गई हूँ। बदलूँ क्यों न, जब समय बदल गया तो क्यों न बदलूँ ? वैसे ही कैसे रह सकती हूँ ? जब नाव चलानेवाला नहीं रहा तो यात्री की सुरक्षा कैसे हो सकती है ? उसी तरह मैं भी डूबी हुई हूँ। देखने में तो मैं बैठी हूँ, पर डूबी हूँ। करीब-करीब उसी तरह की हूँ। मगर मेरा दिल उसी समय टूट गया, जिस समय उन्होंने दम तोड़ा।

दिल्ली : होली

कई साल की बात है। मैं इलाहाबाद गई हुई थी। मेरी भाभी होली के दिन मुझे रोकना चाहती थीं।

आप बोले—मैं अकेला हूँ, कैसे छोड़ जाऊँ ? हाँ, मैं दिल्ली जानेवाला हूँ। दिल्लीवालों ने मुझे बुलाया है। वहाँ से दो-तीन दिन बाद लौटूँगा, तब आप दोनों होली ख़ूब खेलें।

जब हम दोनों दिल्ली गये, तो वहाँ ख़ूब होली रही। वहाँ सारे कपड़े उनके ख़राब हो गये। जब वहाँ से इलाहाबाद पहुँचे तो बारह बजे थे। आप बोले—आओ महादेवी से मिलते चलें। उनके दरवाज़े पर हम दोनों पहुँचे। मैं अन्दर गई। आप ताँगे पर थे। मैं फौरन लौटना चाहती थी, मगर महादेवी मुझे रोकना चाहती थीं। बोलीं—मैं उन्हें भी बुला रही हूँ।

जब एक देवी उन्हें बुलाने गई तो आप उनसे विनीत स्वर में बोले—जाकर उनको भेजिए।

वे महादेवी के पास इस ख़बर को लेकर आईं।

महादेवी ने कहा—वे ख़ुद आकर लिवा ले जायँ। हम इन्हें जाने नहीं देंगी।

इसी तरह दो घंटे तक वे ताँगे पर बैठे रहे। बाद में ख़ुद उतरकर आये और बोले—अब भी न जाने दीजिएगा ?

सब एक स्वर से हँसीं और बोलीं—आपकी हार तो हुई।

'मैं तो आप लोगों से कभी से हारा हूँ।'

मैं—तो आप पहले क्यों नहीं आये?

'मैं सोचता था, इन्हें जल्दी फ़ुर्सत हो जायगी।'

देवियाँ—आप अपनी चालाकी में थे।

इसके बाद उन लोगों ने नाश्ता करवाया। हम लोग स्टेशन से ही खा-पीकर चले थे। नाश्ता करने की तबियत न थी। उन लोगों ने वही पुरानी धमकी फिर दी। आपको मजबूरन खाना पड़ा।

उसके पहले मैं प्रयाग महिला सम्मेलन में गई थी और वे उसका मार्ग-व्यय मुझे दे रही थीं। मैं ले नहीं रही थी। वे उलहना देती हुई बोलीं—बाबूजी, देखिए ये मार्ग-व्यय नहीं ले रही हैं।

'इनको ज़रूरत ही क्या रहती है। मैं आप लोगों के बीच में बोलूँ ही क्या? आप सब एक हैं।'

लखनऊ : विश्वमित्र का एक लेख

हम अक्सर साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर विवाद करते। उनमें मैं स्त्रियों का पक्ष हमेशा लिया करती थी। कभी-कभी मैं स्त्रियों पर पुरुषों द्वारा लिखे गये लेखों को पढ़कर झल्ला पड़ती थी और उनसे कहती कि आप इनका जवाब दीजिए। नहीं तो मैं ख़ुद इनका जवाब दूँगी। तब आप ख़ुद अगर न लिखते तो मुझे रोकते थे। स्त्रियों का ख़ुद अपनी सफ़ाई देना अच्छा न होगा, मुझसे कहते। मैं कहती—फिर कौन जवाब देगा?

एक बार मैंने 'विश्वमित्र' में स्त्रियों पर एक लेख पढ़ा। यह कोई १५ साल की बात है। न मालूम क्यों वे महाशय स्त्रियों पर झल्लाये हुए थे। मैं उसे पढ़कर उनसे बोली कि इसका जवाब आप लिखिए, नहीं तो मैं ख़ुद लिखूँगी। तब आप बोले—बहुत-सी औरतें हैं, लिखेंगी।

मैं—आपके ऐसा कहने पर मुझे दुःख होता है। जो उस तकलीफ़ को महसूस करे, वह क्यों उसे छोड़ दे।

'पुरुष का जवाब देना अच्छा होगा, न कि तुम्हारा।'

'पुरुषों में सबसे बड़े लेखक तो आप हैं। फिर क्यों जवाब नहीं देते ?'

तब आप बोले—मैं किसी को बुला दूँ, जैसा तुम कहना वह लिख देगा। शास्त्रीजी को बुला दूँ ?

मैं—बुला दीजिए।

वह पड़ोस में थे ही। आये। आते-आते बोले—कहिए, मेरी क्या ज़रूरत पड़ी ?

आप बोले—आपने आपको बुलाया है।

मैं वह पत्रिका हाथ में लिये हुए थी। मैं उनके हाथ में पत्रिका देती हुई बोली—ज़रा इस लेख को देखिए। उस लेख का शीर्षक था—'आज-कल हमारी देवियाँ किधर जा रहीं हैं ?'

मैं—ख़ूब पढ़कर इस पर लेख लिखिए। न लिख सकिए तो बताइए। इन महाशय ने ज़रा भी ठंडे दिल से लिखा होता तो इन्हें मालूम हो जाता कि देवियाँ जा रही हैं, या देवता जा रहे हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि देवियाँ लिखनेवाली कम हैं, देवता बहुत हैं। इस वजह से बाजी उनके हाथ रह सकती है। और ठंडे दिल से सोचते तो पता चलता कि उनका मूल कारण देवियाँ हैं, कि देव ! आज कल भी उन्नति का मूल कारण देवियाँ ही हैं। अगर १०० में १०० बुरे पुरुष निकलेंगे तो स्त्रियाँ महज़ पाँच निकलेंगी। यह मैं ज़रूर कह सकती हूँ कि मुग़ल-राज्य के बाद से स्त्रियों पर अधिक अत्याचार होने का कारण वे कमज़ोर बन गई हैं। इसमें महज़ समय का दोष है। जैसा समय आनेवाला होता है, उसी तरह हमारी बुद्धि भी हो जाती है। फिर इसमें दोष किसको दूँ ? मगर इन्होंने बिलकुल पक्षपात से लिखा है। इसी तरह सारा दोष स्त्रियाँ उन पर मढ़ दें तो अनर्थ हो जायगा। और समाज के लिए यह बहुत ही हानिकारक होगा। जन्म से मरण तक स्त्रियों के ही हाथ पुरुष रहते हैं। मा के रूप में, बहन के रूप में, स्त्री के रूप में, बेटी के रूप में स्त्री ही सेवा करती है। कौन ऐसा समय है, जब

वे स्त्रियों से अलग रहते हैं ? जाति एक ही है। क्या स्त्री-जाति पुरुष-मात्र से दुश्मनी कर ले तो वह जीवित रह सकती है ? ये महाशय शायद स्त्री से नहीं पैदा हुए, या स्त्रियों का प्यार इन्हें नहीं मिला।

मैंने देखा इन बातों को सुनते-सुनते आपकी आँखों में आँसू छल-छला आये।

शास्त्रीजी को भी बुरा लगा और वे कहने लगे कि मैं इसका मुँहतोड़ उत्तर लिखता हूँ।

आप बोले—आप जल्दी से लिख दीजिये। मैं 'माधुरी' में उसे निकाल दूँ।

मैं—कौन जाने। आप लोग भी तो पुरुष हैं ! 'चाँद' में न भेजिए ?

शास्त्रीजी बोले—आप तो ऐसा कहती हैं, जैसे हम सब के सब मतिभ्रष्ट हों !

आप बोले—भाई सज़ा तो हमें भुगतनी पड़ी। वह तो लिखकर दूर हो गया।

चार-पाँच दिनों के बाद शास्त्रीजी उसे लिखकर लाये। मैंने कहा—पहले आप इसे सुना दीजिए।

तो आप बोले—लिखा तो गया ही है, पढ़ लीजियेगा।

मैं—अगर इसमें एक शब्द कटा तो आप जानें।

लेख तो मुझे बहुत अच्छा लगा। वह लेख 'माधुरी' में निकला। पुरुषों में बड़ा हो हल्ला रहा ; मगर किसी को जवाब देने की हिम्मत न पड़ी। स्त्रियों ने बधाई भी दी, उस लेखक को। मैंने पण्डितजी को धन्यवाद दिया। 'माधुरी' ने पुरस्कार दिया।

× × ×

मैं लखनऊ में थी। जो महाराजिन हमारे यहाँ खाना पकाती थी, वह एक दिन शाम को खाना पकाने नहीं आई। जब वह सुबह आई तो मैं बोली—रात कहाँ रह गई ?

महराजिन रो रही थी। बोली—मेरा लड़का कभी से ग़ायब है।

मैंने पूछा—तलाश किया, कहाँ गया ?

महराजिन बोली—कल जब मैं आपके यहाँ खाना पकाने आई तब सुबह था। कल मैंने सारा शहर ढूँढ़ डाला, मगर कहीं पता नहीं लगता। कुछ लोगों से पता चलता है कि दो तीन लड़कों के साथ कहीं भागा है।

जब मेरी और महराजिन की बात चल रही थी, उस समय आप कमरे में काम कर रहे थे। महराजिन की और मेरी बातें सुनकर वे भी बाहर आ गये। क्योंकि उन्हें मुझसे ज़्यादा उसकी चिंता रहती है। क्योंकि उस हालत में खाना मुझे पकाना पड़ता था।

बाहर निकलकर आप बोले—कल कहाँ रह गई थी ?

वह उनके सामने भी रोती हुई बोली—बाबूजी, मेरा लड़का जाने कहाँ खो गया ? मैं इसी के लिए रात-दिन मरती हूँ। और यह इस तरह ग़ायब हो जाता है। मानों उसका मुझसे कोई नाता न हो।

आप बोले—जब वह इस तरह का नालायक़ है तो तुम्हीं क्यों मरती हो ? जाने दो। जब उस बदमाश को ख्याल नहीं होता कि मैं ही विधवा मा के लिए सब कुछ हूँ, तब तुम्हीं क्यों जान देती हो ? कमाओ, खाओ, पड़ी रहो। वह तुमको कभी भी आराम नहीं दे सकता। तुम्हें तकलीफ़ ही देने के लिए वह पैदा हुआ है।

महाराजिन बोली—मा की तबियत है, नहीं मानती। कल से चला गया है, रात-दिन बीत गया, मुँह में पानी तक नहीं गया। कुछ भी खाने की इच्छा नहीं होती।

आप बोले—यह तुम्हारी बेवक़ूफ़ी है। क्योंकि वह तो अपनी ख़ुशी से गया है और ख़ुश भी होगा। तुम नाहक़ मरती हो।

मैं बोली—उसकी तरह यह तो अपनी तबियत नहीं बना सकती न ! यह मा ठहरी, बेटे की तकलीफ़ नहीं सही जाती।

आप बोले—ये तो मा हैं ठीक, पर उसकी भी तो तबियत वैसी ही होनी चाहिए। वह तो इनके अगले जन्म का दुश्मन है। वह दुश्मनी का बदला

लड़का होकर पूरा कर रहा है। वह जब देखता है कि मा इस तरह परेशान हो रही है, तब भी बदमाशी करना नहीं छोड़ता और उसकी हिम्मत आगे ही को बढ़ी जा रही है। मैं तो कहता हूँ महराजिन तुम आराम से रहो। लौटकर आये तो घर में रहने भी मत दो। वह खुद ठीक हो जायगा।

मैं बोली—मा इतनी जल्दी ऐसी बन भी तो नहीं पाती।

आप बोले—जब ऐसे बेटे हों तो ऐसी मा बनना चाहिए। बग़ैर बने काम नहीं चल सकता। लड़कों की हिम्मत तब और आगे बढ़ जाती है। मा अगर कड़े दिल की हो जाय तो वह लड़का भी ठीक हो जायगा। और इसी तरह रो-रोकर मरना है तो मेरे ख़्याल में वह ठीक नहीं होगा।

मैं बोली—सभी लड़के ऐसे नहीं होते।

आप बोले—आजकल के ज़माने में अक्सर ऐसे ही लड़के दिखाई पड़ते हैं। देखते हो पन्द्रह-सोलह का हो गया, पर उसकी यह हरकत। माताओं की ज़िन्दगी यही करते बीतती है। जैसे कालेजों में बहुत से लड़के पढ़ते हैं तो उन्हें यही ख़याल होता है कि हम ऊँचे-से-ऊँचे पद पर जायँगे। मगर सौ में दो ही चार को ऊँचे पद मिलते हैं। उसी तरह दो ही चार माताओं के बच्चे अच्छे निकलते हैं। जैसे शेष लड़के निकलने के बाद ठोकरें ही खाते हैं उसी तरह ज्यादातर माताएँ लड़कों के पीछे रात-दिन मरती हैं। मैं तो कहता हूँ ऐसे लड़कों को जल्दी से जल्दी मर जाना चाहिए।

मैंने कहा—नहीं, यह बात नहीं है। मा की तबियत है। ख़ुदगर्ज़ी तो मर्दों में होती है। स्त्रियों में जिस दिन ये बातें आ जायँगी उस दिन यह दुनिया दुनिया नहीं रह जायगी। यह मा का ही प्रेम है जो हमेशा बेचारियों को रुलाता रहता है। उसे कमाकर इन्हें खिलाना चाहिए था।

आप बोले—जब भूखों मरेगा तो खुद आ जायगा। इनकी बात मानता होता, भला होता, तो प्रेम करतीं। यह सब होते हुए भी उसी के पीछे परेशान हैं। कहती सब कुछ हो, पर आशा ही लेकर मरती हो।

महराजिन को मालूम हो गया था कि बाबूजी के दफ़्तर में एक ज्योतिषी

है। मुझसे बोली—आप उस ज्योतिषी से पुछवा देतीं तो कुछ पता चल जाता।

मैंने कहा—हाँ, पुछवा दूँगी। महाराजिन बोली—मैंने सुना है कि हैं।

मैंने ज्योतिषी से पुछवाने की सभी ज़िम्मेदारी अपने सिर ले ली। उसी समय जाकर बोली—आप अपने दफ्तर में ज़रा उनसे पूछिएगा।

आप बोले—तुम्हें भी ज्योतिषियों और पण्डितों का चक्कर लग गया?

मैं बोली—मैं मानूँ या न मानूँ। वे पूछती हैं, उन्हें बतला दीजिए। आपको अपने साथ लेते जायँ, उनसे पूछ देखेंगी।

आप बोले—कहीं कुछ नहीं होगा।

मैंने कहा—नहीं, वादा कर दिया है, पुछवाना पड़ेगा।

आप बोले—ख़ैर, मेरे साथ ही चली चलें।

मैंने कहा—खाकर आपके साथ चली जाओ।

'बहिनजी, मेरी तबियत बिल्कुल नहीं है खाने की,' महराजिन बोली।

आपने कहा—खा लो महराजिन।

आप अपने साथ महराजिन को ले गये। जो कुछ महराजिन ने कहा, उसे पण्डित को समझा दिया और पण्डित का कहना महराजिन को। उसके साथ-साथ ज्योतिषी की तारीफ़ कर दी। ज्योतिषी ने बताया था कि दो-तीन दिन में आप-से-आप तेरा लड़का आ जायगा, जब महराजिन चलने लगी तो उसे किराये के लिए दो आने भी पैसे भी दिये। तीसरे दिन महराजिन का लड़का सचमुच आ गया। महराजिन को ख़ुशी हुई।

मैं दूसरे के भी ज़िम्मे का काम अपने ऊपर ले लेती थी। चाहे काम अच्छा हो, चाहे बुरा। मेरे ले चुकने पर वह काम को पूरा कर ही देते। मैं अक्सर ऐसा ही किया करती थी। मैंने कभी दिल में ऐसा भी नहीं सोचा कि वे मेरी बात मानेंगे या नहीं। और क्यों ऐसा ख्याल हो जब कि हमेशा मेरी इच्छा पूरी होती गयी। वे करने को तैयार भी हो जाते थे, मामूली से मामूली बात और बुरी-से-बुरी बात, इसी लिए मैंने कभी सोचा ही नहीं कि कौन काम

करूँ और कौन काम न करूँ। शायद वे इसीलिए मेरा कहना न टालते। जिससे मैं महसूस न करूँ कि मैं नहीं कर सकती। शायद उन्हें मेरी हार प्रिय न थी। या प्रेम से करते रहे हों जिससे मैं दुखी न होऊँ। अपनी बात वे छोड़ भी देते थे; मगर वे मेरी बात नामंजूर नहीं करते थे। मुझे इस लम्बे जीवन में याद नहीं आता कि मैंने कोई काम करने को कहा हो और उन्होंने उसे न किया हो।

मेरा स्वभाव अभिमानी था। और मेरी यह आदत बढ़ती ही गई। मैं जल्दी किसी से अपने दिल की बात न कहती। यहाँ तक कि अपनी ज़रूरत भी किसी से न बतलाती। क्योंकि अगर कोई न मानता तो मेरी आत्मा रो पड़ती। मेरी आत्मा तो यों ही रोती है। मैं अपने उन दिनों की याद करती हूँ तो दिल भर आता है। मैं यह सब बातें इस ख़्याल से नहीं लिख रही हूँ कि पढ़कर पाठक दुखी हों। मैं यह सोचकर लिख रही हूँ कि मैं ऐसी कैसे बन गई। मैं बन गई कुछ तो स्वभावतः, और कुछ आपने मुझे बनाया। ज़्यादातर सबके घर स्त्रियाँ आती हैं। बहुत हुआ तो पति के घर की मालकिन बन गईं। मगर मैं घर की मालकिन न होकर उनके हृदय की मालकिन थी। क्योंकि मैं अपनी इच्छा के अनुसार ही उनसे सब कुछ करवाती थी। मैं यह नहीं कहती कि इसमें मेरी विशेषता थी। इसमें मेरा कुछ नहीं, सारा बड़प्पन मेरे स्वामी का था।

× × ×

मेरे घर में एक नौकरानी बूढ़ी बारिन थी। मेरे ही घर का काम करती, रात-दिन मेरे ही घर में रहती। उस बारिन के चार बेटे जवान थे, एक बेटी थी। मगर बुढ़िया को कोई खिला नहीं सकता था और जब उसका महीना पूरा होता, उसका कोई न कोई लड़का आकर उसकी तनख़्वाह ले जाता। एक दिन मैं और वे बैठे थे। चंद मिनट पहले ही उसका लड़का रुपया लेकर गया था। आप बड़े अफ़सोस के साथ बोले—इस बुढ़िया के लड़के आदमी

हैं कि शैतान ? मेरी समझ में नहीं आता कि यह बूढ़ी मा काम करे और इसके जवान-जवान लड़के तन्ख़्वाह लेने पहुँच जायँ।

मैं बोली—आप आख़िर कहना क्या चाहते हैं ?

आप बोले—मैं यह कहता हूँ कि ये जवान लड़के बुढ़िया की कमाई लेने क्यों आते हैं ? ख़ुद देना चाहिए। बड़े बेहया हैं, सालों को शरम भी नहीं आती।

मैं बोली—शरम क्यों आये ? शरम तो अच्छे-अच्छों को नहीं आती। ये तो जाहिल ही हैं।

आप बोले—तो यह देती क्यों है बुढ़िया ?

मैं बोली—आकर रोते होंगे, इसी पर दे देती होगी। वह तो मा ठहरी। कैसे तकलीफ़ दे सकती है। आपने एक कहानी भी तो लिखी थी 'बेटोंवाली विधवा।' आप तो इस विषय में पहले ही अपने विचार प्रकट कर चुके हैं, फिर मुझसे क्यों पूछते हैं।

आप बोले—मैं समझता था ज़्यादा ख़ुदगर्ज़ी अँग्रेज़ी ही पढ़े-लिखों में आ गई है। अब इन सबों का हाल देखकर दंग रह जाना पड़ता है। पहले मैं देखता था छोटे लोगों में मा की इज़्ज़त होती थी, उसकी जगह पर यह उल्टा ही दिखाई पड़ रहा है। उस बेचारी को रोटी भी देनेवाला कोई नहीं है। ये तो जवान हो गये हैं। जैसे बचपन में चूस-चूसकर उसका दूध पीते थे, अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसने को तैयार हैं। अब इनमें और पशुओं में क्या फ़र्क़ है। जैसे कुतिया के सामने रोटी फेंक दो, तो उसका बच्चा रोटी छीनकर खा जायगा। उसे यह ख़याल न होगा कि मा भूखी है। तो फिर भला इनमें और पशु में क्या फर्क रहा। इन बातों को बहुत दिनों में मनुष्य जाति सीख सकी थी ; मगर अब स्वार्थ इस प्रकार बढ़ रहा है कि फिर उसी स्थान पर मनुष्य लौटा जा रहा है।

मैं बोली—आपको नई-नई बातें याद आ जाती हैं।

आप बोले—नहीं जी, मैं देखता हूँ उस बेचारी से बड़ी बाल्टी न

उठती, सुबह जब वह पानी लाती है तो उसके हाथ काँपते रहते हैं। या मैं खुद अपना काम कर लेता हूँ या उधर ही आकर नहा लेता हूँ। शाम के वक्त मैं खुद चारपाई छत पर डाल लेता हूँ। मुझे उसकी हालत पर दया आती है। मगर इन भूतों को दया छू भी नहीं गई है। तुम इन लोगों को मना क्यों नहीं कर देती हो ?

मुझे इस तरह दूसरे के घर का न्याय बूझने पर क्रोध-सा आ गया।

मैं बोली—मुझसे नहीं कहते बनता। आप ही समझा दीजिए। आप इन लोगों को समझाना जितना आसान समझते हैं, उतना है नहीं। इनके जीवन में जो महत्त्व लड़कों का है, वह किसी का नहीं। ये किसी और के समझाने से न समझेंगी।

आपने कहा—तभी तो लड़के बहुत शरीफ़ हो रहे हैं न ! 'मोर पिया मोर नाँव न पूछै, मोरि सुहागिन नाँव' यही दशा इसकी है।

मैंने कहा—'राँड़ माँड़ै खुशी।'

उस दिन देर तक हम लोगों में वाद-विवाद होता रहा।

आप बोले—स्त्रियों में एक बात यह भी तो है कि शौहर जीता रहे, माने या न माने; पर वह स्त्री भाग्यवती समझी जाती है। कहते हैं कि वह बड़ी सुखी है। जिसका पति न हो, वह अभागिन समझी जाती है। उस बेचारी को अभागिन कहेंगे।

मैं बोली—आपकी इस बात का खण्डन तो मैं ही कर देती हूँ। जिसका पति मर गया वह तो सचमुच अभागिन है।

आप बोले—तुम ग़लती पर हो।

मैं बोली—मैं ग़लती पर नहीं हूँ, आप हैं।

आप बोले—मैं इसको नहीं मानता।

मैंने कहा—आपके न मानने से क्या होता है ?

आप बोले—मान लो कोई आदमी अपनी स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से शादी कर लेता है और पहली की बात तक नहीं पूछता। दिल में यह मनाता

हो कि मर जाय तो अच्छा है। तुम्हीं बताओ उसके जीवन में क्या है? उसको तुम सुखी समझती हो। तुम समझो, मैं तो नहीं समझूँगा। मैं उसे ही सुखी समझूँगा, जिसका पति मर गया है। कम से कम उसमें जो प्रेम था, अपनापा था, वह तो उसके साथ है। उसके लिए अब क्या रहा? उस सधवा के हाथ तो कुछ नहीं लगा? जलना और नफ़रत, बस! उस विधवा को तड़पन है, जलन है, मगर विधवा के दिल के अन्दर जो अपनापा और प्रेम के अंकुर जमा हो गये हैं, वही उसकी स्थायी सम्पत्ति हैं। उसके मरने पर ही वह दूर हो सकेगा। जो उसके दिल के अन्दर स्मृति है, वही उसके जीवन की स्थायी और अमूल्य वस्तु है। जिसके जीवन में ये चीज़ें मिल जायँ उसे और किस चीज़ की ज़रूरत? अब उसका अन्दाज़ लगाओ, जिसे घर में जीवित पति जला रहा है।

मुझे क्या मालूम था कि इन बातों को याद करके एक दिन मुझे रोना पड़ेगा। उनके संबंध की सारी स्मृतियों को मन में सँजोकर संतोष करना पड़ेगा। वाह री क़िस्मत, तू सब कुछ करवाती है। तेरे हाथ का खिलौना सभी को बनना पड़ता है। मेरे स्वामी ने कहा था कि स्थायी चीज़ स्मृति ही होती है और कुछ नहीं होता। केवल वही चीज़ स्थायी है। एक दिन वे थे जब दुनिया भर के वाद-विवाद पर घंटों बहस होती। उस समय वे बातें व्यर्थ की बहस मालूम होती थीं। आज उन्हीं को सोच-सोचकर लिखने बैठी हूँ। हालाँकि उन बातों को सोचकर हृदय पर छुरियाँ-सी चल जाती हैं। मगर फिर भी उन्हें याद किये बिना नहीं रहा जाता। उनको सोचने में जो एक झलक-सी दिखाई पड़ जाती है, वह बीते हुए सुखों की एक स्मृति है। मुझे विवश होकर लिखना पड़ रहा है। मैं यह सोचकर नहीं लिख रही हूँ कि इसमें पाठकों का कोई मनोरंजन होगा; या कोई तथ्य निकलेगा। मैं क्यों लिखती हूँ, क्यों सोचती हूँ, ख़ुद नहीं जानती। हाँ यह जानती हूँ कि इनको सोचने में कोई सार और कोई तथ्य अवश्य होगा। तभी तो लिखती हूँ। क्योंकि जब आदमी को रोने की इच्छा होती

है तब उसको दुःख की घटनाएँ याद करने में मज़ा आता है। तभी तो वह याद करता है और सोचता है।

बड़े चचेरे भाई साहब का देहान्त

सन बत्तीस की बात है। आपके बड़े चचेरे भाई साहब का देहान्त हुआ। आपको उनके देहान्त से बड़ा आघात पहुँचा। पहले उनकी बीमारी का तार गया।

उनके चूतड़ पर दो-तीन फोड़े हुए थे। जिससे वे बैठ न सकते थे। मुझसे बोले—मेरा बिस्तरा तैयार करो। आज सुबह की गाड़ी से मैं जाऊँगा, चाहे लेटे ही लेटे जाना पड़े। हाँ, फोड़ा फूट गया तो देखा जायगा। क्या करूँ। या तुम्हीं न चली जाओ। वे मुझसे कुछ कहना चाहते होंगे।

मैं—तो मुझे कैसे वे बतायेंगे। फिर आप भी तो बीमारी की हालत में अकेले पड़ जायँगे।

दूसरे दिन दूसरा तार पहुँचा कि उनका स्वर्गवास हो गया। आप रोते हुए बोले—दोनों बच्चों को क्या होगा। अभी बहुत छोटे हैं। घर में दो विधवाएँ।

उसके चौथे दिन जब आप बनारस चलने लगे तो मुझसे बोले—बिना वारंट की गिरफ़्तारी हो रही है। तुम पहले की जेल गई हुई हो, शायद इस बार बिना वारंट के तुम पकड़ ली जाओ। मैं तुमसे यह इसलिए कह रहा हूँ कि जब तक मैं न आ जाऊँ, तब तक तुम घर से निकलना मत। और भी एक मुसीबत आ जायगी।

मैं—हर्गिज़ मैं नहीं जाऊँगी।

बनारस आने पर मुझे मालूम हुआ कि आप को देखकर उनकी दोनों भौजाइयाँ जब रोने लगीं तो आप बोले—न रो, भाभी। तुम्हारे लिए मैं हूँ। मरे तो भैया हैं। बच्चों से यह कभी न कहना कि तुम्हारे बाबू मर गये। मैं अब तक तीन बच्चों का पिता था, अब पाँच बच्चों का पिता हूँ।

जो भी ज़रूरत पड़े, फ़ौरन मुझे ख़बर करना। फिर मैं अब यहाँ चला आनेवाला हूँ। मैं इस काम-क्रिया को बहुत कम पसन्द करता हूँ। इसे मामूली ढंग से ही करना। और १००) रुपए बैंक से निकालकर उन्हें देते गये। बोले—मैं जा रहा हूँ। उनकी गिरफ़्तारी का बहुत अन्देशा है।

'आज' का लेख

काशी की एक घटना है। आपका एक लेख 'आज' में छपा। उस पर काशी के हिन्दू नाराज़ हुए। यहाँ हिन्दू-सभा का उस समय ज़ोर था। कांग्रेसी भी हिन्दू-सभा का पक्ष लेते थे। कई महाशय आये और बोले—आपने जो लेख लिखा है, उससे काशी के हिन्दू आपसे बहुत नाराज़ हैं। उन आनेवालों में अधिकतर कांग्रेसी थे।

बाबूजी जब अन्दर आये तो मैं बोली—ये लोग क्या कह रहे हैं?

'कुछ नहीं, जी। वह लेख बड़ा सुन्दर है।'

मैं—मारने की धमकी आख़िर क्यों दे रहे हैं?

'यह सब हिन्दू-सभावालों का काम है।'

'ये सब तो कांग्रेसी थे।'

'आज कल ये लोग भी उसी के पक्षपाती हैं।'

'ऐसा लेख आप क्यों लिखते हैं कि लोग दुश्मन बनें। कभी गवर्नमेंट, कभी पब्लिक, कोई-न-कोई तुम्हारा दुश्मन रहता ही है। आप ढाई हड्डी के तो आदमी हैं।'

'लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती है। आख़िर लेखक भी कोई चीज़ है। वह सभी की मर्ज़ी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेंट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जाय और लिखना बंद कर दे?'

मैं—सब कुछ करे, मगर अपनी जान का दुश्मन न तैयार करें।

आप बोले—लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।

'यह बात तो ठीक है ; लेकिन रोज़ का झगड़ा ठीक नहीं ।'

'यह दुनिया ही झगड़े की है। यहाँ घबराकर भागने से काम नहीं चलता। यहाँ मैदान में डटे रहना चाहिए ।'

मैं—वह लोग कभी कांग्रेसी, कभी हिन्दू-सभाई कैसे हो जाते हैं ?

'तो मैं क्या हो जाऊँ ?'

मैं—वैसा न होने से तो और भी बुरा होगा। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि आप बिना सिद्धान्त के हो जायँ। वे सब तो कह रहे हैं कि अब तुम मुसलमान हो गये। पर उनको क्या। आप मुसलमान नहीं ईसाई हो जायँ।

'इन लोगों का भ्रम है। ये लोग कभी अपने हृदय का दरवाज़ा खुला नहीं रखते। मैं ही कहाँ तक इनको समझाऊँ। देखती तो हो इन लोगों को, ये हर जगह अपना पैर अड़ाते हैं, चाहे उसे समझें, चाहे न समझें।

मैं—तो उन्हें आपने समझाया था ?

'समझता तो इंसान है तब जब समझने की कोशिश करे। और तुम्हें क्यों चिन्ता होती जाती है ?'

'दुश्मनों के बीच में रहकर क्या किसी को चिन्ता नहीं होती ?'

'मैं बिलकुल निश्चिंत रहता हूँ, नहीं तो कुछ कर ही न पाऊँ। मैं तो दिल से दोनों को मानता हूँ। कोई लेखक इस तरह की बातों पर ध्यान दे और डरे तो वह अपने विचार जनता को दे चुका। वह जनता का नेतृत्व तब क्या ख़ाक करेगा।'

'जब जनता आपके विचारों को सुनेगी ही नहीं, पढ़ेगी ही नहीं, पढ़कर घृणा करेगी, तब आपके विचारों से क्या फायदा ?'

'लेखक हर आदमी की बात कैसे सोच सकता है? वह तो जी-हुज़ूरी हुई। लेखक उसमें कहाँ रहा। लेखक किसी की परवाह किये बिना ही अपने विचार देगा और हृदय से जनता उन विचारों को लेगी भी। और फिर जनता भेड़ भी तो है। जिसे माना, उसी के इशारे पर चलती रही, यह तो

अच्छी बात नहीं। मेरी राय है, जनता स्वयं अपना भला-बुरा निर्णय करे। यहाँ तो लोगों को लीडरी की पड़ी रहती है, तब भला वे कैसे जनता के हित ही की बात सोचें। हिन्दू-मुसलमान की लड़ाइयों में तो ये अपनी लीडरी चमकाते हैं।'

मैं—तो फिर इन्हें ठीक कैसे किया जाय?

'जब ईश्वर को मंजूर होगा, तभी ये झगड़े ख़तम होंगे। और तभी हम स्वराज पायेंगे, इसके पहले क्या आशा। और वह स्वराज्य ही कैसा जिसमें हम दोनों लड़ते रहे। गान्धी इस युग का सबसे बड़ा पण्डित है। उसका दिल दोनों के लिए बराबर है। वह आदमियत पहले देखता है। जब आदमी आदमी न रहा, तो मज़हब क्या और किसका?'

मैं—लेकिन गान्धी तो सर्वप्रिय हैं।

'तुम जानती नहीं हो। उनको तो लोग गालियाँ तक देते हैं। ख़ुद गान्धी का लड़का मुसलमान हुआ, और इस बात को लेकर कस्तूरी बाई ने रोना-पीटना मचाया। उस पर गान्धीजी ने ख़ूब समझाया और बराबर कहते रहे कि भाई मज़हब के कारण उसमें क्या नई बात हो गई। गान्धीजी का व्यवहार सबके साथ बराबर का है। उन्होंने मेहतर की लड़की को अपनी लड़की से भी ज़्यादा प्यार से अपनी थाली में खिलाया-पिलाया, पाला-पोसा।

मैं—क्या आप गान्धी बनना चाहते हैं?

'गान्धी भी आदमी हैं। कोशिश से सभी गान्धी हो सकते हैं। उनमें शक्तियाँ हैं। पहले उनका जीवन बहुत ऊँचा नहीं था और तब लोग उन्हें महात्मा भी नहीं कहते थे। वे अपनी कोशिश से महात्मा हुए। किसी ने उन्हें महात्मा नहीं बनाया।

मैं—आप भी महात्मा बनने ही के कारण रोज़ झगड़ा खड़ा किये रहते हैं। क्या झगड़ों से ही लोग महात्मा होते हैं?

'मैं भी काम करता हूँ। गान्धीजी भी काम करते हैं। उन पर भी मुसीबतें पड़ती हैं; पर उन्होंने कभी परवाह की? यही जीवन है।'

'गान्धीजी बीमार पड़ते हैं तो सारे आदमी बौखला जाते हैं। यहाँ मरने पर भी कोई साँस नहीं लेता।'

'उसका कारण यह है कि हमारा दायरा छोटा है। गान्धीजी सारी दुनिया के आदमी हैं। इसलिए सभी उन्हें प्यार करते हैं।

मैं—तो आप भी अब घर-बार छोड़कर महात्माजी बनिए न।

'मैं अगर घर-बार छोड़कर पब्लिक का आदमी हो जाऊँ तो रोने का दिन न आये।'

मैं—तो क्या बुरा है। अभी आप रात-रात भर कलम चलाते रहते हैं।

'कलम चलाना तो मज़दूरी का काम है। न चलाऊँ तो क्या ख़ाक खाऊँ, महात्मा गान्धी भी तो खाना ही पाते हैं।

'यहाँ किसने हाथी-घोड़ा रख लिया? मेरी समझ में वह सबसे अच्छा है।'

'हाँ, कोशिश मेरी यही है।'

× × ×

मैं—स्त्रियों की आज़ादी पर आप क्या विचार रखते हैं?

'मैं दोनों में समानता चाहता हूँ।'

'समानता का आन्दोलन आप क्यों नहीं करते।'

'मैं उन ताकतों को साहित्य में भरना चाहता हूँ।'

'जनता क्या वह पढ़ती है?'

'इसके माने यह थोड़े ही हैं कि जनता की अशिक्षा के कारण साहित्य में इसको भरा ही न जाय। धीरे-धीरे सभी अपने रास्ते पर आ जायँगे। तुम्हें मालूम है, रूस की वर्तमान दशा का चित्रण २०० वर्ष पहले वहाँ के लेखकों ने लिख मारा।'

'तब तक तो मैं देख भी न सकूँगी।'

'तुम तत्काल फल चाहती हो। बहुत सम्भव है कि हम देख लें। इधर २५ वर्षों में ही ज़माना बहुत आगे निकल गया।'

मैं—समाज तो ज्यों-का-त्यों है।

'तुम कैसे कहती हो कि समाज वैसे ही है। तुम्हारी अम्माँ के भी ख्याल में जेल जाना आया था ? तुम क्यों जेल पहुँच गई ? तुम्हीं क्या, बीस हज़ार स्त्रियाँ जेल गई हैं। और फिर कैसे समाज आगे बढ़ता। मैं देखता हूँ, स्त्रियों में काफ़ी हलचल है। यह समाज के शुभ लक्षण हैं।'

मैं—अभी तो बहुत पुरुष स्त्रियों को पर्दे में रखना उचित समझते हैं।

'बहुत दिनों की आदत एक दिन में कैसे छूटे ?'

मैं—हमारी जनता अधिक तादाद में देहातों में रहती है। उनमें तो वही सब पुरानी बातें हैं।

'उनको हटाना तुम्हीं लोगों का काम है।'

मैं—हम हई कितनी हैं।

'छोटी-सी चिनगारी जंगल को ख़ाक कर देती है। जब-जब जिस किसी देश की तरक्की हुई है, तो कुछ ही लोगों के हाथों। यहाँ भी जो कुछ सुधार हो रहा है, थोड़े ही आदमियों से।'

मैं—अभी तो गाँववाले हम लोगों को, जब कांग्रेस का चन्दा माँगने हम लोग जाती हैं, तो गालियाँ देते हैं। वे देहात की ही नहीं, शहर की भी होती हैं।

'जनता को उठानेवाला जब मिट जाता है, तभी वह सम्मान पाता है। स्त्रियाँ तुम्हें गालियाँ देती हैं तो बुरा क्यों लगता है। तारीफ़ तो तब है, जब तुम लोग उन गालियों को प्यार की बातें समझो। और उन्हीं में मिल जाने की कोशिश करो।'

मैं—आप चन्दा माँग सकते हैं ?

'मैंने कोशिश ज़रूर की है, पर भाई, मैं तो असफल रहा।'

'हम लोग १०-१० हज़ार रुपये माहवार चन्दा लाई हैं। आपकी उन दोनों कापियों का चन्दा मैंने ही उगाहा था।'

'इसमें क्या शक, सदा स्त्रियाँ अपने काम में सफल रही हैं। वे दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं।'

मैं—बहुत-से पुरुष भी हैं, जिन्हें लाखों चन्दा मिला है।

'वे माँगना जानते हैं। और यह बहुत अच्छा फ़न है। मैं देखता हूँ तुम रोज़ाना भाषण कर लेती हो ; पर मैं तो भाषण नहीं दे पाता।'

मैं—भाषण क्या देती हूँ, अपना गला छुड़ाती हूँ।

'अपना काम तो निकाल लेती हो।'

अक्टूबर १९३२, धनतेरस

हम लोग बेनिया पर थे। तीन दिन दिवाली बाक़ी थी। धनतेरस थी। 'जागरण' निकल रहा था। 'जागरण' के सम्पादन में इतने व्यस्त थे कि उन्हें दीवाली की ख़बर तक न थी। तेरस के दिन कोई तीन ही बजे प्रेस से लौटे। बोले—परसों शायद दीवाली है।

मैं बोली—आपको आज मालूम हो रहा है ?

आप बोले—आज बाज़ार की दूकानें सजी हैं तेरस होने की वजह से। सब लोग अपने-अपने घरों की सफ़ाई करवा रहे हैं। क्या तुम्हारा घर वैसे ही पड़ा रहेगा ?

मैं बोली—आपको 'जागरण' और 'हंस' से छुट्टी मिले तब तो कोई दूसरा काम होगा।

आप हँसते हुए बोले—क्या तुम मुझ पर नाराज़ हो गई हो। मैं ऐसा भूल गया कि कुछ पूछो मत। मुझे तो बिलकुल याद ही न रहा। ऊपर से तुम रूठी हुई हो, वाह !

मैं बोली—तुम्हें रूठने की परवाह ही क्या है ? मैंने कई दिन पहले ही आपसे कहा था कि दीवाली आ गई है तब आपने कहा था मुझे फ़ुरसत ही नहीं है। 'जागरण' जल्दी निकालना है।

'उस दिन से फिर मुझे बिलकुल ही स्मरण नहीं हुआ। तुम भी चुप्पी लगाकर बैठ रहीं।'

मैं बोली—मैं आपसे कह चुकी थी, फिर क्या कहती।

आप बोले—काम में पड़ जाने से मुझे याद नहीं रहा। आज बाज़ार

सजी देखकर ख़याल हुआ कि धनतेरस होगी। बड़ी ग़लती हुई, मकान की सफ़ाई हो जानी चाहिए थी। अच्छा तो अब क्यों देर करती हो ? तुम रुपए दे दो। मैं चूना वग़ैरह तो मँगवा लूँ। मकान ही कौन बहुत दूर है। सब मकान पर मँगवाकर इसी वक्त चले चलेंगे। आज के दिन कोई नया बर्तन मँगवा लो। तुम रुपए दे दो, मैं सामान ला दूँगा। तुम तैयार रहो, मैं एक्का लेता आऊँगा, चली चलना। काफ़ी मज़दूर कर लेंगे। एक दिन में सब हो जायगा। शाम को अपने घर में आराम से दीवाली मनाना। नहीं तो दूसरे के मकान में रोशनी करोगी ?

मैं बोली—एक रात-दिन में आप क्या-क्या कर लेंगे।

आप बोले—नहीं जी, क्या कहती हो, सब हो जायगा। तुम सब सामान तो मँगवा लो। अब देर न करो, शाम हो रही है। तब जल्दी में कुछ न हो पायेगा।

हम दोनों में बातें हो ही रही थीं कि मेरी बहन का लड़का भी आ गया। वह काशी विश्वविद्यालय में पढ़ता था। जब उसने सुना कि घर जाने की तैयारी हो रही है, तो बोला—ठीक है तो मौसी, चीज़ों का नाम लिखवा दो। मैं और धुन्नू सामान ख़रीदकर आते हैं।

आप हँसकर बोले—चलो, ये भी मेरी राय के ठहरे। अच्छा अब तुम जल्दी करो। उसे सामान नोट करवाओ।

मैंने उसे सामान लिखवाया। आप एक्का लेने गये। हम लोग दिन रहे गाँव पहुँच गये। दोनों लड़के बाज़ार चले गये। मैं अपने मकान को खोलकर उसकी सफ़ाई कराने लगी। सुबह १५-१६ मज़दूर काम करने के लिए बुलवाये गये। रात को जब लड़के चूना लेकर आये तो उसे पानी में डाल दिया गया। सुबह ही से घर की सफ़ेदी होने लगी। कुछ लोग दरवाज़ों और खिड़कियों को रङ्ग लगाने लगे। वे सुबह से दिन भर मज़दूरों के साथ काम करते रहे। मकान के बहुत हिस्से में रंग वग़ैरह लगा दिया। शाम को बच्चों के साथ वे दीये चुनने लगे। जब रोशनी कर चुके तब दरवाज़ों पर

बहुत से काश्तकार और दूसरे लोग आकर बैठ गये। तब आप दीवाली त्यौहार मनाने का महत्त्व लोगों को समझाने लगे। इसके मनाने के क़ायदे क्या हैं। इस तरह की बहुत सी बातें लोगों को उन्हीं की भाषा में बता रहे थे। क्या इस तरह के उत्साह को आप मामूली कहेंगे?

वह दिन मेरे लिए कितने सुख और सौभाग्य के थे। मैं घरवाली थी। भाग्यवती थी। मेरे पास सब कुछ था। उनके चले जाने से चीज़ें तो सब कुछ हैं, पर वे नहीं हैं; इसलिए मेरे लिए अब कुछ भी नहीं रहा। जब मेरे 'वे' ही नहीं रहे, तब और क्या कहूँ? बाक़ी मेरे लिए हो ही क्या सकता है? इन सब बातों को सोचते-सोचते दिल से एक आह निकलती है।

जब उन्हें दौड़-दौड़कर चिराग़ रखते देखती थी, तब मुझे हँसी आती थी। वे बच्चों की तरह दौड़ रहे थे।

मैं बोली—आज तो आप ऐसे लगे हुए हैं कि आपमें बच्चों से भी ज़्यादा उत्साह नज़र आ रहा है।

आप बोले—आजकल के लड़कों में वैसा उत्साह कहाँ?

मैं बोली—आजकल के लड़के क्या दीवाली और होली मनाने के लिए लिखते और पढ़ते हैं। वे लोग सोचते होंगे इसमें रखा ही क्या है?

आप बोले—कुछ नहीं जी! आजकल के लौंडों में उत्साह नहीं है। त्यौहारों व ख़ुशी के मौक़ों पर ख़ुश होना जीवन के लक्षण हैं। जिसमें जितना ही जीवन रहता है, वह उतना ही ख़ुश रहता है।

ऐन होली के पहले गाँव जाते हैं: सन् १९३२-३३

होली के एक दिन पहले जब खाना खा-पी चुके और पकवान भी बन चुका तो आप बोले—चलो कल गाँव न हो आयें?

मैं बोली—पहले से तो आपने कहा नहीं। कल सुबह होली है, कहाँ तक सामान बाँधकर ले चलूँगी। आपने पहले क्यों नहीं कहा? अब कौन-कौन से सामान बाधूँ?

आप बोले—उसमें हर्ज ही क्या है ? सामान बनाने के लिए तो यहीं से जाता। अब गया तो और भी अच्छा है। गाँव में बड़ा अच्छा रहेगा। देखा, बेटी बीमार थी, अच्छी हो गई। बच्चा भी अच्छा है। चलो गाँव चले चलें। सुबह एकाध इक्के बुलवा लिये जायँगे। सब आराम से पहुँच जायँगे। घर जब पास ही है, तब बाहर होली क्यों करें ? आदमी दूर-दूर से अपने घर पर त्योहार करने आता है।

मैं बोली—ऐन होली के दिन रास्ते भर बड़ी परेशानी होगी।

आप बोले—तो क्या ? रंग से डरती क्यों हो ?

मैं बोली—ख़ाली रंग ही थोड़े है, गालियाँ भी तो बकेंगे।

आप बोले—एक घण्टे के लिए पर्दा कर लेना।

मैं बोली—इसके माने यह कि चला ज़रूर जायगा।

ख़ैर मैं राज़ी हो गई। सुबह उस दिन आप पाँच ही बजे उठे। पाखाने से लौटकर, हाथ-मुँह धोकर आप सीधे जाकर एक्का बुला लाये।

मुझसे बोले—सब सामान तो रख ही चुकी हो।

मैं बोली—अभी तो बिस्तर बाँधना बाक़ी ही है।

मुझे बिस्तर बाँधते हुए देखकर बोले—हटो, मैं बिस्तर बाँध दूँगा।

मैं बोली—क्यों नहीं बँधेगा।

आप बोले—ज़रा-ज़रा से तो हाथ हैं।

मैंने कहा—आप हां के कौन बहुत लम्बे-चौड़े हैं।

उन्होंने मेरे हाथ से बिस्तर छीनकर खुद बाँधा। बिस्तर बँधवाकर एक्के-वाले को बुलवाया। घर में ताला लगवाने लगे। होली का दिन था ही। सामान सब साथ ही गया था। आठ बजे के पहले हम लोग मकान पहुँच गये। मैं उधर खाना पकवाने लगी। आप दरवाज़े पर बैठकर रात को भाँड़ों का नाच होने के लिए इन्तज़ाम कर रहे थे। शाम को मैंने देखा गाँव भर के काश्तकार आदि सभी दरवाज़ों पर जमा हैं। लोगों ने जुटकर भाँड़ों का नाच देखा। लोगों के लिए भाँग वग़ैरह का भी प्रबन्ध किया गया था। ऐसा

उत्साह छाया था कि क्या कहूँ। बेटी के बच्चे को गोद में लिये इधर-उधर टहल रहे थे। अन्दर आकर बोले—तुम क्यों नहीं देखती हो? सच कहता हूँ, बड़ी अच्छी नकल कर रहा है।

मैं बोली—तबियत ही नहीं कहती तो क्या करूँ?

आप बोले—सारे गाँव की स्त्रियाँ तो आकर तुम्हारे दरवाज़े पर देख रही हैं और तुम्हें अच्छा ही नहीं लगता।

जब उनका हठ नहीं टला तो मज़बूरन मुझे जाना पड़ा। रंग से लथ-पथ थे। बच्चे का भी चेहरा अबीर से भरा था। मैंने कहा—लड़के को भी रंग में सराबोर कर दिया।

आप हँसते हुए बोले—होली की यही तो बहार है। दिन भर इसी तरह लगा रहा। रात को भी १२ बज गये। वह जीवन क्या था, यही बार-बार मुझे सोच आता है। अब तो जैसे रात ही रात है, जो कटने में ही नहीं आती। न तो अब वह समय रह गया, न वह उत्साह ही। हाँ, आनन्द के वही अनुभव कुछ-कुछ स्मरण हैं। उन्हीं को सोचती हुई दिन-रात काट देती हूँ। आनन्द अब कहाँ लौटेगा? हृदय की तड़पन बढ़ जाती है। वही तड़पन एक अपनी स्थायी चीज़ है। जिसको शायद ईश्वर भी छीन नहीं सकता।

प्रेस में हड़ताल : फरवरी १९३३

मेरे प्रेस में हड़ताल हो गई थी। आप वहाँ से आये और सुस्त-से बैठ रहे। मैं उन्हें उदास देखकर पूछ बैठी कि आपकी तबियत कैसी है?

आप बोले—तबियत तो बहुत अच्छी है।

मैं बोली—तो उदास क्यों हैं?

आप बोले—इस प्रेस के कारण मुझे बड़ी परेशानी रहती है।

मैं बोली—क्या है? बताओ न।

'क्या बताऊँ, मैनेजर और मज़दूरों में पटती ही नहीं।'

'वे काम ठीक से न करते होंगे। मैनेजर बेचारा क्या करे।'

'भाई मैनेजर भी तो अपने को खुदा से कम नहीं समझता।'

'खुदा क्यों समझेगा अपने को ? अगर ठीक-ठीक काम न कराये तो आप भी उस पर बिगड़ेंगे।'

'ज़रा-सी बात पर तो लोगों को ग़ैरहाज़िर करता है, पैसे काटता है।'

'तो फिर उसका क्या दोष ?'

'नहीं, मैनेजर की सब शरारत है। कभी घड़ी को सुस्त कर देता है, कभी तेज़ कर देता है। मैंने एकान्त में भी बीसों बार समझा दिया है कि बाबा, ऐसा मत किया कर ; पर माने तब न। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं। क्या इन्हीं मज़दूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे ? हम लोगों को तो ज़्यादा रुपये मिलते हैं, पर ख़र्चे भर को पूरा नहीं पड़ता। तब ग़रीबों को कैसे पूरा पड़ेगा ? पैसों की मुसीबत तो उन लोगों के सिर पर है। इन लोगों की तनख़्वाह तब नहीं कटती, जब ये लोग हफ़्तों ग़ायब रहते हैं ; तब क्यों मज़दूरों की ही तनख़्वाह, चार मिनट देर से आयें तो कट जाय ? ज़रा भी ग़लती कहीं हुई कि चट निकालकर दूसरे को बुला लिया। हमारे यहाँ पढ़ा-लिखा समाज सबसे ज़्यादा खुदगर्ज़ हो गया है।'

'एक के पीछे आप सारे समाज को बदनाम कर रहे हैं।'

'मेरा कहना तुम सच मानो।'

'तो आप फिर अपने को दोष दीजिए। मैनेजर को क्यों दोषी ठहराते हैं ?'

आप बोले—मैं तो कभी नहीं अपने छोटों से लड़ता हूँ। हर जगह यही अत्याचार है। अगर ये अपने से छोटों को बराबर का समझें तो झगड़ा-हड़ताल कभी कुछ न हो। हरकतों से तो इनकी हड़ताल हो, पर बदनामी और हार मेरी हो। अब जब तक हड़ताल ख़तम न होगी, तब तक सारा काम रुका। तबियत उधर लगी रहती है, काम क्या होगा ख़ाक ?'

मैं बोली—आप की तरह मैनेजर भी बैठा रहेगा। ये मज़दूरे भी किसी से कम थोड़े ही हैं।

आप बोले—क्या करूँ ?

मैं बोली—अच्छा हाथ-मुँह धोइए। पानी पीजिए।

'अरे, मैं तो आज कुछ लाया भी नहीं। झोला भी प्रेस ही में भूल गया।'

मैं बोली—सब कुछ घर में है।

आप बोले—मैं टहलता-टहलता चला जाऊँ। सामान लाऊँ, घूमना भी हो जायगा।

मैं बोली—कोई ज़रूरत नहीं है जाने की।

पहले मैं जिन कामों की आलोचना करती थी, उन्हीं कामों से मुझे अब प्रेम हो गया है। वह बहुत ऊँचे हृदय के आदमी थे। यहाँ तक कि उन मज़-दूरों को भी वे अपने समान ही समझते थे। सबकी तकलीफ़ों का ध्यान रखते थे। वे अक्सर अपने को मज़दूर कहते। इन्सान और हैवान में इतना ही फ़र्क़ है। मैं उनकी बातों का उद्देश्य अब समझ पा रही हूँ। जैसी हालत ज़माने की होनेवाली थी, सब आपने समझ ली थी। क्या यह मेरे लिए कम दर्द की बात है। मेरे दिल में बार-बार यही उठता है कि वे कोई सन्त थे ?

१९३२

जेठ का महीना था। गर्मी ज़ोरों से पड़ रही थी। उस साल गर्मी शायद तेज़ थी। मैं गर्मी से बेचैन रूमाल को गीला कर सिर में लपेटकर लेटी थी। आप बाहर से आये। मुझे पड़ी देखकर बोले—कैसी तबियत है।

मैं बोली—तबियत को क्या हुआ है। अलबत्ता गर्मी बहुत तेज़ है।

आप बोले—हाँ, आजकल ज़्यादा गर्मी पड़ रही है। मैं तुमसे कहता तो हूँ, पहाड़ पर जाओ तो इन्तज़ाम कर दूँ। दो महीना रहना, फिर चली आना।

मैं बोली—आप चलेंगे ?

'मैं कैसे चल सकता हूँ ? मेरे चलने पर आमदनी की राह बन्द हो जायगी।'

'आप वहाँ भी इसी तरह काम कीजिएगा। काम में तो कोई फ़र्क पड़ेगा नहीं। शायद वहाँ ज़्यादा भी काम आप कर सकें। आप चलें तो मैं चलूँ।'

आप बोले—काम के लिए पूछता कौन है? काम करने के लिए काम भी तो होना चाहिए। बच्चों को लेकर तुम जा सकती हो।

मैं बोली—क्या सबसे ज़्यादा रईसी मुझी को चाहिए? यह सब अमीरों के नख़रे हैं। गरीबों का शिमला और मंसूरी अपना ठंडा घर ही है।

आप बोले—तुम तो एक ज़िद पकड़ लेती हो।

मैं बोली—इस जगह तो दो ही आदमी हैं, मैं और आप। इसमें कौन फ़ैसला करे कि कौन ज़िद करता है, मैं कि आप?

आप बोले—तुम मेरा कहना मान जाओ।

मैं बोली—मैं अकेली नहीं जाऊँगी।

आप बोले—तब तौलिया और रूमाल भिगो-भिगोकर सिर पर रखो।

मैंने कहा—मुझ जैसों की तादाद बड़ी है। आप कहते क्या हैं? मैं अपनी गिनती उनमें क्यों करूँ जो थोड़े से हैं?

क्या वे महान् आत्मा नहीं थे। खुद तपकर दूसरों को ठण्ढक पहुँचाने के लिए उनका प्रयत्न आपने पढ़ा ही। उन्होंने कर्त्तव्य और परिस्थितियों के सामने हमेशा सिर झुकाया; फिर भी कभी उन विषयों पर गिला का एक भी शब्द नहीं निकाला। न चेहरे पर कभी शिकन आई। बल्कि सीना खोलकर उन्होंने बाहें फैलाकर उस पर विजय पाने की कोशिश की। क्या यह एक महात्मा के लक्षण नहीं हैं?

१९३३

दिल्ली में साहित्य-सभा की मीटिङ्ग थी। उसी में आप जानेवाले थे। शाम को चार बजे प्रेस से आये और बोले—सुनो, आज ही पाँच बजे शाम की ट्रेन से दिल्ली जाना है। मेरा बिस्तर बँधवाकर रख देना।

मैं बोली—ऐसी जल्दी क्या पड़ गई। फिर बेटी जानेवाली है।

आपने कहा—अभी तो वह ठहरेगी।

मैं बोली—तो बोलो क्या काम है ?

बोले—जैनेन्द्र का ख़त आया है।

मैं बोली—आप कब तक लौटिएगा ?

आप बोले—तीन-चार रोज़ तो लग ही जायँगे। फिर मैं पहली ही बार तो दिल्ली जा रहा हूँ।

मैं बोली—अगर आप न जायँ तो क्या हर्ज़ है ?

आप बोले—नहीं, जैनेन्द्र को बड़ा दुःख होगा।

मैंने तैयारी कर दी। आप गये। तीन-चार दिन के लिए कह गये थे, पर लौटे सातवें दिन। मैं परेशान थी। क्योंकि कहीं रुकने का उनका स्वभाव ही नहीं था। बार-बार मुझे यही ख़याल होता था कि वे बीमार तो नहीं पड़ गये। मैंने प्रेस के मैनेजर को बुलाकर कहा कि तार दे दो।

मैनेजर बोला—आप घबड़ाती क्यों हैं ? कल आ जायँगे। मैंने सोचा, पहली बार गये हैं। देर हो गई होगी। तार मैंने नहीं दिलाया, मगर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही थी।

आप जब सातवें दिन आये तो मैं क्रोध से बोली—आपको कुछ भी ख़याल नहीं रहता। आप यह सोचने की तकलीफ क्यों नहीं करते कि आख़िर घरवाले क्या कहेंगे ? चार दिन के लिए गये, लौटे इतने दिनों बाद।

आप बोले—पहले बैठकर मेरी रामकहानी तो सुन लो। तब तुमको मालूम होगा कि मैं क्यों नहीं वादे पर तुम्हारे पास पहुँचा। और अगर तुम मेरी जगह पर होती तो तुम भी वही करती जो मैंने किया है।

मैं बोली—रात-दिन आप कहानी लिखते हैं। एक और सही।

तब आप बोले—यह तुम्हारा ख़याल ग़लत है। क्या मुझे तुम्हारा ख़याल नहीं रहता ?

मैं बोली—यह तो देख ही रही हूँ।

आपने हँसकर जवाब दिया—पहले मेरी बातें सुनो, तब बोलो।

मैं बोली—सुनाओ।

मेरा हाथ पकड़कर बैठाते हुए बोले—मैं यहाँ से चलकर आराम से जैनेन्द्र के मकान पर पहुँचा। मेरे जाने के पहले पं० सुन्दरलालजी भी वहाँ पहुँच गये थे। जिस दिन मैं गया, उसी दिन शाम को वहाँ मीटिङ्ग थी। तीन दिन तक उसी में लगा रहा। एक पंजाबी सज्जन का आग्रह हुआ कि आप मेरे यहाँ चलें। मुझी से मिलने वे दो बार लखनऊ आये थे और एक बार बनारस भी। वे बेचारे मेरे लिए व्यग्र थे। और जब मैं मिल गया तो फिर लगे मुझे ठहराने। मैं जितना ही निकलने की कोशिश करने लगा, उतना ही उनके साथ उलझता गया। वे अकेले ही नहीं मिलना चाहते थे, उनकी बीवी भी मिलने के लिए व्यग्र थीं। मैंने बहुत चाहा कि भाग निकलूँ, पर भागना मुश्किल हो गया। मैं उनके यहाँ चलने को राज़ी हो गया। उस बेचारी को कैसे निराश करता। मैं उनके लिए रुक गया। इसके बाद जो चाहो, तुम सज़ा दे लो। अपराधी तुम्हारे सामने है।

मैं बोली—उनका क्या नाम था?

आपने कहा—क्या बताऊँ। मैं तो पहली बार ही उनसे मिला हूँ। उनका कहना था कि मेरी 'मन्त्र' नाम की कहानी पढ़कर उन्हें अपने काम में जी-जान से लगने की प्रेरणा मिली। तभी से वे मुझे ढूँढ़ रहे थे। जब मिल गया तो कैसे छोड़ते? मेरे ही कारण उन्होंने सारी मीटिङ्ग की दावत की।

मैं बोली—तो फिर आपको तो मज़ा था। मैं अलबत्ता यहाँ परेशान थी। मैं सोचती थी कि आप बीमार हो गये। परसों मैं तार देने को थी। मैनेजर कुछ हिचकिचाया, मैं भी रह गई। १॥) जाते, बेवकूफ़ भी बनती।

आप बोले—मैं ख़ूब सोच रहा था कि तुम परेशान होगी। अब तुम्हीं बताओ इसमें मेरा क्या क़सूर था।

मेरा क्रोध शान्त हो चुका था। मैं बोली—ठीक, आपका क्या दोष?

'सच कहता हूँ, वे जैसे मेरे लिए पागल हो रहे थे। मेरे पास आने की उन्हें हिम्मत तक न होती थी। मीटिङ्ग में किसी तरह एक मिनट का समय

माँगकर उस भले आदमी ने अपनी बातें कहकर सब पर इसका निर्णय करना छोड़ दिया। मैं विवश था, करता ही क्या ? मेरी रहने की ज़रा भी इच्छा नहीं थी। मगर उसके प्रेम के आगे अपना सिर झुका देना पड़ा। तिस पर खाट पर पड़ी हुई उसकी बीमार पत्नी। उसे भी दुःख होता।

मैं बोली—लेखकों की बीबियों पर सबसे ज़्यादा आफ़त आती है। उनके घर के आदमी भी पूरे-के-पूरे उनके नहीं होते। यही आफ़त हमेशा लगी रहती है।

'मैंने सब बातें तुमसे बता दीं। मुझे तो ख़ुद अपना काम करने में बड़ा रस आता है।' आप बोले।

मैं बोली— आइन्दा ऐसी देर न करना।

आप बोले—नहीं होगी। अच्छा तो तब हो कि तुम साथ में चला करो। न घर में रहोगी, न परेशानी होगी। न मुझे तुम्हारी कोई फ़िक्र रहेगी, न तुम्हें हमारी कोई चिन्ता।

मैं बोली—और बच्चे कहाँ रहेंगे ?

आप बोले—तुम नई-नई बेड़ियाँ डालती रहोगी तो कैसे शान्ति पा सकोगी।

मैं बोली—मैं हर तरह परेशान रहती हूँ।

एक दिन वह भी था, जब मेरे पतिदेव मेरे सामने मुजरिम होकर खड़े होते थे। इसलिए कि वे महज़ सात दिन हमसे अलग थे। मैं भी रूठकर बैठ जाती थी कि मुझे छोड़कर ये अलग रहे क्यों ? परेशानी भी होती थी। मैं दिन-रात यही सोचती रह जाती थी कि आख़िर वे कैसे होंगे। वही अब मैं हूँ। अब न कभी घबराती हूँ, न कभी चिन्तित होती हूँ और न तार ही दिलाती हूँ, न ख़बर ही पहुँचवाती हूँ। और न उन्हें ही मेरी चिन्ता होगी। आख़िर वे तो प्रेम के आगे सिर झुकाते थे। प्रेम निबाहना भी उन्हें आता था, फिर मुझसे क्यों उन्होंने मुँह मोड़ लिया ? मैं ज़रूर अन्धी थी, साथ ही पागल भी। क्योंकि मैं उनको पहचान न पाई। इसमें ज़रूर कोई न कोई

सत्य है। शायद ईश्वर भी अपने असली रूप में अपने भक्तों से नहीं मिलता। तभी तो वे सबके थे। अब तो वे किसी के भी न रहे। इन्हीं विचारों में मैं रात-दिन डूबती-उतराती रहती हूँ। मगर मुझे शन्ति नहीं मिलती। जब तक मैं ज़िन्दा रहूँगी, तब तक शायद मेरा जीवन ख़ाली ही रहेगा। मेरी यही स्थिति है।

मई, १९३३

प्रिय रानी, बनारस

तुम्हारा पत्र मिला। आज ही दशरथलाल का भी पत्र मिला है। मैंने बेटी को बुलाने के लिए पहले ही लिखा था और अब भी लिखता हूँ। अगर तुम बेटी को ला सकती हो तो लाओ, मगर यह ख़ूब सोच लो कि बेटी बीमार है। इतनी लम्बी यात्रा, जगह-जगह उतार-चढ़ाव, इसका इन्तज़ाम क्या करोगी। हाँ, तुमने यह कैसे समझ लिया कि बनारस आने पर बेटी का सारा रोग दूर ही हो जायगा। बनारस तो दवा के लिए कोई मशहूर जगह नहीं है। यहाँ दो-चार होम्योपैथ डाक्टर ज़रूर हैं, मगर उस तरह के डाक्टर तो सागर में भी कितने ही होंगे। अगर लखनऊ चलकर दवा कराने का इरादा हो तब तो ठीक है; लेकिन यात्रा की बात है। अगर सफ़र में बेटी की तबियत ज़्यादा ख़राब हो गई तब क्या होगा। तब उस समय कितनी शर्मिन्दगी उठानी पड़ेगी और कितना दुःख होगा। इसलिए मेरे विचार में जो दवा हो रही है, वह होने दो। अच्छा इलाज काशी में भी नहीं हो सकेगा, इसलिए ज़रूरत है कि वह सागर में रहे। यह समझ लो कि यह प्रसूति-ज्वर है। यह मुश्किल से जायगा। यहाँ कोई दूसरा ईश्वर भी नहीं है। जब हम मजबूर हो जाते हैं, तब सब भाग्य पर छोड़ देते हैं। यहाँ गर्मी भी बेहद है। यहाँ की जलवायु से सागर की जलवायु भी मेरे ख़्याल से ज़्यादा अच्छी है। इसलिए घबराने से काम न चलेगा। भाग्य पर सब छोड़ दो। ऐसी हालत में जब कि बीमारी ज्यों की त्यों है, आगे नहीं बढ़ी। इसलिए

उसके अच्छी हो जाने की काफ़ी उम्मीद है। फिर उन लोगों को यहाँ लाने में उन्हें दुःख भी तो होगा। जब कि उसका रोग घट रहा है।

अच्छा अब यहाँ का हाल सुनो। रामकिशोर आये। और दुलहिन को ले गये। कारण यह कि दुलहिन को यहाँ चक्कर आने लगे थे। उसी के साथ शीला भी चली गई। घर में इस समय हम तीन आदमी हैं। मुझे दस्त आ रहे हैं। मैं दही और चावल खाके रह रहा हूँ। धुन्नू कभी अपने लोगों के लिए खिचड़ी पका लेता है, कभी रोटी। बहन ससुराल गई हैं, छोटी भाभी अपने मायके। महराजिन अभी तक कोई मिली नहीं। छोटक के बाल-बच्चे आये थे, मगर एक घण्टा रहने के बाद वे लमही चले गये। फिर उनसे किसी तरह की आशा ही कैसी ? वे दुःख में साथ देनेवाले नहीं हैं। आजकल धुन्नू का भी कान ख़राब हो रहा है। वह रोज़ाना डाक्टर के यहाँ दवा लेने जाता है।

सबको मेरा यथोचित कहना। और सब कुशल है।

तुम्हारा धनपतराय

शारदाबिल

स्त्रियों के प्रति उनके विचार क्या थे, इन बातों का पता तो पाठक ऊपर की घटनाओं से पा गये होंगे।

आज के सात-आठ वर्ष पहले आपने 'जागरण' में एक लेख द्वारा हरविलास शारदा के समानाधिकार के प्रस्ताव पर बधाई दी थी और लिखा था—मैं आपको दिल से बधाई देता हूँ। स्त्रियाँ आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी। क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस सम्पत्ति को जोड़ते हैं, पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उनसे मुँह छिपाते हैं। आपका यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी। उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ। क्या हिन्दू-लॉ में स्त्रियाँ बेकार चीज़ समझी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट

की तरह उन्हें निकालकर बाहर किया जाता है ? भगवान जाने, यह कानून क्यों और किनके लिए बना था। मुझे तो आशा है, कोई भी विचारवान् व्यक्ति इस प्रस्ताव पर असहमति न प्रकट करेगा।

मैंने भी उसे पढ़ा और उन्हें बधाई दी।

आप बोले—मुझे बधाई क्यों दे रही हो ? बधाई तो हरविलासजी को मिलनी चाहिए।

'आपने समर्थन किया। इसलिए आपको बधाई दे रही हूँ।'

जब सब लोग खाना खाकर सो रहे तब 'जागरण' में जो पढ़ा था, उसी पर मैं बातें करने लगी।

मैं बोली—आपने तो शारदा साहब की ख़ूब तारीफ़ की। बोले—नहीं तो ! स्त्रियों के लिए उनके इस प्रयत्न पर मुझे ख़ुशी है, लिख दिया। तुम्हीं बताओ इन देवियों पर किसी नेता या विद्वान् को रहम आया ?

मैं बोली—मनु ने तो लिखा है।

आपने कहा—लिखने से क्या ? आज का क़ानून आज के लिए लागू है। गवर्नमेंट तो नहीं चाहती।

मैं बोली—तब कानून बनाने से भी कोई न मानेगा।

आप बोले—तुम ग़लत कह रहे हो। क़ानून का डण्डा बड़ा मज़बूत होता है। उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। तब मानने न मानने का सवाल नहीं रह जाता। आज अगर यह क़ानून पास हो गया तो बड़ा ही उपकार होगा। जो चीज़ धर्म पर छोड़ी जाती है, वह मुर्दा है। उसका होना न होना दोनों बराबर हो जाते हैं।

मैं बोली—दुनिया में क्या हर बेटे नालायक़ होते हैं।

आप बोले—नालायक़ों को दुरुस्त करने के लिए ही तो ऐसा चाहिए। फिर देखो अभी झगड़ा है। इन पोप-पन्थियों के मारे पास हो जाय तब न।

मैं बोली—आपने तो अपनी ओर से पास ही कर दिया।

आप बोले—तुम लोगों को तो सबसे ज़्यादा बधाई देनी चाहिए थी।

मैं बोली—मनुस्मृतिकार ने तो पहले ही लिख दिया है।

आप बोले—वह बहुत दिन की बात हो गई। उसे धर्म-ग्रंथ मानेंगे, पर उसकी बात पर अमल नहीं करेंगे।

मैं बोली—लेकिन क्या सभी बच्चे ऐसे होते हैं जो ऐसा व्यवहार कर सकते हैं ?

आप बोले—अगर सब ऐसा करें तो क्या करोगी ?

मैं बोली—तुम्हारे पिताजी क्या छोड़कर गये थे ? और अपनी मा भी नहीं, सौतेली थीं ; फिर भी वह किस तरह शासन करती थीं, क्या आप भूल गये ?

आप बोले—मुझे छोड़ दो। तुम अपने ही बच्चों को देख लो। यद्यपि तुम्हारा शासन उन्हीं लोगों की भलाई के लिए होता है ; फिर भी वे तुम्हारी बातों पर ध्यान नहीं देते। मुझे उन लोगों पर क्रोध आता है। मैंने कई बार तुमसे कहा है कि जब वे तुम्हारा कहना नहीं मानते, तब क्यों उन पर हुकूमत करती हो ? उनको मालूम है कि वे कितने प्यार से रखे जाते हैं। अगर माताओं को उन्हीं का सहारा रहा तो बुरी बात है न ? तुमको याद होगा, मैंने एक कहानी 'बेटोंवाली विधवा' नाम की लिखी थी। वह कल्पित नहीं थी। सच्ची घटना के आधार पर थी। तुम उसे ज़रा पढ़ना। हो सकता है कि तुमने पढ़ी हो।

मैं झेंपती हुई बोली—भाड़ में जाय, होगा। मैं बच्चों के साथ थोड़े ही ब्याही गई हूँ। तुम्हारा भी यह कहना है कि मैं तुमसे ब्याही गई हूँ, न कि बच्चों से।

आपने हँसकर कहा—अब कुछ फीस दो। तुम्हें मैंने कितनी बातें बताईं। दो बीड़ा पान तो दो।

यों बातें करते-करते बारह बज गये थे। आप बोले—सो जाओ।

आज मैं उन बातों को सोचती हूँ तो कलेजा बैठ जाता है। उनके अभाव से मुझसे ज़्यादा देश की हानि हुई है। अभाग्यवश ऐसी संख्या बहुत थोड़ी

है कि कुछ पुरुषों ने स्त्रियों की उन्नति में भाग लिया है। वे मेरे अकेले नहीं थे। हाँ, मैं भाग्यशालिनी ज़रूर थी। इतना बड़ा पुरुष मेरा होकर रहता था। यह दूसरी बात है कि मैं उनके जीवन-काल में उन्हें पूरा-पूरा नहीं पहचान पाई। मैंने उन्हें पति-रूप में प्राप्त किया था, मेरे वे थे भी वैसे ही सब कुछ। उनको मैं श्रद्धा की चीज़ कैसे मान पाती। वे मेरे बहुत ही निकट के स्वजन थे। इसी कारण शायद मेरी आँखों पर पट्टी बँधी रहती थी। मैं पहचान नहीं पा रही थी।

एक बात और हो सकती है। श्रद्धा और प्रेम साथ-साथ नहीं चल सकते। श्रद्धा सिर झुकाती है, प्रेम हृदय लगाता है। शायद यही बात है कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। मैं अगर उनसे श्रद्धा करती होती तो पान-फूल लेकर दौड़ती। वे मेरे लिए बाज़ार जाकर दौड़कर पान-मिठाई न लाते। सोते समय मुझे उठाकर वे गिलास का पानी न पिलाते। मुझे नींद न आने पर मुझे पंखा न झलते। मेरी छोटी से छोटी ज़रूरतों को दौड़कर वे पूरी न करते। तब वे मुझे मिलाने की कोशिश न करते। प्रेम तो उन सबों से, जहाँ ये बातें नहीं, कोसों दूर भागता है। इन दोनों का मेल ही नहीं खाता। आज जब वे मेरे नहीं रहे तो वे मेरी श्रद्धा की चीज़ हो गये हैं। मेरे हाथ अब रह ही क्या गया। जिस क़ानून पर इतनी बहस हुई थी, वह उनके मरने के चार महीने बाद पास हुआ। वह ऐसी मनहूस घड़ी में पेश हुआ था कि उनके मरने के बाद ही वह पास हुआ। वे उसे पास हुआ देखकर कितना ख़ुश होते, ईश्वर ही जानता है। मैं विमूढ़ हो बैठी-बैठी इन्हीं बातों को सोचती रहती हूँ। बीता सुख जैसे स्वप्न का हो। यही सोचते-सोचते एक दर्द-सा हो आता है। और उसी में थोड़ी देर के लिए अपने को भूल जाती हूँ। वे जहाँ भी होंगे, वहाँ उनकी आत्मा शान्त होगी। मगर यहाँ तो वे अशान्ति ही दे गये। अपने को इस जीवन में शान्ति कहाँ? यहाँ तो बस हाथ मलना है और हाथ कुछ आना नहीं है।

काशी-विश्व-विद्यालय में जलसा

यह सन १९३३ की घटना है। विश्व-विद्यालय में जलसा था। और विषयों के जलसों के साथ-साथ गल्प-सम्मेलन भी था, जिसके सभापति आप थे। मार्च का महीना था। मैं घर में अकेली थी। आप वहाँ जाने को तैयार हुए तो बोले—तुम भी चली चलो। अकेली भी तो हो। फिर तुम्हारा जाना ज़रूरी भी तो है। पहली मीटिङ्ग ग्यारह बजे से थी। उसके सभापति मालवीयजी थे। दूसरी मीटिंग ढ़ाई बजे से शुरू होती। इससे १॥ घंटे के करीब हमें वहाँ रुकना पड़ता।

आप बोले—तब तक तो मौलवी महेशप्रसादजी से मिला जा सकता है। यहाँ तो तब तक मनहूसियत छाई रहेगी। मैं तैयार हो गई। हम दोनों साथ-साथ वहाँ गये। इत्तिफ़ाक वे अपनी पत्नी के साथ कहीं बाहर गये हुए थे।

मैं बोली—यहाँ से भी लौटना हुआ।

विश्वविद्यालय-छात्रावास के बगल में एक नहर खुद रही थी। वहीं क़रीब में एक दरख़्त था। उसके नीचे हम लोग बैठे। पहली मीटिंग में उनको फूलों का एक हार दिया गया था। उस हार को मुझे पहनाते हुए बोले—लो हमारी-तुम्हारी यह ख़ुशी की शादी रही !

मैं बोली—अभी तक आप क्वाँरे थे ?

आप बोले—लोगों का क्या ख़याल होता होगा, यह भी तुमने सोचा ?

मैं बोली—लोग समझेंगे गंगा-स्नान करके ये लौटे हैं और यहाँ बैठकर थकान मिटा लेना चाहते हैं।

आप हँसकर बोले—गंगा नहानेवालों में न मैं शरीक़ किया जा सकता हूँ, न तुम्हीं। देखनेवाले बेवक़ूफ़ नहीं होते। और मैंने जो कहा, वही लोग समझेंगे।

हम दोनों नहर के पास घूमने लगे। वहाँ कई जगह हमने देखा कि युवक और युवतियाँ आपस में हँसी-ठट्ठा करते इधर-उधर चहलक़दमी कर

रहे हैं। उनको देखने पर यह मालूम होता था कि जैसे अँगरेज़ों के यहाँ सुनने में आता है, उसी तरह का वातावरण यहाँ भी हो रहा है। आपके चेहरे पर तो जैसे ख़ुशी थी ही नहीं। लटकता हुआ चेहरा देखकर मुझे भी चिन्ता हो आई। बोले—यह गुलाम देश कब सुधरेगा, समझ में नहीं आता। यहाँ नकल करने की आदत यहाँ तक है कि ये दूसरों की नक़ल करने ही में अपने को विद्वान् और बुद्धिमान् समझते हैं। और वह भी पूरी नक़ल नहीं अधूरी। ख़राबियों की नक़ल तो ये झटपट कर लेते हैं, अच्छाइयों की ओर झाँकते तक नहीं। उनमें निरी बुराइयाँ ही हों, यह बात नहीं है। जो अँगरेज़ गर्मी में पंखे के नीचे दिन काट देता है, वही उस समय भी, जब कि बाहर आग बरसती रहती है, मीलों उत्साह से दौड़ जाता है। ख़तरे से ख़तरे उसके लिए आरामदेह हैं। यह उनके राष्ट्र के लिए बहुत ही ज़रूरी चीज़ है। उससे तो हम कोसों भागते जा रहे हैं। इसी सबका कारण है कि हम परतन्त्र हैं।

मैं बोली—इस समय आपकी आलोचना से क्या लाभ?

आप बोले—ऐसे गुलाम देश को विलासता से क्या मतलब?

मैं बोली—अँग्रेज़ों की तरह रहेंगे, तभी तो आज़ाद होंगे।

आप बोले—विलासिता आज़ादी की दुश्मन है।

मैं बोली—आख़िर अँग्रेज़ भी आरामपसन्द होते हैं; पर वे क्यों नहीं गुलाम होते?

आप बोले—वे आज़ाद होने के बाद सुख भोग रहे हैं। आज़ाद और सुखी होने के पहले तो ये पशु-से भी ज़्यादा काम करते थे। ये जानते तक नहीं थे कि थकावट, आराम और विलासिता क्या कोई चीज़ होती है? तुम्हारे यहाँ भी विलासिता से आज़ादी कभी नहीं आयेगी। आज़ादी तो मिलती है तपस्या, त्याग और बलिदानों से। तुम्हारे यहाँ तो उसका उलटा हो रहा है। और यह जो हो रहा है, वह तुम्हें दिन-रात गुलामी की ओर लिये जा रहा है।

मैं बोली—ये सब आदतें बचपन में नहीं आतीं। इन लोगों के हौसले इसी उमर में पलते हैं।

आप बोले—इन्हें तुम बच्चा समझती हो। आज के युग में उमर ही कितनी होती है। क्या इनको नहीं मालूम है कि बहुत लोग रोटियों के भी पैसे बचाकर इन्हें पढ़ाते हैं। इन सबों को देखकर ऐसा लगता है, मानो राजकुमार और राजकुमारियाँ टहलने निकले हैं। लड़कियों को तो देखो तितली की तरह फुदक रही हैं। यहीं की अपनी आदत के अनुसार घर भर को इसी तरह की बनाने की कोशिश करेंगी। ये यहाँ सीखेंगी तो क्या, रहे-सहे माता-पिता के गुण ही खोकर जायँगी। अब इनको शादी के लिए माता-पिता को ज़्यादा-से-ज़्यादा क़ीमत देनी पड़ेगी। क्योंकि दूसरे के घर जब तक इन्हें उड़ाने को काफ़ी दौलत न मिलेगी, तो इनका जीवन दूभर हो जायगा।

मैं बोली—ये ग्रेजुएट होकर जाने के बाद क्या कुछ कमा न सकेंगी? और क्या ये बिना शादी के नहीं रह सकेंगी?

आप बोले—जब ये दूसरों के पैसे पानी की तरह बहा रही हैं, तब अपनी कमाई का हिस्सा किसी के लिए ये कब छोड़ सकेंगी।

मैं बोली—आप सुदर्शन जी की कहानी तो जानते ही होंगे। उस कहानी में एक लड़के का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है कि वह लड़का जो कुछ पैसा माँगकर लेता, उसे फौरन ख़र्च कर डालता था। उसका पिता उसकी फ़िज़ूलख़र्ची पर दिन-रात चिन्तित रहने लगा। पिता को एक युक्ति सूझी। बोले—बेटा, अब तुम भी कुछ कमाओ। दूसरे की कमाई पर कहाँ तक मौज करोगे? तीन-चार बार माँगकर अपनी मा से पैसे लाया और पिता को दिखाने लगा तो पिता बोले—कुएँ में डाल आ। उसने दो-तीन बार ऐसा किया भी। पिता को जब मा का देना मालूम हुआ तो उन्होंने उसे पैसे देने से सख़्त मना कर दिया। फिर बोले—तुम ख़ुद बाहर से कमाकर लाओ। लड़के ने दिन भर मज़दूरी करके दो आने पैसे एक दिन कमाये और लाकर पिता को दे दिया। पिता ने कहा—कुएँ में डाल आओ। मैं क्या करूँ।

लड़के ने कहा—प्राणों की बाज़ी लगाकर तो मैंने कमाये और झट उन पैसों को कुएँ में डाल दूँ ? खूब आप कहते हैं। पिता ने लड़के को छाती से लगा-कर चूमते हुए कहा—अब तुम रास्ते पर आये। तुम अपनी मज़दूरी की क़ीमत समझ गये। तो क्या इन लड़के-लड़कियों पर जब बोझ पड़ेगा तो चौकन्ने न हो जायँगे ?

आप बोले—यह जवानी की गंदी आदत है, वह लड़कपन की थी। यह तो आदमी को कहीं का भी नहीं रहने देती। एक बात है, तुमने सोचा है ? डाक्टर के यहाँ दवा के लिए रोगी जाते हैं; उनमें कोई जीता है, कोई मरता है। मरे हुए रोगी अपना अनुभव संसार को बता नहीं पाते। अच्छे हुए रोगी चाहे उसके इलाज से न भी अच्छे हुए हों लेकिन वे दुनिया में उसी का गुण गाते हैं; इसी तरह इनमें दो-चार और अच्छे होंगे। पर सब नहीं। आज समाज की दो प्रणालियाँ हैं। एक तो वे हैं जो बचपन से ही दुनिया को इस तरह ले जा रहे हैं कि हर समय उनको अपने ही काम की धुन रहती है। वे पढ़ते भी हैं तो देश की दशा उनकी आँखों के आगे नाचती रहती है। कुछ ऐसे हैं जो विलासिता के गड्ढे में इस तरह डूबे रहते हैं कि उनको बाद में अपना सँभालना ही कठिन हो जाता है। वे दूसरे को क्या सँभालेंगे, ख़ुद नहीं सँभल सकते।

मैं बोली—इसका मतलब क्या ? क्या संसार के सभी आदमी साधु होकर सब दिन रहे हैं ?

आप बोले—कुछ दिनों के बाद तो इन्हीं के हाथों राष्ट्र की बागडोर होगी। ये सिरफिरे तब भी आफ़त मचाये रहेंगे।

मैं बोली—तब क्या किया जाय ? अच्छे आदमी तो दुनिया में इने-गिने ही तो होते हैं। फिर आप क्यों इतना दुःखी हो गये ?

आप बोले—ग़ुस्सा क्यों न आये ? ये आख़िर ग़रीबों पर ही तो मँडरायेंगे।

मैं बोली—तो ग़रीब इन्हें क्यों नहीं परख लेते ?

आप बोले—वे सीधे होते हैं। वे काम कर सकते हैं, काम की क़ीमत नहीं जानते।

मैं बोली—तो फिर कैसे आख़िर वे इनके चंगुल में न फँसें। एक बात और है। आदमी अपना खुद मददगार है। अगर वह अपनी मदद नहीं कर सकता तो खुदा भी उसकी मदद नहीं कर सकता।

आप बोले—तब रोना ही क्यों पड़ता। यही बात है कि लोग तकलीफ़ भोग रहे हैं। यहाँ तो एक बड़े भारी डिक्टेटर की ज़रूरत है।

मैं बोली—बृटिश गवर्नमेंट से बड़ा डिक्टेटर कौन होगा ?

आप बोले—तुम नहीं जानतीं, यहाँ तो तुर्की के कमालपाशा की तरह का आदमी चाहिए। जब तक यहाँ कोई वैसा आदमी न पैदा होगा, तब तक तो मुझे शून्य ही मालूम पड़ता है। यहाँ जबर्दस्ती ही कुछ कराया जा सकता है, स्वेच्छा से नहीं।

मैं बोली—तब आप क्यों परेशान हैं ? काज़ी परेशान शहर की फ़िक्र में। कहाँ तो मज़ेदार बातें चल रही थीं और कहाँ यह आफ़त ? और फिर आप अपना काम तो करते ही हैं। दुनियाँ न करे, न करे।

आप बोले—मेरे अन्दर जितनी तड़पन पैदा होगी, उतना ही अच्छा है।

मैं बोली—आपको बल मिलता है और आपके द्वारा लोगों को मिलता है। पर मुझे क्या मिलता है ?

× × ×

कई कहानियाँ पढ़ी गईं। आपका भी भाषण हुआ। उस भाषण में उसी जगह की इसी परिस्थिति पर बहुत कुछ बोले। पर वह फटकार लोगों की खुशी को तो बढ़ाती जा रही थी। पर मुझे तो ऐसा लगा जैसे ये लोग अपनी गलती को समझ ही नहीं पा रहे हैं। और साथ-साथ यह भी है कि जैसा जहाँ का वातावरण होगा, वैसा ही वहाँ बनना भी चाहते हैं। मुझे तो उन लोगों की गल्तियाँ न मालूम हुईं। वे मजबूर हैं, वहाँ उस तरह का बनने के लिए जवानी की उम्र और पानी का रेला एक तरह का

होता है। जिधर को झुकाव होगा, उधर ही बह जायगा। उनके बदले में, बनानेवाले हों तो क्या देर लगे? उनका बनना बहुत आसान होता है। फिर हमारे यहाँ युवकों को तो एक ख़ास चीज़ सिखाई जाती है : विलासिता, क्योंकि इसमें विलासिता की तरफ़ ले जाने में उसे ज्यादा से ज्यादा फ़ायदा है। वहाँ से आने के बाद कई दिनों तक हम दोनों में इसी विषय पर चर्चा होती रही। उनके विचारों से मुझे ऐसा लगता था कि अगर उनके वश की बात होती तो शायद वे संसार का कायाकल्प कर देते। बराबर इस विषय पर बातें चलतीं। अब न वे हैं, और...मैं तो और भी वह नहीं हूँ। हाँ, ये बातें मेरी आँखों के सामने हुई हैं। ये बातें उनकी हैं। वे पाठकों के थे, इसलिए मैं इन्हें पाठकों को भेंट कर रही हूँ। मैं ख़ुद भी अपनी नहीं हूँ।

१९३४

कई रोज़ से सुबह का समय लोगों से मिलने में ही निकल जाता, रात को उठकर काम करते। एक दिन मैं बोली—रात को काम करना ठीक नहीं।

आप बोले—तब काम कब करूँ? दिन भर लोगों से मिलने से ही छुट्टी नहीं मिलती।

मैं बोली—आख़िर मिलने का कोई समय क्यों नहीं निर्धारित कर लेते? यह क्या कि जब कोई आये उससे आप गपशप करने लगे।

आप बोले—तो क्या करूँ?

मैं बोली—इसका प्रबन्ध तो आप ही कर सकते हैं।

आप बोले—वे बेचारे इतनी दूर से मिलने के लिए आते हैं और उनसे न मिला जाय तब भी तो नहीं अच्छा होता। यह कैसे सम्भव है कि मैं उनसे न मिलूँ।

मैं बोली—तो हर समय का यह झंझट ठीक नहीं। जो जब आया उसी से उलझ पड़े।

आप बोले—यह तो बड़े आदमियों के लिए है कि उनके मिलने का समय निर्धारित रहे।

मैं बोली—मैं बड़ा आदमी होने के लिए नहीं कहती हूँ, सब काम समय से हो जाने के लिए मैं कह रही हूँ।

आप बोले—यह ठीक है। पर यह बड़े आदमियों के लिए ही सम्भव है। जो मैं ख़ुद बुरा समझता हूँ वही करूँ। फिर वे बेचारे कहाँ जायँ? शुरू-शुरू में कुछ लिखना चाहते हैं। वे लोग बिना पतवार की नाव की तरह हैं। उन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए वे इतनी दूर से मेरे पास आते हैं। अगर मैं उनसे न बातें करूँ तो वे कहाँ जायँगे? फिर यह भी तो है कि कुछ दिनों में इन्हीं के हाथ तो साहित्य की बागडोर जावेगी। उनको ठीक-ठीक रास्ते पर ले जाना हम लोगों की ज़िम्मेदारी है। उस ज़िम्मेदारी का पालन ठीक-ठिकाने से न करूँ तो मेरा ही दोष होगा। तब हम उन्हें असाहित्यिक, कुसंस्कारी आदि कहने का अधिकार नहीं रखते। फिर जो गुण जिसे आता हो उसे सबको सिखाना चाहिए।

मैं बोली—सबको सिखाने का ठेका क्या आपने ले रखा है?

आप बोले—भाई तब क्या करूँ? सुबह घूमना भी ज़रूरी होता है। घूमकर आते ही नाश्ता करके काम करने अपने कमरे में बैठ जाता हूँ। ख़ुद भी लिखता-पढ़ता हूँ, साथ ही तुम्हारे बच्चों को भी पढ़ाता हूँ। उसके बाद फिर उठता हूँ, नहाता-धोता हूँ, खाना खाता हूँ। उसके बाद प्रेस जाता हूँ। प्रेस से आने के बाद एक घण्टे तक आकर बच्चों से बात करता हूँ। नहीं वे भी सब बिलल्ले हो जायँ। फिर उसी के साथ-साथ अपनी भी तो थकान मिट जाती है। उसके बाद मुंशी आ जाता है, उसे कुछ-न-कुछ बोलना पड़ता है। फिर नौ बजे उठकर खाना खाता हूँ। एक घण्टा ही बाक़ी बचता है। उतनी ही देर में चाहे जो कुछ पढ़ूँ-लिखूँ। उस पर सरकारी हुक्म है कि दस बजे सो जाओ। सरकारी हुक्म टाला भी जा सकता है पर तुम्हारा तो टाला भी नहीं जा सकता। अब तुम्हीं बताओ इसमें कितना समय मैं निकाल सकता हूँ। 'लीडर' तो मैं प्रेस में पढ़ता हूँ। मेरा तो एक-एक सिकण्ड बँटा हुआ है। मैं तो ईश्वर से मनाता रहता हूँ कि रात छोटी हुआ करे, दिन बड़ा।

मैं बोली—आप रात को भी तो काम करते हैं ?

आप बोले—उठता तो ज़रूर हूँ, पर तुम्हारा डर लगा रहता है कि कहीं तुम जग न पड़ो। भाई काम कब करूँ अगर रात को न जागूँ ?

मैं बोली—इससे तो यह बेहतर होता कि आप अकेले रहते। आपको शादी-ब्याह नहीं करना चाहिए था।

आप बोले—बला तो कुछ भी नहीं है। तुम हो ; घर-गृहस्थी की ओर से छुट्टी पा गया हूँ। पैसा कमाना मेरे लिए कठिन नहीं है। गृहस्थी की गुत्थियाँ मैं हर्गिज़ नहीं सुलझा सकता। मैं इस मानी में ख़ुश हूँ कि सब बला तुमने अपने सिर ले ली है।

मैं बोली—तब तो आप आराम से ही रहते। मैं डाँटने को तो न रहती। आप रात-दिन काम करते।

आप बोले—तुम्हारा ख़याल ग़लत है। तुम नहीं रहती हो तो मैं इतना काम नहीं कर पाता।

मैं बोली—तो क्या मुझे चिढ़ाने के लिए रात-रात भर जगकर काम करते हैं ?

आप बोले—अगर कोई खानेवाला न हो तो कमानेवाला गदहा है।

मैं बोली—क्यों ? तब तो आराम ही आराम रहता है।

आप बोले—नहीं जी, वह भी कोई आदमी है। वैसों का जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाता है।

मैं बोली—तब तो सबसे ज़्यादा आफ़त मेरे ऊपर है।

आप बोले—आफ़त की क्या बात है इसमें। तुम्हारी निगरानी ने ही मुझे इस तरह बना रखा है।

मैं बोली—लेखकों को बड़ी आफ़त रहती है।

आप बोले—तुम भी तो लेखिका बन रही हो। मना तो करता हूँ आराम से रहो। पर तुम कहाँ मानती हो।

मैं बोली—जब आप आराम नहीं करते तो मैं क्यों आराम से रहूँ ?

आप बोले—तुम्हारा ख़याल ग़लत है। मैं उसमें घुटता नहीं। मुझे उसमें आनन्द आता है। फिर अब तो तुम्हें भी थोड़ा-थोड़ा अनुभव होगा।

मैं बोली—रात-दिन काम करने को घुटना ही कहते हैं।

आप बोले—कोई ज़बर्दस्ती थोड़े ही मुझसे करवाता है। अब इसी से सोच लो। मुझसे जो मिलनेवाले आते हैं उनसे मेरा ही लाभ है उनका नहीं।

मैं बोली—तब तो बहुत ठीक है। लेकिन इतनी मेहरबानी किया कीजिये कि रात को जगा न कीजिए। रात के उठने से बीमारी की शंका मुझे हो आती है।

आप बोले—इसी तरह समझ लो। मैं भी तुम्हारी बीमारी से बहुत घबराता हूँ। तुम बीमार पड़ जाती हो तो मेरा भी सारा काम पिछड़ जाता है।

मैं बोली—मैं काम करने की वजह से कभी बीमार नहीं पड़ी।

आप बोले—साल में तुमको भी एक न एक लगा रहता है।

मैं बोली—कभी पड़ तो मैं नहीं जाती।

आप बोले—मैं ही कब पड़ जाता हूँ।

मुझसे अक्सर इस तरह अनेक विषयों पर उनसे बातें होतीं। मेरे ग़ुस्से का जवाब वे हँसी से देते। मैं आज उन बातों को सोचकर प्राण ग्रहण करती हूँ। पहले क्रोध आता था, आज दुःख होता है।

सन् १९३४, माह मई, काशी।

"हंस" और "जागरण" मासिक और साप्ताहिक दो पत्र निकलते थे, खर्चा बढ़ा हुआ था, बम्बई से फिल्म कम्पनी वालों ने बुलाया। एक मित्र चन्द्रभाल जौहरी से बातें हुईं, उन्होंने भी कहा कि आप जाइये। जब वहाँ नीचे दोनों ने तय किया, उसके बाद मेरे सामने प्रस्ताव आया। आप मुझसे बोले—चलो बम्बई तुमको सैर करा लाऊँ। मैंने कहा—कैसी सैर? आप बोले—फिल्म कम्पनीवाले मुझे बुला रहे हैं।

मैं बोली—फिल्म कम्पनीवाले बुला रहे हैं, यह ठीक है। पर वहाँ की

आबहवा अच्छी नहीं है, फिर आपका हाज़मा कमजोर, वहाँ के जलवायु में आप ठीक रह न सकेंगे।

आप बोले—आखिर और लोग भी तो रहते हैं।

मैं बोली—सबके रहने न रहने की क्या बात है, हर एक आदमी अपने अपने सुभीते से रहता है। मैं तो आपका वहाँ जाना अच्छा नहीं समझती।

आप बोले—तुम्हीं सोचो, बिना जाये काम भी तो नहीं चल सकता। यहाँ जो कुछ आमदनी होती है, अपने ख़र्च के लिये हो जाती है। अब यह "हंस" और "जागरण" कैसे चलें? यह भी तो तुम्हारे साथ दोनो बँधे हुए हैं।

मैं बोली—तो फिर इनके लिए भी बम्बई जाना मैं ठीक नहीं समझती।

आप बोले—अब जो इन हाथियों को गले से बाँधा है, तो क्या उनको चारा नहीं दोगी? आखिर इनको भी तो ज़िन्दा रखना है।

मैं बोली—आप जो भी काम करते हैं, जान की मुसीबत मोल ले लेते हैं।

'अरे साहब इन बातों का रोना तो पचासों बार हो चुका है, अब जब इनको बाँध लिया है, तो इनको चलाना ही होगा। और एक बात बताता हूँ, जो वहाँ जाने पर खास फायदा होगा वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो फ़ायदे नहीं हो रहे हैं, उससे कहीं ज्यादा फिल्म दिखलाकर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उनसे लाभ उठा सकेंगे? फिल्म से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं।'

मैं बोली—लोग फ़ायदा उठा सकते हैं, उससे मेरा क्या उपकार होगा?

आप बोले—यही तो तुम्हारी ग़लती है। लोगों के उपकार के लिए मैं थोड़े ही लिखता हूँ? अपनी आत्मा की शान्ति के लिये जो कुछ लिखता हूँ, उसको तादाद में जितने ही लोग ज़्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें उतनी ही मुझे ज़्यादा शान्ति मिलेगी। और उसके बाद, दूसरा फ़ायदा यह होगा कि "हंस" और "जागरण" के चलाने के लिये मैं ज़्यादा रुपया दे सकूँगा। ९ हज़ार साल वह देने का वादा करते हैं, और इसके साथ, यह भी है कि

बम्बई में एक-डेढ़ साल रहने के बाद, वह मुझे ९-१० हज़ार घर बैठे देंगे। मैं घर पर बैठ करके उनके लिए यहाँ से कहानियाँ भेजता रहूँगा। बतलाओ साल-डेढ़-साल बम्बई में रहना क्या बुरा है? हमेशा के लिए घर बैठे काम मिल जाय तो क्या बुरा है?

मैंने कहा कि अगर ऐसा है तो चलिए।

आप बोले—अब मैं ज़्यादा दिन थोड़े ही काम कर सकूँगा? काम करने लायक यह ५-६ साल ही और हैं।

मैं बोली—तब क्या आप इतनी जल्दी पेन्शन लेकर बैठेंगे?

'अरे एक चरखा छोड़ूँगा, तो दूसरा चरखा लूँगा। यह पढ़ने-लिखने का काम छोड़कर देहातों में भी तो कुछ काम करने की मेरी इच्छा है।'

मैं बोली—जब आप देहात काम करने जायँगे, तब यह चरखा कहाँ जायगा?

आप बोले—तब तक धुन्नू जो कुछ होना होगा सो हो जायगा, उसी को सब काम सौंप करके हम और तुम दोनों देहात में किसानों का काम करेंगे। क्योंकि जो हालत आज-कल काश्तकारों की है, जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा तब तक उनको सुधारना बहुत मुश्किल है। ज़रूरत है कि ख़ुद उनके बीच में रह करके उनमें काम करे। जो काम उनके बीच में रह करके साल-दो-साल में हो सकता है वह लम्बी-लम्बी स्पीचों से काफ़ी दिनों में भी होना कठिन है।

मैं बोली—अगर आप ही काम करेंगे, तो कितने काश्तकारों का सुधार कर देंगे, और कितनों का उपकार हो जायगा?

आप बोले—मैं कई बार कह चुका कि कोई काम किसी के उपकार के लिए नहीं किया जाता है। जो काम आदमी करता है, अपनी आत्मा की शान्ति के लिए।

मैं बोली—मान लो धुन्नू से जो आशा रखते हो, वह न करे, तो आप उसके साथ क्या कर सकते हैं?

आप बोले—मैं उसको कोई अपना बोझ थोड़ा ही दे रहा हूँ, आख़िर वह काम करने के लायक होगा तो काम तो कहीं करेगा ही। तो बाहर की नौकरी से घर का काम लाख दरजे अच्छा होता है। फिर बाहर काम रखा ही कहाँ है। लोग मारे-मारे घूम रहे हैं।

मैं बोली—कुछ भी हो, मान लो वह यह खचड़ा न लेना चाहे तो पहले से किसी से भी आशा रखना कार है। जैसे पहले आप अपने भाई को समझते थे, कि बाद को मेरा मददगार होगा। तो उन्होंने क्या मदद की ? और नहीं तो पढ़-लिखकर जैसे ही नौकर हुए, और शादी हुई; शादी तक आपके साथ रहे, शादी हुई, और अलग हुये। अब ऐसा मालूम होता है, जैसे उनसे कोई नाता ही नहीं है।

आप बोले—रानी ! भाई तो भाई था, उस पर सौतेला।

मैं बोली—तो क्या आपने उनको धुन्नू से कम प्यार किया था ? तो फिर धुन्नू से कैसे आशा रखते हैं ?

आप बोले—भाई के साथ दया का प्यार था, लड़के के साथ ख़ून का प्यार है। भाई दूसरे का लड़का था, लड़का अपने ही ख़ून से है। अपने बच्चों के साथ मा-बाप हमेशा ही जीवित रहते हैं। आशा तो यही की जाती है कि जैसे हम तुम हैं, उसी तरह हमारे बच्चे भी होंगे। फिर सोच लो, हमारा बोझ ही क्या उनके सर पर है। एक तरह से फिर भी उनके साथ हमारा उपकार है।

मैं बोली—मेरे ख़याल में तो अब किसी से आशा करना बेकार है।

आप बोले—तो मैं कहीं दूसरी जगह थोड़े ही जाऊँगा, अपने लमही गाँव में अपना घर बनवा लिया है, उसी में हम तुम रहेंगे। और कभी-कभी शहर आकर के इनका काम भी देख जाया करेंगे। बन्नू है, यह जब तक चाहेगा पढ़ेगा। और फिर तुम्हारे साथ बोझ ही कौन भारी है। वह भी आकर, दोनों भाई मिलकर काम करेंगे, हम भी जो कुछ लिखा करेंगे, इन लोगों के पास भेज दिया करेंगे। अब बतलाओ, तुमको इसमें क्या ऐतराज है ?

मैं बोली—अपने काम की जिम्मेवारी दूसरे के सर देना, मैं उचित नहीं समझती। बहुत मुमकिन है, अपने ही बच्चे समझने लगें, कि हम इनको कमा कर देते हैं।

आप बोले—नाम सब मैं अपने ही रक्खूँगा जिसमें इनको कहने का यह हक़ ही न होगा। फिर मैं यह भी आशा नहीं करता हूँ कि मेरे लड़के इतने नालायक हों। जब यह नालायक़ बनेंगे तो मैं इनके कान गरम न करूँगा? मैं यहाँ तक समझता हूँ कि मैं और तुम जंगल में भी रहेंगे, तो भूखे वहाँ भी नहीं रहेंगे, हमारे लोगों के कर्म इतने बुरे नहीं हैं।

मैं बोली—तब आपको बम्बई कब जाना है?

वह बोले—इसी पहली जून को हमको पहुँच जाना चाहिए।

मैं बोली—अभी तो हमें इलाहाबाद में दो शादियों में जाना है।

आप बोले—तो मैं पहले अकेला जाऊँगा, जब तुमको शादियों से छुट्टी मिल जायगी तो तुमको भी फिर ले जाऊँगा।

'तो बच्चे भी बम्बई पढ़ेंगे?' मैं बोली।

'मैं इस विषय में कुछ कह नहीं सकता—वह बोले। वहाँ जाने पर मालूम होगा।'

मैं बोली—तो क्या आप सोचते हैं कि बच्चों को यहाँ छोड़कर मैं चलूँगी?

आप बोले—तो भाई, मैं कहता हूँ न, कि वहाँ जाने पर ही सब मालूम होगा, कि क्या करना होगा।

उसके बाद जाने की तैयारी होने लगी। जब वहाँ जाने को तैयार हुए तो रुपए नदारद। जो रुपए पास में थे भी, वह बैंक में थे और साल भर की मियाद पर थे, क्योंकि बैंक से १५००) रुपए क़र्ज भी ले चुके थे। अब रुपए कहाँ से आयें। प्रेस मैनेजर से पूछा—प्रेस के एकाउन्ट में रुपए हैं?

मैनेजर—एकाउन्ट में रुपए नहीं हैं।

मेरे पास एक मित्र के रुपए रक्खे हुए थे, अमानत के रूप में। आप बोले—आख़िर वह रुपये तुम्हारे पास रक्खे हुए हैं उसमें से २००)

निकाल लो। उनसे कह देना, और इसी महीने के बाद रुपए वापस कर दूँगा, तब उनको दे देना।

मैं बोली—मेरी हिम्मत नहीं, कि किसी की अमानत से एक पैसा भी निकालूँ, क्योंकि मैं जाते समय उनके रुपए उनको देती जाऊँगी।

आप बोले—उसमें कहने की क्या बात है, यही कह देना, २००) लिया है, अपने खर्च में, इसी महीने के बाद दे देंगे। अभी कोई उनको जरूरत भी नहीं है।

मैं बोली—मैं कुछ भी नहीं जानती और न एक पाई उसमें से छू सकती हूँ। अपने मैनेजर से पूछिये, अगर वह १५ दिन के बाद शादियों में रुपया देने का वादा करें, तो मेरे पास १००) है वह दे सकती हूँ। आप इन रुपयों के होने की बात सुनकर बोले—यह रुपये तुम्हारे पास कहाँ थे।

मैंने कहा—घर में थे, और कहाँ थे।

आप बोले—यह बड़े मौके से तुम्हारे रुपए निकले। आज मैं तीन-चार दिन से रुपए के लिए परेशान था, सोचता था, किससे उधार मागूँ। किसी से माँगते भी तो नहीं बनता।

मैं बोली—जैसे आज मुझसे कहने लगे, पहले कहा होता, तो मैं पहले ही इस उलझन को हटा देती।

आप बोले—मैं डरता था, सारा क्रोध तुम "हंस" और "जागरण" पर ही उतारोगी।

मैं बोली—आपके "हंस" और "जागरण" की गोया मैं सौतेली मा हूँ।

आप बोले—क्या करूँ, मैं भी तो अपने सिर बेहूदे से बेहूदा रोग पाल कर, हमेशा से जो पालने की आदत है, उसमें तुमको भी लेकर पीसता ही तो रहता हूँ। रोग पालता हूँ मैं, रोग कहूँ या शौक़ कहूँ, करता हूँ मैं, मत्थे जाती है तुम्हारे। तुम्हें भी तो हमेशा से इसी परेशानी में डाले रहता हूँ, अब मैं हूँ या मेरी जगह पर कोई दूसरा हो। हमने तो काम किया, और काम का जिम्मा भी लिया, और आज एक टका भी पास में नहीं है; और

तुम अपने पास से फिर भी १००) देने को तैयार हो। इसके लिए तुमने कम से कम १० महीने तो तपस्या की होगी, तब जाकर यह १००) जोड़ पाई होगी। कौन तुमको हम ज्यादा रुपया दिये देते हैं। मगर फिर भी तुमने अपने पास १००) बचा ही लिए। मैनेजर के हाथ से करीब ७००) महीने में खर्च होते हैं। मगर उसके एकाउण्ट में कुछ भी नहीं, तुम्हारे हाथ से १५०) खर्च होते हैं वहाँ १००) तुम निकाल सकती हो। तो ख़र्च करने में तुम कुशल हो या हम ?

मैं बोली—अजी साहब, हमारे पास ज्यादा आये होंगे, तभी निकाल सकी हूँ। मैं तपस्या करनेवाली जीव नहीं।

बीस रुपए उनकी जाने की तैयारी में ख़र्च हुए, अस्सी रुपए उनके साथ में दे दिये। जिस दिन उन्हें बम्बई जाना था, उस दिन रात भर जागते ही रहे, क्योंकि सुबह की चार बजे की ट्रेन पकड़नी थी। जाना दूर था, परेशानी तो कई दिन से थी, मुझे जो परेशानी थी वह तो थी ही, मुझसे ज्यादा वह परेशान थे। बार-बार झुँझलाते थे, और कहते थे कि कहाँ से यह शादियाँ भी तुम्हारे सर पड़ीं। अभी साथ-साथ मय बच्चों के चलते।

मैं बोली—अभी वहाँ मकान भी तो ठीक नहीं है, कहाँ साथ-साथ ले चलते।

आप बोले—चलना होता तो वहाँ कई मित्र हैं, दो तीन दिन किसी के यहाँ भी ठहर सकते थे। किसी के मकान में ठहर जाते, और उसी बीच में मकान आदि सब ठीक हो सकता था। यहाँ अकेली तुम मय बच्चों के रहोगी, मैं वहाँ अकेला रहूँगा, क्या होगा मेरी समझ में नहीं आता। आराम से तो पड़ा ही था। इन लोगों ने मुझे बुला ही लिया। कम से कम इन सब झंझटों से बरी तो थे।

मैं बोली—तो यह रोग अपने आप लिया गया है, या किसी दूसरे ने पैदा किया है ? मैं तो आपसे मना कर रही थी, और आप माने नहीं।

आप बोले—मानता तो बहुत कुछ, मगर काम भी चले तब न।

काम भी तो नहीं चलता था। मजबूरी थी। मजबूरी भी तो कोई बला है।

मैं बोली—जब मना करती हूँ तब मानते भी तो नहीं हैं, यह सब मजबूरियाँ आपकी ही बनाई हुई हैं।

आप बड़े सरल भाव से बोले—अब बताओ जब बन गईं, तो मैं क्या करूँ?

मैं बोली—तो अब करना क्या है, अब तो सुबह की गाड़ी से जाना है। सुबह ताँगेवाले ने आप ही आवाज दी, जब आप ताँगे में बैठने लगे, और मैंने उनके पैर छुये, मेरा गला भर आया।

आप बोले—जैसे ही तुम्हारे यहाँ की शादियाँ ख़तम हों वैसे ही मुझे पत्र लिखना, जिससे मैं तुम लोगों को जल्दी से जल्दी लिवा ले जाऊँ।

वह तो चले गये, मैं ऊपर आई, एक घण्टे तक मैं रोती रही। वह महीना-बीस दिन की जुदाई थी, पत्र-व्यवहार तो हमेशा ही होता रहता था। तब वह जुदाई दुखद थी, और अब हमेशा की जो जुदाई हो गई, उसको बड़ी आसानी से, और आराम से बैठी सोच रही हूँ।

उनके पहुँचने का पत्र ७ जून को तहसील सोराम में मिला, जहाँ कि मैं शादी में गई थी।

वह ४ जून सन् २४ का था, लिखा था :

प्रिय रानी, शुभ प्यार!

मैं तुमसे विदा होकर बम्बई ख़ैरियत से पहुँच गया हूँ। यहाँ स्टुडिओ का काम भी देखना शुरू कर दिया है। तुम भी मय बच्चों के ग़ालबन सोराम तो ख़ैरियत से पहुँच ही गई होगी। ग़ालबन, बेटी को लेने भी कोई न कोई गया होगा। अब तुम्हारे पास बेटी और ज्ञानू भी पहुँच जायगा। तुम्हारे पास तो सभी होंगे, भाई-बन्द, लड़के-लड़की, सभी हैं, और मुझे तो तुम लोगों के बिना इतनी बड़ी बम्बई होते हुए भी सूनी ही मालूम होती है। यही बार-बार इच्छा होती है कि छोड़-छाड़कर भाग खड़ा होऊँ। बार-बार यह झुँझलाहट होती है, कहाँ से कहाँ यह बला भी ले ली। मैंने भी

अभी मकान नहीं लिया है, अभी मकान ले लूँगा तो वह सूना घर मुझे और खाने दौड़ेगा। इस ख़याल से मैं मकान के लिए सोचता ही नहीं हूँ। मकान तो उसी समय लूँगा, जब तुम्हारा पत्र आने के लिए आ जायगा। और मकान ही ले करके सीधा तुम्हारे पास लेने को आऊँगा। मेरी तरफ से बच्चों को प्यार कर लेना, अपनी बहनजी को मेरा सलाम कहना। और लोगों से यथायोग्य। मैं आराम से हूँ, तुम किसी बात की चिन्ता न करना।

तुम्हारा—

धनपतराय

दूसरा पत्र १९ जून लिखा हुआ मिला—

प्रिय रानी !

मैं यहाँ ख़ैरियत से हूँ। तुम लिखती हो कि २२ जून को शादी है, और दूसरी बहन के यहाँ जो शादी है वह २८ जून को है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह शादियाँ उन लोगों के घर हों, तो उसका तावान अकेला मैं दूँ। मैं समझता हूँ कि तुम जौलाई के पहले आने का शायद नाम भी न लोगी। अच्छा बेटी और ज्ञानू आ गया है, यह सुनकर मुझे खुशी हुई। तुम तो इन सबों के साथ खुश हो, इधर मैं सोचता हूँ कि एक डेढ़ महीने कैसे बीतेंगे। इसे समझ ही नहीं पाता हूँ, आख़िर काम ही करूँ तो कितना करूँ। आख़िर बैल तो नहीं हूँ, फिर आदमी के लिए मनोरंजन भी तो कोई चीज़ होती है। मेरा मनोरंजन तो सबसे अधिक घर पर बाल-बच्चों से ही हो सकता है। मेरे लिए दूसरा कोई मनोरंजन ही नहीं है। खाना भी खाने बैठता हूँ तब भी अच्छा नहीं मालूम होता, क्योंकि यहाँ साहबी ठाठ-बाट है, और साहब बनने से मेरी तबियत घबराती है। वहाँ होता, ज्ञानू आया था, उसको खिलाता, अब तो वह खूब साफ़ बोलता होगा। अच्छा बन्नू और धुन्नू का क्या हाल है। बेटी तो अच्छी है न। इन सबों को मेरी तरफ से प्यार कर लेना। यह सब तो खुश होंगे, क्योंकि शादी है। मेरी तो यह समझ में नहीं आता कि जो लोग घर-बार से अलग रहते होंगे, वह कैसे रहते हैं।

मुझे तो यह महीना डेढ़ महीना याद करके मेरी नानी मरती है कि किस तरह यह दिन कटेंगे। क्या करूँ किसी तरह से काटना होगा। तुम्हारे पास मैनेजर ने रुपये भेजे कि नहीं, लिखना। और हाल-चाल बाद को लिखूँगा। तुम अपनी तबियत का हाल लिखना।

तुम्हारा—

धनपतराय

तीसरा पत्र, ता० २४ जून सन्' ३४:

प्रिय रानी !

मैं ख़ैरियत से हूँ, आशा है कि तुम सब लोगों के साथ ख़ैरियत से होगी। अब तो दो ही तीन दिन में तुम्हारे यहाँ शादी होगी। हाँ दूसरी शादी जो तुम्हारे यहाँ होनेवाली है, उसमें तो शायद अभी देर है। आज मैंने मकान भी लिया है, शायद मैं कल अपने मकान में आ जाऊँगा। पचास रुपये महीने का मकान लिया है, एक नौकर १२) और खुराक पर रक्खा है, वह सब काम कर लेता है। मेरा ख्याल है कि पहली जौलाई को तुम्हारे यहाँ पहुँच जाऊँगा। तुम्हारे यहाँ तो काफ़ी चहल-पहल होगी। और धुन्नू तो फेल हो गया। ख़ैर कोई अफ़सोस की बात नहीं है, फेल, पास तो लगा ही रहता है, फिर भी अपने बच्चों का फेल होना अच्छा नहीं मालूम होता। रंजीदा हो तो समझा देना, गलती उसी की है। यह एक पत्र उसके लिए भी लिख रहा हूँ उसे दे देना। अच्छा बन्नो और बेटी आदि को प्यार कहना। मैंने उस पत्र में पूछा था कि ज्ञानू बोलता है या नहीं। तुमने कुछ लिखा नहीं, अबके लिखना। अपनी बहनजी और लोगों को मेरा सलाम कहना, बच्चों को प्यार।

तुम्हारा—

धनपतराय

१ जौलाई सन्' ३४:

प्रिय रानी !

मैं ख़ैरियत से हूँ, आशा करता हूँ कि तुम भी ख़ैरियत से होगी। मुझे

उम्मीद है कि मैं १५ जौलाई को तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा । बेटी को अभी बिदा न करना, मैं उसको अपने साथ लेता आऊँगा। बच्चों को पढ़ने के लिए मेरे ख़्याल से प्रयाग में अच्छा होगा। बच्चों का वहीं नाम लिखा देना, वह दोनों आराम से वहाँ पढ़ेंगे, तुमको और बेटी को यहाँ ले आऊँगा। बच्चों के यहाँ नाम लिखाने से मैं यहाँ बँध जाऊँगा, और मैं कहीं बँधना नहीं चाहता। अभी मैं यहाँ रहने का निश्चय नहीं कर सका हूँ। इसलिए यहाँ लड़कों का नाम लिखाना ठीक नहीं होगा। उनका वहीं रहना ज़्यादा ठीक है। बाद को उनकी पढ़ाई में गड़बड़ी हो जाने का डर है। तुम अपने खत में यह लिखोगी कि मैं खुद रह करके बच्चों को यहीं पढ़ाऊँ। उसके लिए मैं यह लिखता हूँ कि बच्चों को सबसे ज्यादा रुपयों की ख़्वाहिश होती है, वह मैं उनको सौ रुपया महीना देता रहूँगा। वह आराम से वहाँ रहेंगे। उनको ज़रूरत न मेरी है न तुम्हारी। अब इसके जवाब में तुम लिखोगी, कि तुम्हीं मुझे क्यों चाहते हो। अब इसके उत्तर में मैं लिखता हूँ कि मैं खुद ही नहीं जानता कि तुम्हें क्यों चाहता हूँ। मगर चाहता हूँ, यह जानता हूँ। बल्कि यह कहता हूँ कि उपासक हूँ, तुम्हारे बिना मुझे अकेले रहना दूभर हो रहा है। तुम दोनों बच्चों को इलाहाबाद में ९ तारीख को नाम लिखा दो। और हाल बाद को लिखूँगा।

तुम्हारा—
धनपतराय

१५ जौलाई सन् १९३४ :

प्रिय रानी ! प्यार।

मैं अच्छा हूँ, आशा करता हूँ कि तुम लोग भी सब अच्छे होगे। बच्चों का नाम कायस्थ पाठशाला में लिखवा दिया, यह ठीक है। उनका बोर्डिंग हाउस का भी तो इन्तजाम हो गया। धुन्नू का पत्र आया था। तुमने जो रुपए उसको दिए थे कम पड़ गये, आज मैंने उसको १००) भेजे हैं।

मैं शायद २० तक आऊँ, और तुम लोगों को लेने ही आऊँगा। उस समय तक तुम तैयार रहना। बेटी और बिन्नू तो शायद तुम्हारे ही पास होंगे, इन लोगों को मेरा प्यार कहना। और सब बातें तो जब आऊँगा, तब बताऊँगा। यह पत्र जब तक तुम्हारे पास पहुँचेगा, तब तक मैं भी शायद तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा।

तुम्हारा—

धनपतराय

आप २५ जुलाई को काशी आये। पानी खूब जोरों से बरस रहा था। सुबह ४ बजे की ट्रेन से उतरे थे। बुरी तरह भीग गये थे। मैंने नमस्कार करके पूछा--अच्छा आप इस बुरी तरह भीग कैसे गए? आप हँसकर बोले— तुम समझती थीं कि तुम जो कोठे पर सो रही थी, सो हर जगह कोठे ही बने हुए हैं, मैं स्टेशन से घर तक आने में भींगा हूँ। और पानी कैसा तेज़ है, कई बार तुमको आवाज़ देने पर तो तुम सुन पाई हो।

मैं बोली—अच्छा तो आप कपड़े बदल डालिए, कहीं ज़ुकाम न हो जाय।

मैं खुद ही उनका होलडाल खोलने लगी। कहने लगे—मैं निकाले लेता हूँ, तुम से नहीं खुलेगा, क्यों परेशान होती हो। कपड़े बदले। कुछ दुबले हो गए थे।

मैं बोली—तबियत कैसी है?

आप बोले—अच्छी है, अच्छा तो हूँ। तुम कहो, तुम्हारे यहाँ क्या हालचाल है।

मैं बोली—लड़कों का नाम तो लिखा ही चुकी हूँ, जो तुमको मालूम ही है। बेटी, मैं, और ज्ञानू यहाँ हैं। आप कै दिन की छुट्टी लेकर आये हैं।

आप बोले—चार-पाँच दिन की लेकर आया हूँ।

मैं बोली—आप को बम्बई कैसा लगा?

आप बोले—बम्बई कैसा लगा, अच्छा है।

मैं बोली—अच्छा वह कम्पनीवाले कैसे हैं ?

आप बोले—कैसा बताऊँ, फिल्म संसार दूसरा ही संसार है। वहाँ तो साहब ही साहब हैं। मेरे साथ तो उन लोगों का व्यवहार बहुत अच्छा है। मैंने मकान भी ले लिया है, जो तुमको लिखा था, अब चलो, तुम भी चलो तो कुछ अच्छा मालूम हो। जैसे बनारस में था, घर से प्रेस जाता था, और घर पर बैठकर काम करता था, उसी तरह स्टूडिओ जाता हूँ, और घर पर बैठकर काम करता हूँ। बल्कि यहाँ तो सबके साथ था, और ठीक से था, जी नहीं घबराता था, वहाँ तो रात-दिन काम ही काम है। बम्बई तो उन लोगों के लिए ज़्यादा दिलचस्प हो सकता है, जो सैर तमाशा के आदी हों। मेरे लिए, जैसे मियाँ की दौड़ मसजिद तक, स्टूडिओ जाना और घर पर बैठ कर काम करना ; मेरी तबियत तो वहाँ घबराती थी।

मैं बोली—बच्चों का नाम लिखाने के लिए आपने ठीक ही नहीं किया।

आप बोले—कैसे ठीक करता, बच्चों का नाम लिखाने से मैं वहाँ बँध जो जाता, और न बँधता तो लड़कों की पढ़ाई चौपट होती। अब बच्चे यहाँ पढ़ते हैं, हम तुम वहाँ रहेंगे। जब हमारी इच्छा होगी, छोड़-छाड़कर अपने अड्डे पर फिर बैठ जायेंगे। वहाँ से आने में कोई झंझट नहीं होगी।

दूसरे दिन इलाहाबाद से दोनों बच्चे भी आ गए, और काफी चहल-पहल हो गई। मगर वह चहल-पहल स्थायी न थी। बच्चों के दिल में यह ख्याल था ही, कि अम्मा और बाबूजी दोनों चले जायँगे। हम लोगों के दिल में कोई ख़ुशी न थी। क्योंकि हमको यह चिन्ता थी कि अब बच्चे छूट जायेंगे। आपने घर में चारों तरफ देखना शुरू किया। बोले—अच्छा, भूकम्प में तुम्हारे घर का भी काफी नुकसान हुआ है ?

मैं बोली—१५ दिन से मजूरे लगा रखे हैं, तब जाकर मरम्मत हो पाई है।

आप बोले—बहुत से लोगों के मकान गिर गए, तुम्हारा फट ही गया तो क्या नुकसान हुआ।

मैं बोली--तो मैं कुछ कहती थोड़े हूँ, ख़ैर जो हुआ, सब अच्छा ही होता है।

उसके तीसरे दिन हम लोग बम्बई जाने के लिए तैयार हुए, साथ में दोनों लड़के थे, और बेटी, ज्ञानू, हम दोनों थे।

जब इलाहाबाद के स्टेशन पर पहुँचे, मैंने खाना खोला, और सोचा कि बच्चों को कुछ खाना खिला दूँ। जैसे ही दोनो बच्चों को खाना खिलाने के लिए बिठाला, वैसे ही गाड़ी ने सीटी दी। मैंने खाना समेट करके, एक रूमाल में बाँध दिया, छोटे बच्चे बन्नू से कहा कि बेटे! इसको अपने साथ में लेते जाओ, बोर्डिङ्गहाउस में पहुँच कर दोनों भाई खा लेना, क्योंकि रात के दस बजे वहाँ खाना थोड़े ही मिलेगा, और पहुँचते-पहुँचते ग्यारह बज जायँगे।

बन्नू हाथ का खाना उठा करके, पैर छूते समय रो उठा क्योंकि वह तेरह साल का बच्चा था। पहली बार तो हम लोगों से जुदा हो रहा था, और सबसे छोटा बच्चा, रोना तो मुझे भी आता, मगर मैं अपनी तबियत कड़ी किए हुए थी, कि बच्चों के सामने कैसे रोऊँ? यह सब परेशान हो जायँगे। ख़ैर बन्नू तो हम तीनों के पैर छूता हुआ, रोता हुआ गाड़ी से उतर गया। आपने उसको समझाया—देखो रोना मत, आराम से दोनों भाई रहना, दोनों भाई साथ-साथ पत्र लिखना, और फिर अब तुम दशहरे पर आना, आराम से रहना।

ख़ैर बन्नू तो गाड़ी से उतर गया, मगर धुन्नू खिड़की छोड़ता ही न था।

आप बोले—खिड़की छोड़ दो, जाओ तुम रो क्यों कर रहे हो? तभी तीसरी बार गाड़ी ने फिर सीटी दी।

आप बोले—भाई गाड़ी छोड़ दे, क्यों देर कर रहा है। धुन्नू ने नीचे से ही सलाम किया और चला गया।

मैं बोली—पानी तो रखा ही है, आप खाना खा लीजिए।

आप बोले—मेरी खाने की तबियत नहीं है। ज्ञानू सो गया क्या?

मैं बोली—कहीं तो नहीं सो गया, मेरी गोदी में बैठा तो है।

कहने लगे कि इसको मुझे दे दो। उसको गोदी में ले लिया, ऐस मालूम होता था कि दोनों बच्चों की कमी उस बच्चे से पूरा करना चाह हैं। उसको रास्ते भर अपने ही पास रखे रहे, चाय और दूध लेकर बीच बीच में उसको पिलाते जाते थे। क्योंकि एक ही डिब्बे में हम सब लोग बैठे थे। बेटी शरमाती थी। बच्चे को बराबर अपने ही पास रखा, जब त घर नहीं पहुँच गए। और वह भी, मैं या बेटी उसे ले लेती तो रोता था हम लोगों ने बनारस में खाना खाये-खाये दूसरे दिन दो बजे इटारसी खाना खाया। तीसरे दिन सुबह दादर पहुँचे, मगर इस तीन दिन के सफ़ में कोई ख़ुश न था। और ख़ुश कैसे होता? यह तो वही लोग अनुमा कर सकते हैं, जिन्हें पहली बार चार-छ महीने के लिए अपने बच्चों से दू होना हुआ होगा। मैं थी मा, वह पिता थे। और वह बड़ी बहन थी। ह तीन आदमी एक जगह जा रहे थे। वह दोनों बच्चे अलग, जहाँ दो में से एक भी साथ न थे, न बाप, न मा। ऐसी हालत में हम लोगों का दुख होना लाज़मी था।

जब हम अपने घर दादर में चार बजे सुबह पहुँचे, पानी उस समय भी तेज़ी से बरस रहा था। पानी से बचने के लिए, विक्टोरिया को भ चारों तरफ़ से बन्द कर लिया था। इस लिए उस समय मैंने कुछ देखा न था, कि हम कहाँ जा रहे हैं।

१६३५

दोनों लड़के पढ़ने के लिए प्रयाग जा रहे थे। मैं और मेरी जेठानी तथा आप लड़कों को पहुँचाने बाहर निकले। बन्नू जाते समय दुःखी होकर नमस्कार करने लगा। धुन्नू अपना धीरे से गाड़ी पर बैठ कर चलने के लिए तैयार हो गया। जब वह चला गया तो बोले—धुन्नू बड़ा बदतमीज़ है। न यह किसी की इज्ज़त करता है न मोह।

मैंने कहा—हुआ क्या?

बोले—तुमने देखा नहीं ? हम तीनों को नमस्कार तक नहीं किया। जैसे कोई नाता ही नहीं हम लोगों से।

मैं बोली—कालेज में पढ़ रहा है न।

आपने कहा—नहीं जी अंग्रेजों में यह बात नहीं है। तुम ग़लती कर रही हो। आज कोई अंग्रेज लड़का अपने माँ-बाप को छोड़ता होता तो इस तरह थोड़े ही चला जाता। वह सबको बारी-बारी से प्यार करता। उनके यहाँ बाप का चुम्बन करना बहुत अच्छा समझा जाता है। हम लोग उन्हें जैसा हृदयहीन समझते हैं वस्तुतः वे लोग वैसे होते नहीं। हाँ नालायकों की कमी वहाँ भी नहीं है।

मैं बोली—आख़िर लड़का ही तो है।

बोले—जाने देने की बात मैं नहीं कर रहा हूँ। मुझे यह बुरा लगता है कि आदमी अपनी ड्यूटी से क्यों अलग होता है ? मैं यह थोड़े ही कहता हूँ कि इससे कुछ हो गया। हाँ, इतना जरूर हुआ, हमारे अन्दर का प्यार उसने ठुकरा दिया।

मैं बोली—नुकसान क्या हुआ ?

आप बोले—प्रत्यक्षतः शायद नुकसान न हुआ हो, पर स्नेह पर धक्का लगा।

मैं बोली—ख़ैर।

बोले—सबसे ज्यादा भाग्यवान् आदमी वह है जिसे सब कोई प्यार करे। प्यार के आगे दुनिया की सारी चीजें फीकी पड़ जाती हैं।

मैं बोली—ख़ुद समझ आ जायगी।

आप बोले—अरे ठीक तो हो ही जायगा। मैं तो कह रहा हूँ प्रेम के बदले में प्रेम मिलना चाहिये। अगर लड़के अपने से बड़ों का पैर छूते हैं, तो उस समय बड़ों की शुभ कामनाएँ उन्हें मिलती हैं। वे ही शुभ-कामनाएँ आदमी को आदमी बना देती हैं।

मैं बोली—तो क्या ये लोग जानवर हैं ?

बोले—जानवर नहीं हैं; फिर भी जब इनका दिल इन भावनाओं से खाली है तो जानवर ही समझो।

मैं बोली—जाने दीजिये।

बोले—सो तो हुई है। यों ही कह दिया।

मेरी समझ में नहीं आता कि उस कलाकार की दृष्टि कितनी सूक्ष्म थी। जो आदमी सब विषयों का ज्ञान रखता हो और सब पर दृष्टि रखता हो उसके विषय में एकतरफा डिग्री नहीं दी जा सकती। जितनी बातें हुईं सब देखने में मामूली हैं; पर इन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर बड़ी तत्त्व की लगती हैं।

अपने घर पर पहुँचने के बाद, ग्यारह बजे खाना खाकर आप स्टूडियो जाने के लिये जैसे ही तैयार हुये, वैसे ही पड़ोस के एक गुजराती सज्जन जिनके बूढ़ी मा थी, बोले—बाबूजी, सबको लिवा लाये?

'हाँ लिवा लाया, सब था ही कौन? हमारी लड़की आई है, और वह आई हैं। बच्चों को इलाहाबाद पढ़ने के लिए छोड़ आये हैं।'

'आइए! आइए!! हमारे घर पर।'

'अब हम तो दफ्तर जा रहे हैं।' मुझसे बोले—देखो जी! यह माँजी तुम्हारी बहुत याद किया करती थीं।

मैंने उनको बुलाया, और आप दफ्तर चले गये। हमसे उनसे बहुत देर तक बातें होती रहीं, शाम को जब वह ४ बजे स्टूडियो से लौटे, तो देखती हूँ भीगे-भागे, साथ में दो चारपाई लिवाये चले आ रहे हैं।

मैं बोली—आप फिर भी भीगते हुए आ रहे हैं, कौन ऐसी चारपाई की जल्दी थी।

आप हँस कर बोले—यह क्यों नहीं पूछती हो कि तुम्हारा छाता क्या हुआ?

मैं बोली—वाकई में छाता कहाँ गया?

आप बोले—मुझे जल्दी थी कि चारपाई भी साथ में लेता चलूँ, उसमें जल्दी में छाता दफ्तर ही में भूल गया।

मैं बोली—ऐसी जल्दी क्या थी, कि पानी बरस रहा है, और आदमी छतरी भूल आये। यह तो कोई तुक नहीं है।

आप हँसकर बोले—तुक क्यों नहीं है। दो महीने अकेले बम्बई में रहते-रहते, जो आदमी घबरा गया हो, उसके घर में अगर बीबी-बच्चे आ जाएँगे तो उसको खुशी नहीं होगी ? उसी खुशी में भूल हो गई है। और घरबार का इन्तजाम भी करना था, चारपाई आप लोगों के लिए ही तो लेने गया था।

मैं बोली—यह तो अच्छी खुशी है कि, तावान के ऊपर तावान पड़े, फिर भी कहें खुशी है।

'तुम तावान पर तावान कहती हो, यहाँ शादियों में हजारों के वारे-न्यारे लोग करते रहते हैं। आतिशबाज़ी और राग-रंग में, और जिसमें उनको मिलता क्या है ? एक बीबी। फिर आज मेरे घर में तो तुम हो, बेटी है, ज्ञानू है, तीन आदमी आए हैं। तब भी न खुश होऊँ। इसके मानी यह हैं कि मैं ऐसा बदकिस्मत हूँ कि मुझे किसी बात में खुशी न हो। मैं ऐसा नहीं हूँ; मुझे जो कुछ ईश्वर देता है, मैं उसमें खुश हूँ।

मैं बोली—तभी तो एक मजे का मसला है कि—"फूले-फूले दुलहा फिरत है होत हमारो व्याह। पाँओं बेड़ी पड़त है, ढोल बजाय बजाय।" यह मसला आप पर लागू हो सकता है।

आप बोले—मुझी पर क्यों लागू हो सकता है, सौ में निन्यावे ऐसे हैं। तुम्हारे यहाँ के ऋषि-मुनी भी ऐसे हृदयहीन नहीं होंगे, जो इसको बेड़ी समझे थे। फिर मैं तो एक मामूली आदमी हूँ, मैं तो खुश हूँगा ही। रोज जब आता था, लगता जैसे घर में मुहर्रम छाया रहता था। आज घर में काफी चहल-पहल है।' आप कपड़े भी बदल न पाये थे, और ज्ञानू 'बाबू जी' 'बाबू जी' कह कर पाँव पकड़ने की कोशिश कर रहा था।

आप किसी तरह कमर में धोती बाँधते हुए बोले—अरे, बदमाश ! धोती तो बदल लेने दे।' और उसको गोद में उठा लिया। तब तक बेटी

ने भीतर से नाश्ता ले आकर मेज पर रख दिया। खुद भी खाते जाते थे, और थोड़ा-थोड़ा बच्चे के मुँह में भी देते जाते थे। वह मुझे भी हँसाने की कोशिश करते थे। मगर मेरी तबियत कोई १५ दिन तक, खोई-खोई-सी रहती थी, तबियत लगती न थी।

इसके बाद जब आप खाना खा रहे थे, स्टूडियो से कई मित्र मिलने आए। अपनी स्त्रियों के साथ थे। आप खाना खा रहे थे, नौकर खाना बना रहा था। ज्ञानू भी उनके साथ में बैठा हुआ था। पास ही में मैं भी बैठी कुछ गप-शप कर रही थी। वह लोग आये और सीधे चौके में चले आये। और बड़ी ज़ोर से सब हँसकर बोले—अच्छा! आप इस तरह खाना खिलाती हैं, तभी तो आपकी ग़ैरहाजिरी में आप भर-पेट खाना नहीं खाते थे, तभी तो हम लोग इनसे कहते थे कि आख़िर वह कैसे खाना खिलाती हैं।

मैं बोली—कुछ नहीं जी। आप हमेशा बच्चों के साथ रहे हैं, इस वास्ते आपको बग़ैर बच्चों के अच्छा नहीं लगता था।

ज्ञानू पास बैठा था। वे बोले—यह आपका छोटा बच्चा है?

आप बोले—यह मेरी लड़की का लड़का है।

वह लड़की का लड़का नहीं समझ पाये। तब आप अंग्रेजी में बोले 'गर्ल्स सन'।

अब आप खाना खा चुके थे। सबको लेकर अपने मरदाने कमरे में गये। कुछ देर तक इसी तरह गप-शप होती रही। वह लोग बातें करते थे, मुझे झेंप मालूम होती थी।

जब वह लोग चले गए, और मैं और आप रह गये, मैं बोली—आप भी खूब हैं, इन लोगों से ऐसी बातें आप क्यों करते हैं। वह कह रहे थे, और मुझे झेंप मालूम हो रही थी।

आप बोले—इसमें झेंप लगने की कौन-सी बात थी? यह लोग तो साहब हैं। इन लोगों को क्या मालूम है कि घर-गिरस्त आदमी

कैसे रहते हैं। अरे, नौकर ने बना दिया और साहब लोगों को दे आया, लोगों ने खा लिया। इन लोगों को क्या मालूम है कि जब घर की स्त्रियाँ खाना पकाती हैं और अपने हाथों से परोस कर खिलाती हैं, उसमें कितना प्यार रहता है, और उस खाने में कितना ज़ायका रहता है। इन लोगों के जीवन में तो जितने काम होते हैं, वह सब हवा ही पर होते हैं, और उसी जीवन में यह खुश भी रहते हैं और साहबियत के पीछे तो जैसे जी-जान से पड़ गये हैं और भारत की सभ्यता से जैसे कोसों दूर भागते हैं।

मैं बोली--तो वह भी आपको जाहिल या गँवार समझते होंगे।

आप बोले—वह कुछ भी समझें, मगर वह इन्सानियत से बहुत दूर जा रहे हैं। और मैं तो यह कहता हूँ कि घर की रूखी रोटियों में जो लज़्ज़त है, वह कितना ही होटल में अच्छा खाया जाय, तब भी वह लज़्ज़त नहीं मिल सकती।

मैं बोली—कुछ भी हो, मेरी हँसी उड़वाते हैं, जो मुझे अच्छा नहीं लगता। घर की बात घर तक ही रखनी चाहिए।

आप बोले—घर तक ही रखने में हमारे इस आनन्द को ये लोग कभी ख़्वाब में भी नहीं पा सकते। और इन लोगों में क्या है? स्त्री, पुरुष, या घर के और आदमी जैसे कि भाड़े के टट्टू हों, अपने-अपने काम से आये, खाना खाया, और खा-खाकर पड़ रहे। इसको बोर्डिङ्ग-हाउस या होस्टल कुछ कह सकती हो। अगर इन लोगों में कोई सुखदाई चीज़ है, तो वह है रुपया। इनके पास प्रेम और मुहब्बत के लिये कोई स्थान ही नहीं। जैसे सब के साथ रहने की खुशी नहीं, और जुदाई का कोई रंज नहीं।

दशहरे की तातील में लड़कों का जबलपुर से तार आया, हम लोग आ रहे हैं। तार में दादर स्टेशन लिख दिया था। रात ही को तार मिला था, आप मुझसे बोले—सुबह स्टेशन जाना है। सुबह की ट्रेन से धुन्नू, बन्नू आ रहे हैं।

मैं बोली—सुबह ?

'हाँ, हाँ, गाड़ी पर से तार दिया है।'

आप सुबह हाथ-मुँह धोकर तैयार हुए थे। मैं जैसे ही नहाकर बाथ-रूम से निकली, वैसे ही बेटी बोली—अम्मा सूबेदार भैया मर गये।

मुझे मालूम था कि वे सुबह बच्चों को लेने स्टेशन जा रहे हैं। उनकी मेज पर पैसे रखती हुई मैं नीचे उतर गई। वहाँ देखा कि स्त्रियों और पुरुषों की काफ़ी भीड़ लगी हुई है, और सब रो रहे हैं। मेज़ पर पैसे उसी तरह छोड़कर आप भी नीचे उतर गये। कोई एक घंटे तक वह भी खड़े रोते रहे, उसके बाद स्टेशन गये, वहाँ बच्चों की गाड़ी पहले ही निकल चुकी थी। आप लौट आये, मालूम हुआ कि बच्चे नहीं आये। मगर परेशान थे कि गाड़ी पर से तार दिया, आख़िर बच्चे गये कहाँ। इसी परेशानी में नौकर से कहा—ज़रा तुम तो जाकर देखो कहीं स्टूडियो तो नहीं चले गये। नौकर गया।

स्टूडियो में मालूम हुआ कि श्रीपतराय दादर के स्टेशन पर हैं। नौकर से बच्चे की हुलिया बता दी थी। नौकर गया और सबको साथ लिवाकर चला आया। तब जाकर आप नहाये और खाना खाया। मुझसे बोले—मेरी तबियत बहुत परेशान थी कि आख़िर बच्चे गाड़ी से कहाँ चले गये।

चार-पाँच दिन के बाद हमारे दामाद का तार आया, वह भी आ रहा था। शाम को धुन्नू से बोले—भाई तुम जाना, सुबह जाकर अपने जीजा को लिवा लाना। मैं तो तुम लोगों को लेने गया, तुम लोग मिले ही नहीं, अब तुम्हीं जाकर उनको लिवा लाना।

मैं बोली—नया शहर है, कहीं यह भी न खो जाय, कहीं दो जनों को न ढूँढ़ना पड़े।

आप बोले—नहीं, धुन्नू इतना बेवकूफ नहीं है।

वाकई जब धुन्नू लेने गया, तब वह भी नहीं मिले। वह भी सीधे स्टूडियो गये। आप ने जब धुन्नू को देखा, तो बोले--अच्छा, तुमने भी

वही किया जो मैंने किया था। ये बातें हो ही रही थीं कि इसी बीच में आप बोले--चलो भाई, छज्जे पर खड़े हों, शायद आते होंगे तो देख तो लेंगे। ख़ैर इत्तफाक़ से जिसके लिये वह लोग खड़े हुए थे, उसको देख लिया। धुन्नू को नीचे दौड़ाया और आपने ऊपर से आवाज़ दी--आओ! यही मकान है। जब ऊपर वह भी आ गये, तब बोले--न मालूम तुम लोग कैसे आते हो, उस दिन धुन्नू-बन्नू को लेने मैं गया, तब वह लोग नहीं मिले। आज वह लोग तुमको लेने गये, तुम नहीं मिले।

'मैं तो गाड़ी से उतरने के बाद स्टेशन के बाहर कुछ देर तक खड़ा था, उसके बाद मैं स्टूडियो चला गया। स्टूडियो के आदमी, मुहल्ला तो जानते थे, मगर मकान उनको भी नहीं मालूम था। एक दफ़े मैं इसी दरवाजे पर से निकल गया हूँ, दुबारा फिर लौटा हूँ। वह तो इत्तफाक से आपने देख लिया।

आप बोले--राम! राम!! व्यर्थ की परेशानी तुम लोगों को हुई।

मैं बोली--इन लोगों को परेशानी थी तो आप कौन नहीं परेशान हुये। यह तो दादर का स्टेशन भी लखनऊ की भूल-भुलैया हो गया, कि जो ही आता है, इसमें भूल जाता है।

तीन रोज़ तक बच्चों के साथ रहे, उसके बाद दोनों बच्चे इलाहाबाद चले आये।

काँग्रेस होनेवाली थी। पहले दिन हम लोग चारों आदमी देखने गये। आपके पास टिकट पहले ही से खरीदा हुआ था, हम लोगों के लिए टिकट लाने थे। मुझसे बोले--मुझे रुपए दो तो मैं तीनों आदमी के लिए तीन टिकट और ले लूँ।

मैंने उनको रुपये दिये। वासुदेवप्रसाद उनके हाथ से रुपए लेकर ख़ुद टिकट लाया। पहले दिन तो हम लोग ज़नाने में गई, और उसी के पास ही आपकी भी जगह थी। वासुदेवप्रसाद बाहर की तरफ थे। ख़ैर उस दिन तो हम साथ-साथ रात के बारह बजे लौटे। चारों आदमी रात को घर

आये। दूसरे दिन मैं, बेटी, वासुदेवप्रसाद एक जगह बैठे, आप अन्दर थे। उस दिन जब महात्माजी का भाषण पढ़ा जा रहा था, कुछ लाउडस्पीकर में खराबी हो गई थी। उसी समय भगदड़ मची, आदमी कूद-कूदकर आगे बढ़ने लगे। उस समय मैं, बेटी बीच में बैठी थी, साथ में ज्ञानू भी था। जब भगदड़ मची तब मैं उठकर खड़ी हुई। दो आदमी अधेड़ उम्र के मुझसे बोले--माताजी! आप बैठ जाइये। वह दोनों आदमी मेरी और बेटी की तरफ झुक गए। मेरे ख़याल में सैकड़ों जूते उन शरीफों की पीठ पर पड़े होंगे। मैं उनको धन्यवाद भी न दे सकी और जैसे ही भीड़ रुकी, वैसे ही वह भी ग़ायब हो गये। उसी समय मैं-बेटी घर पर चली आई। आप जब करीब बारह बजे लौटे तो वह बोले—अच्छा! तुम पहले ही कैसे चली आईं?

मैंने उनको सब क़िस्सा बतलाया और बोली—आज ख़ैरियत हुई कि हम लोग घर चले आये। नहीं आज बुरी तरह हम लोग ज़ख़्मी हो गई होतीं, या तो इसमें एक-आध मर ही गया होता।

तब आप बोले—यहाँ के लोग ऐसे जाहिल हैं कि जब तक कि धक्कम-मुक्कम न करें, तब तक उनको तसकीन ही नहीं होती। ज़रा भी ख्याल नहीं, इससे क्या फायदा, और नुकसान होगा। इसका ज़रा भी ख्याल नहीं करते हैं। मैं तो सुनता हूँ कि अन्य मुल्कों में टिकट घर में एक-एक आदमी नम्बरवार लेने जाता है। अगर वहाँ पर लोग इस तरह की बेहूदगी करें, तो शायद वह जेलों की हवा खायें। मगर यहाँ इनसे पूछने वाला भी कोई नहीं है।

मैं बोली—मुझे ऐसा मालूम होता था कि कालेज के लौंडे थे।

आप बोले—हाँ-हाँ यहाँ का पढ़ा-लिखा आदमी भी उसी तरह गँवारपन कर बैठता है, और ग़ैर जिम्मेदार हो जाता है, जैसे कि कोई एक जाहिल और गँवार। मैं बोली—तो आख़िर यह ऊँची-ऊँची डिगरियाँ लेकर होता क्या है।

आप बोले—वह ऊँची डिगरियाँ थोड़े ही होती हैं, वह तो गुलामी का एक तरह का तौक़ है। यह लोग अपने अफ़सरों के आगे तो भेड़ बन जाते हैं और वह जैसा चाहें इनको नचा सकते हैं, मगर बाकी जगहों में तो यह शेर बन जाते हैं। और जो कोई पूछे कि कोई भक्ति-भाव भी इनमें है, तो शायद 'नहीं' कहने के सिवा और कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि जब उन्होंने देखा कि यहाँ पर स्त्रियाँ और बच्चे बैठे हैं फिर भी उन्होंने वहाँ पर भगदड़ मचायी। यह तो उसी तरह हुआ, जैसे कांग्रेस आंदोलन के जमाने में, पुलीसवाले भीड़ पर घोड़े दौड़ा देते थे! मगर तब तो सरकार हमको कुचलना चाहती थी, तब वह ऐसा करती थी। मगर यह लोग तो महात्मा जी का भाषण सुनने के लिये स्त्रियों और बच्चों को कुचल रहे हैं। अब इनको क्या कहोगी? और फिर वे भी हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये जूते खाये हैं। अब कौन जाने कितने स्त्री-बच्चे कुचल गये होंगे। और फिर इन्हीं बेचारों का, जिन्होंने तुम्हारे लिए जूते खाये हैं, आज क्या हाल होगा। उस पर भी उन्होंने तुमसे धन्यवाद भी नहीं चाहा। इस तरह की हालत देखकर तो यही कहना पड़ता है कि तुम्हारे यहाँ का समाज दो रास्तों से जा रहा है। एक तो वह हैं जो कुचलनेवाले हैं, दूसरे वह हैं जो कुचले जाते हैं।

मैं बोली—इस तरह की रफ़्तार तो हमेशा से थी, और हमेशा रहेगी।

आप बोले—कल हमारे साथ चलना और हमारे ही पास बैठना।

मैं बोली—नहीं, अब मैं नहीं जाऊँगी, क्योंकि कल की हालत देखकर मुझे तो बहुत अफ़सोस हुआ। अरे हम लोगों को तो कुछ नहीं, मगर बिचारे ज्ञानू के लगा होता तो क्या होता।

'तो मुफ़्त में तुम्हारा बीस रुपये का टिकट खराब होगा?'

मैं बोली—साहब, अभी तो बीस रुपये का टिकट ही ख़राब होगा, कल कहीं चोट खायी होती तो न मालूम क्या हालत होती।

आप बोले—अच्छा, अगर तुम्हारी तबियत नहीं है तो न चलो, मगर मेरे पास बैठने में तो कोई दिक़्क़त न होगी। मैं तो यह कहता हूँ कि महात्मा

जी को मालूम हो कि उनके भाषण सुनने के लिए पंडाल में इतनी बेहूदगी होती है, तो मैं समझता हूँ कि शायद उनको सात दिन का अनशन करना ही पड़े।

मैं बोली—उन बेचारों के हाथ में इसके सिवा और है ही क्या। वह सब कुछ करते रहते हैं, मगर यह चलने भी पाये। मेरा तो ख़याल यह है कि ऐसा महात्मा किसी दूसरे मुल्क में हुआ होता, तो लोग हमारे यहाँ के लोगों से कहीं आगे होते।

आप बोले—अगर मुल्क बना बनाया हो तो उसमें बनाने की कोई ज़रूरत ही नहीं रहती। ऐसी ही हालत में तो कोई न कोई महात्मा यहाँ हमेशा से हुआ है। उसी तरह जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद का जन्म हुआ था ऐसी ही परिस्थिति उन सब समयों में रही होंगी। उस समय भी तो ऐसे ही लोगों ने जन्म लिया, और लोगों का उद्धार किया। उसी तरह महात्माजी भी आये।

मैं बोली—तो कौन महात्माजी से ही लोग नहीं लड़ते, और खुश हैं।

आप बोले—कोई ज़माना था, जब लोगों ने ईसा की हथेलियों में खपचें ठुकवाई थीं। मुहम्मद साहब को पानी के लिए परेशानी उठानी पड़ी थी। राम और कृष्ण को भी काफी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। बुद्ध के भी काफ़ी दुश्मन थे। अब अगर गान्धी-युग है, तो उनको भी काफ़ी लड़ाई लड़नी होगी। और आख़िर में गान्धी की ही विजय होगी।

मैं बोली—होगी, तब होगी, आज कल तो मुसीबत है।

आप बोले—सच पूछा जाय तो जीवन ही संघर्षमय है। अगर संघर्ष न हो तो जीवन कैसा ?

मैं बोली—कुछ भी हो, इस संघर्ष को देखकर मेरी तबियत तो घबरा जाती है।

'संघर्ष से घबराती हो, और कभी-कभी तुम्हारी इच्छा भी तो संघर्ष के लिए होती है ?

मैं बोली—मैं तो संघर्ष को दूर से नमस्कार करती हूँ।

आप बोले—तुम स्त्री हो न। स्त्रियों में यह बातें अधिक पाई जाती हैं। पुरुष संघर्ष से घबराता नहीं।

मैं बोली—पुरुष क्यों घबराने लगे, वह तो स्वयं ही संघर्ष के लिए बीड़ा लेते रहते हैं।

आप बोले—अगर पुरुष संघर्ष से घबराये तो वह कायर है।

मैं बोली—यह सब तो शायद काँग्रेसी लोगों की कहने की बातें हैं।

आप बोले—बातें नहीं हैं, यह उनकी दिल की तड़प है, उसके लिये उनकी आत्मा हमेशा तड़पती रहती है। अन्याय करनेवाले को, चाहे वह अन्याय हमारे साथ करे चाहे दूसरे के, बलवान आदमी कभी देख नहीं सकता। इसी के लिए वह पैदा हुआ है कि वह अन्याय का अन्त करे।

बम्बई जाने के बाद, दो ही तीन महीने रहने पर मालूम हुआ कि जो कहानी उन्होंने तैयार की थी, हालाँकि उसमें काफ़ी काट-छाँट हो गयी थी, फिर भी सेन्सर बोर्ड द्वारा रोक दी गई थी, इसको देखने के बाद उनको ऐसा मालूम हुआ कि यहाँ मैं जिस काम से आया, वह मेरा होता नजर नहीं आ रहा है। मुझसे बोले—यहाँ जो कुछ है, वह सिनेमा के मालिक लोगों के हाथों में है। लेखक को कोई महत्व नहीं दिया जाता, वह तो पैसा कमाना चाहते हैं।

मैं बोली—लेखकों को तो उनसे पूछना ही चाहिए कि आख़िर उनकी चीजों की उतनी काँट-छाँट क्यों हो।

आप बोले—तो इसको सुनता कौन है?

मैं बोली—अगर कोई सुनता नहीं है, तो मैं समझती हूँ कि अच्छे लेखकों को ऐसे कामों को अपने हाथ में लेना ही न चाहिए।

आप बोले—मैं भी दो-चार महीने और देखता हूँ।

मैं बोली—आपको उन लोगों से कहना चाहिए।

आप बोले—वह कहेंगे कि आप जा सकते हैं, मगर हम आपके पीछे

लाखों की तादाद में रुपया थोड़े ही बरबाद कर सकते हैं। फिर जिस दिन हमको जाना होगा, उस दिन जवाब देकर जा सकते हैं। यहाँ कहना-सुनना कुछ भी नहीं होता।

मैं बोली—इसीलिए तो मैं बनारस में पहले ही से मना करती थी, तो आप मुझसे कहते थे, वहाँ पर अच्छे-अच्छे फिल्म दिखलाऊँगा। और जो फ़ायदा उपन्यास और कहानियों द्वारा नहीं उठाया जा सकता वह फिल्म दिखाकर, बड़ी आसानी से, उन लोगों को लाभ हो जायगा। फिर वह बातें कहाँ गईं ?

आप बोले—उसके पीछे कोई कहाँ तक पड़ा रहेगा। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे लिए सबसे अच्छा यही है कि अपने घर पर बैठ करके थोड़ा-बहुत जो भी मैं काम कर सकता हूँ, उसी को करता रहूँ, यहाँ पर तो वह भी काम कुछ नहीं हो सकता।

उन्हीं दिनों उनकी कुछ-कुछ तबियत भी खराब रहती थी। कभी बुखार, तो कभी जुकाम आदि लगा ही रहता था।

मैं बोली—तो ख़तम कीजिये, चलिए अपने घर।

आप बोले--इकट्ठा भागा भी तो नहीं जाता। उस दिन जो एक गुजराती महाशय फिल्म दिखलाने को लिवा गये थे, कितना गन्दा था, जब कि तुम्हीं उन महाशय पर ख़ुद बिगड़ उठी थीं, और तब से फिल्म देखने का नाम भी नहीं लेती हो। मैं सोचता हूँ कि शायद मैं फिल्म-संसार का कुछ सुधार कर सकूँ, तो वही बेहतर होगा, और मेरे भाग जाने से कुछ सुधार तो हो नहीं जायगा। सुधार भी नहीं होगा और फ़िल्म मालिकों का कोई नुक़सान भी नहीं होगा। हाँ मेरा नुक़सान होगा कि मैं जो सुधार करना चाहता था, उसको कुछ भी नहीं कर पाऊँगा।

मैं बोली—तो आपकी तबियत भी तो नहीं अच्छी रहती। मुझे तो डर लगता है कि कहीं तबियत ज्यादा ख़राब हो जाय, तब यहाँ क्या करूँगी।

आप बोले—कुछ नहीं, यह सब तो सभी जगह लगा रहता है। आज कल तो देखती हो कि मैं घूमने भी जाने लगा हूँ।

मैं बोली--घूमना तो आप का बनारस में भी होता था, वहाँ भी आप ५ बजे ही उठ कर घूमते थे, यह तो आपका हमेशा ही का काम है। ५ बजे उठकर कम से कम दस-पाँच मील तो आप घूम ही लेते थे, वह यहाँ भी है। मगर यह दस-पाँच मील घूम कर हर जगह आराम से रहते थे, यहाँ वह भी नहीं है।

मैं बोली—यह सब ठीक हो जायगा।

उन्हीं दिनों हमारे घर में एक नौकर था, जो मेरे जाने के पहले ही से रक्खा हुआ था। वह सब काम के लिए रक्खा गया था। वह अक्सर रोटी बनाने के समय ग़ायब हो जाता था, दो-तीन रोज़ बराबर पहले वह ग़ायब हो चुका था, आप नहाकर जब आते, तो रोटियाँ मैं सेंक कर खिलाती। एक रोज़ मैं बोली—न जाने यह नौकर कहाँ चला जाता है, कि पता ही नहीं लगता।

आप बोले--कहीं चला गया होगा।

मैं बोली—आज ही क्यों? आप तीन रोज़ से देख रहे हैं, और इसके पहले भी यह ऐसी हरकत कर चुका है। मैं आज इसको निकाल दूँगी।

आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुये बोले—अच्छा अबके जाने दो, मैं उसको समझा दूँगा।

मैं बोली—अगर समझाना था, तो कई बार तो कह चुके, इससे लाभ क्या हुआ?

तो फिर आप बोले—अच्छा अबकी बार रहने दो, अगर फिर कभी यह ऐसा करेगा, तो निकाल देना।

ख़ैर उस दफे मैंने उससे कुछ नहीं कहा, और आपने उसको समझाया। पन्द्रह-बीस दिन वह ठीक से रहा, फिर वही हरकत। उस दफे मैंने दुबारा उसको जवाब दे दिया। वह दो-तीन दिन हमारे मकान ही के नीचे रहता रहा। वह बोले—वह कहीं अभी गया थोड़े ही है।

मैं बोली—तो आख़िर आप मुझसे चाहते क्या हैं?

आप बोले—कुछ नहीं, ग़रीब आदमी है, भूखों मरता होगा।

मैं बोली—अगर बड़ी दया करनी है तो आप उसे कुछ दे सकते हैं, मगर मैं उसको नौकर नहीं रक्खूँगी।

आप बोले—हाँ! तुमने तो मुझसे पहले ही वायदा करा लिया था।

'बस मैं बार-बार कुछ नहीं कहना चाहती, पड़ा रहने दो।'

जो दूसरा नौकर रक्खा तो उससे मैं खाना नहीं पकवाती थी। मैं खुद ही खाना पकाती, पन्द्रह-बीस दिन बाद खाना खाने के समय बोले—ख़ैर, जब से नौकर गया, तब से साहब बनने से तो गला छूटा। अपना दो आदमी रहते हैं, अपना खाना पकाया, खाया, गपशप भी हुई। नहीं साहब बनते-बनते मेरा नाकों दम आगया था।

मैं बोली—निकालते समय तो आप ही चिल्ला रहे थे, और अब कहते हैं कि साहब बनते-बनते नाक में दम आ गया था।

आप बोले—जिन लोगों के बीच में रहना होता है, उन्हीं की तरह खुद भी तो बनना पड़ता है, चाहे हम बनना चाहें या नहीं। मगर बनना जरूरी हो जाता है। फिर यह ख्याल भी था कि यह बेचारा जायगा कहाँ? आखिर कई दिन से वह तुम्हारे ही दरवाजे पर तो पड़ा था।

मैं बोली—तो उसके पीछे मैं क्या करूँ? आप किसको-किसको देखेंगे?

'हाँ चला तो गया बेचारा'—आप बोले।

मैंने कहा—तो जाने दीजिए।

आप बोले—मुझे इस पर भी तो शरम आती है कि कोई भलेमानुस आ जाय, तो अपने दिल में तो यही सोचे कि अच्छे भले आदमी हैं कि एक रसोईदार भी नहीं रखते।

मैं बोली—तो इसमें क्या? क्या खाना पकाना कोई जुर्म है?

आप बोले—समाज के अन्दर, जिस समाज में रहते हों, उसी समाज का बन कर रहना चाहिए।

मैं बोली—आप ही तो कहते हैं कि, जो बड़े लोग काम करते हैं, उनकी

देखा-देखी ही छोटे लोग भी करते हैं। हमेशा नौकर रहते हुए भी आप अपना काम अपने हाथों से करते हैं। तब क्या मेरे लिए ही सबसे ज्यादा जरूरी है कि रसोइया रखूँ ?

तब आप हँसने लगे—हाँ तुम्हारे लिए ज़रूरी है। पुरुष खुद मज़दूरा बन सकता है, मगर अपने घर में स्त्री को मज़दूरनी बनाना पसन्द नहीं करता। अब उधर चाहे जो कुछ हो, मगर पहले अंग्रेजों के यहाँ भी उनकी स्त्रियों को नौकरी नहीं करने देते थे।

मैं बोली—मैं देखती हूँ कि यहाँ भी काफ़ी स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं।

आप बोले—नौकरियाँ करने लगी हैं, मगर वह अच्छा नहीं है, मैं इसको अच्छा नहीं समझता। अब इसका नतीजा क्या हो रहा है ? अब पुरुष और स्त्री दोनों नौकरियाँ करने लगे, तब इसके माने क्या हैं ? रुपए ज्यादा आ जाएँगे। उसी का तो यह फल है कि पुरुषों की बेकारी बढ़ रही है।

मैं बोली—कुछ हो स्त्रियों की कुछ अपनी कमाई तो रहती ही है।

आप बोले—यह कमाई का सवाल अभी थोड़े दिनों से उठा है, नहीं तो पहले स्त्रियों की कमाई एक पैसा नहीं होती थी, और स्त्रियाँ काफ़ी दबदबे के साथ घर पर शासन करती थीं, तब क्या वह कमाई करती थीं ?

मैं बोली—अब तो अपनी कमाई का पैसा पुरुष अपने पास रखे रहते हैं, जब उन बिचारियों को ज़रूरत होती है, उनसे माँगना पड़ता है। इच्छा हुई तो कभी दे दिया, कभी इनकार करके हट गये, तब ऐसी हालत में मेरे खयाल में बेहतर यही है कि दोनों कमाएँ।

आप बोले—जब ऐसे पुरुष हो रहे हैं, तो तुम्हारे देश के शुभ लक्षण नहीं हैं।

मैं बोली—शुभ हों, चाहे अशुभ हों, देखना तो यह है कि इस वक्त जरूरत किसकी है।

आप बोले—जरूरत तो इस वक्त मालूम होती है, मगर कभी यह न भूल जाना चाहिये कि देश में कुछ ही स्त्री-पुरुष ऐसे हैं, जो एक

की कमाई पर दूसरा गुजर करता है। छोटी जातियों में, और काश्तकारों में देख लो, दोनों बराबर की मेहनत करते हैं, बल्कि स्त्रियाँ उनसे कुछ अधिक ही काम करती हैं, फिर भी पुरुष जो बदमाश हैं, वह अपनी स्त्रियों से पैसा भी छीन लेते हैं, और उन पर शासन भी करते हैं। अब सोचना यह है कि कैसे दोनों को बराबर किया जाय और बदमाशों को कैसे ठीक किया जाय, इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों, और उसके साथ-साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाय, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी, और सब कानून-अधिकार उनको बराबर न मिल जायँगे, तब तक महज़ बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।

मैं बोली—आख़िर वह काम कैसे चलेगा ?

आप बोले—यह सब धीरे-धीरे होगा, इस समाज को बिगड़ते-बिगड़ते बहुत दिन हो गए, उसी तरह इसको बनने में भी बहुत दिन लगेंगे।

मैं बोली—तो क्या तब तक स्त्रियों का इसी तरह रोना लगा रहेगा ?

आप बोले—सब मुल्कों में बदमाश ही बदमाश नहीं होंगे, और न सब हैं, अब भी कुछ लोग अपने घर में स्त्रियों की पूजा करते हैं, और मेरा तो ख़याल यह है कि शायद मनुस्मृति जो पहले बनी थी वह इस आधार पर बनी थी कि स्त्रियों को पुरुष अपने से बहुत ऊँचा समझते थे। मनुस्मृति में माँ का हक़ पिता से दूना रक्खा गया है। स्त्री के बिना कोई काम पुरुष अकेला नहीं कर सकता था। भाई-भाई चाहे लड़ कर मर जाय, मगर बहन सब भाइयों के लिए बराबर रहती थी। इसके माने हैं कि वे स्त्रियों को सब से श्रेष्ठ मानते थे।

मैं बोली—पहले तो सब ठीक था, अब कितने भाई हैं जो बहन को प्यार करते हैं, और कितने बेटे हैं जो माँ की पूजा करते हैं, और दूसरी ओर कितने पति अपनी स्त्रियों की जूते से पूजा करते हैं।

आप बोले—तो उन्हीं के लिए तो ज़रूरत है कि क़ानूनी अधिकार

पुरुषों के बराबर मिलें। मेरा ख़याल है, गान्धी-युग में स्त्रियों की काफ़ी उन्नति हो रही है और होने की आशा है।

मैं बोली—शायद हम लोगों के मरने के बाद कुछ हो।

आप बोले—उसके लिए फिर भी तो तुम लौटोगी। फिर भी तुम्हारी इच्छाएँ इसी में लगी रहेंगी।

मैं बोली—कब से आप पुनर्जन्म मानने लगे ?

आप बोले—मैं नहीं मानता, तुम तो मानती हो। जिस तरह तुम पुनर्जन्म मानती हो उसी तरह तुम्हारे साथ इच्छाएँ भी लगी रहेंगी।

मैंने कहा—आपने यह खूब अच्छा निकाला।

हम लोग सन् ३४ में बम्बई में थे। हम एक बार बम्बई जा रहे थे बनारस से। दो दिन का सफर, बेटी शर्म के मारे उनके सामने लेटी नहीं थी। दो रात और एक दिन अपने पास बाबूजी ही बिन्नू को रखे रहे। दो-दो घण्टे पर उसे दूध पिलाते। मुझे भी वे पिलाने को न कहते। जब बम्बई बेटी पहुँच गई तो वह बच्चे को ले सकी।

४ महीने के बाद वासुदेव प्रसाद आये और बेटी को लिवा ले गये। इसके पहले वे मुझसे कहते—बिन्नू क्यों जायगा ? हम दोनों को सूना भी तो बहुत लगेगा।

वह लड़का इतना हिल-मिल गया था कि वे जब स्टूडियो जाते और उनके वहाँ से आने का समय करीब होता तो जाकर कुरसी पर बैठ जाता और 'बाबूजी' तो कह न सकता था, 'बाबूई' करके ज़ोर-ज़ोर पुकारता। जैसे ही वे आते वैसे ही गोद में चढ़ जाता। कुछ देर उसे खिलाकर कुर्सी पर बैठाते तब आप कपड़े उतारते। फिर अपने ही साथ उसे कुछ खिलाते-पिलाते। मगर यह थोड़े ही था कि वह शरारत करके बच जाय या ज़िद कर बैठे। ऐसे समय तो दंड तक देते।

बेटी अपने घर से राखी भेजती, जब वह न होती, तो मेरे हाथ से उसे बँधवाते। जब वह पास में होती तो राखी एक-दो दिन पहले ही लाकर उसे

दे देते। जब दो साल तक बच्चे इलाहाबाद थे तो बेटी से कहते—तुम पार्सल बना दो, या खुद पार्सल बनाकर उनके नाम कर देते।

बेटी बम्बई थी। रक्षा-बन्धन होने के १५ दिन बाद बोले—बताओ बेटी, तुम्हें क्या चाहिए। बेटी बोली—जो कुछ आप दें। तब आप मुझसे कहते—बेटी से कह दो, हीरा जड़ी हुई लौंग माँग ले। मैं बोली—बेटी, सुन रही है।

बेटी—बाबूजी तो खुद दे रहे हैं। मैं क्या माँगू ?

उसके जाने के समय आप बोले—मैं आते समय लेता आऊँगा। जब बनारस आने लगे तो मुझे लेकर बाजार गये। वहाँ बेटी के लिए ७ चुनरी, जो खास चुनरी बेटी की थी, वह २०) की थी, और दोनों बेटों के लिये ४५)-४५) की घड़ियाँ लीं। बेटी के लिए १३५) की लौंग खरीदी। मेरे पीछे पड़े कि तुम भी कानों के लिए फूल ले लो।

मैं बोली—मुझे ज़रूरत नहीं है।

आप बोले—बड़ा अच्छा है, ले लो।

मैं बोली—मेरे रुपए बैंक में रहेंगे। जब पहनती नहीं तो क्या लूँ ? किसी तरह मैंने अपना गला छुड़ाया। और जो ७ चुनरियाँ ली थीं उनमें तीन भाँजियों के लिये ली थीं।

मैं बोली—ये क्या होंगी ?

आप बोले—देते समय कम हो जायँगी। कुमारी वगैरह जान खा जायेंगी। बहुत-सी लड़कियाँ भी तो हैं।

काम छोड़ने के पहले एक महाशय ने उनसे दैनिक-पत्र निकालने के लिए कहा। आप बोले—क्या बुरा है दैनिक-पत्र जो निकालने के लिए कह रहे हैं। ७००) देने कहते हैं, और ४ सरकारी सम्पादक देने कहते हैं। अगर तुम कहो तो मैं कर लूँ। मेरी इच्छा है। आखिर घर पर भी चल कर 'हंस' और 'जागरण' ही तो चलाना है, और नहीं तो घर से रुपये भी तो लगाने पड़ेंगे और यहाँ पत्र का सम्पादन ही तो करना होगा। इस तरह वह भी दोनों पत्र चलते रहेंगे। और यहाँ मैं काम भी करता रहूँगा, रुपये

की जो दिक़्क़त पत्रों के चलाने के लिये है, वह यहाँ दूर हो जायगी।

मैं बोली—मुझे यहाँ रहना ही नहीं है।

आप बोले—तो उसमें क्या है, चलो हम दोनों आदमी वहाँ से चलें, वहाँ देख-भाल करके और महीने दो महीने रह कर, फिर चले आएँगे।

मैं बोली—मुझे यहाँ बिलकुल ही नहीं रहना है।

आप बोले—तुम्हें यहाँ कोई ख़ास दिक़्क़त तो है नहीं।

मैं बोली—दिक़्क़त क्यों नहीं है, तीन प्राणी तेरह चूल्हे वाला मसला है। बच्चे तो प्रयाग में पड़े, और हम दोनों यहाँ।

आप बोले—तो घर में ही जाकर कौन सा इतमीनान हो जायगा ? अब के साल धुन्नू को तो इलाहाबाद जाना ही होगा, और हम लोग बनारस रहेंगे, तो दो जगह तो यों ही हो गये।

मैं बोली—वहाँ तो अपने सँभाल में हैं, क्योंकि इलाहाबाद और बनारस में कोई विशेष अन्तर तो है नहीं। वहाँ कम से कम यह तो है, कि कोई बीमार-आराम पड़े तो एक-दूसरे के पास पहुँच तो सकते हैं, यहाँ तो वह भी नहीं। तीन दिन का सफ़र तै करो, तब जाकर कहीं पहुँच पाओगे।

आप बोले—यह तो उसी तरह हुआ कि अपने घर में पड़े रहेंगे, चाहे कुछ भी काम न हो।

मैं खीझ कर बोली—अगर नौकरी करनी हो तो मजबूरी है। फिर जिस उद्देश्य से आप यहाँ आए थे, वह तो पूरा नहीं हो रहा है, तो फिर यहाँ पड़ा रहना बेकार है।

आप बोले—अगर और कुछ न होगा तो 'हंस' और 'जागरण' तो चलेंगे ही।

मैं बोली—नहीं चलेंगे तो क्या उनका कोई ठेका ले लिया है, चलते हैं तो कौन अशरफी दे देते हैं, बन्द होने पर कौन भूखों मर जायेंगे ?

आप बोले—सिद्धान्त भी कोई चीज होता है, और जो चीज़ आदमी अपने हाथों से बनाता है, उससे कुछ प्रेम भी तो हो जाता है। जब तक आदमी

हाथ-पैर मार सकता है, तब तक उसको ख़राब होते नहीं देख सकता। जैसे बच्चों का तुम सोच करती हो, लड़के-लड़कियों से क्या कोई आशा रखता है कि वह आराम ही देंगे ? मगर चूँकि बच्चे हो जाते हैं तो उनसे मुहब्बत हो ही जाती है और उन्हीं बच्चों के लिए हम लोग रात-दिन कौन-सा त्याग नहीं करते ? लोग कहते हैं कि संन्यासी त्याग करता है, और मैं कहता हूँ कि संन्यासी क्या त्याग करेगा ? अच्छे से अच्छा खाता है और बेफ़िक्र रहता है, न बसने की खुशी न मरने का ग़म। कहाँ क्या होता है इसको उसे फ़िक्र नहीं, और यहाँ घर-गिरस्त वालों की क्या हालत है उसकी सुनो। रात-दिन उन्हीं के सुखों के लिए कौन-सा ऐसा त्याग है, कौन-सी ऐसी तपस्या है, कौन-सा ऐसा बलिदान है, जिसको कि घर-गिरस्त वाला नहीं करता ? जो घर सम्पन्न हैं, उनको छोड़ दो। शेष जो ग़रीब आदमी हैं अगर उनके घर में चार रोटियाँ हैं तो उनकी इच्छा यह होती है कि बच्चों को पहले भरपेट खिला दो, अच्छी कोई चीज़ होती है तो लोग उसे अपने मुँह में नहीं डालते, बच्चे खायँगे यही सोचते हैं। अपने कपड़े तार-तार हो गए हैं, सरदी से सिकुड़ रहे हैं, पहले अगर पैसा मिलेगा तो यही खयाल होता है, कि पहले बच्चों के लिए। मज़ा यह है कि इसमें तुम्हीं लोग सबसे पहले हो, अब बच्चा जब अपनी अच्छी हालत में हो जाता है तो वही ऐसे माँ-बाप को कहना भी नहीं चाहता कि यह हमारे माँ-बाप हैं, और उनको आराम देना तो दूर की बात हो गई है।

मैं बोली—तो सब लड़के ऐसे थोड़े ही हैं।

आप बोले—सब न हों, मगर दुनियाँ तो उधर की तरफ़ जा रही है।

मैं बोली—तो इसको आप क्यों नहीं बनाते ?

आप बोले—वही तो बनाने को यहाँ आया था, न बनें तो क्या करूँ ?

बम्बई में एक रात को बुख़ार चढ़ा तो दूसरे दिन भी पाँच बजे तक बुख़ार नहीं उतरा। मैं उनके पास बैठी थी। मैंने भी रात को अकेले होने की वजह से खाना नहीं खाया था। कोई छः बजे के करीब उनका बुखार उतरा।

आप बोले—क्या तुमने भी अभी तक खाना नहीं खाया ?

मैं बोली खाना तो कल शाम से पका ही नहीं।

आप बोले—अच्छा मेरे लिए थोड़ा दूध गरम करो और थोड़ा हलवा बनाओ। मैं हलवा और दूध तैयार करके लाई। दूध तो ख़ुद पी लिया और बोले—यह हलुआ तुम खाओ। जब हम दोनों आदमी खा चुके, मैं भी पास में बैठी।

आप बोले—कुछ पढ़ करके सुनाओ, वह गाने की किताब उठा लो। मैंने गाने की किताब उठाई। उसमें लड़कियों की शादी का गाना था। मैं गाती थी, वह रोते थे। उसके बाद मैं तो देखती नहीं थी, पढ़ने में लगी थी, आप मुझसे बोले—बन्द कर दो, बड़ा दर्दनोक गाना है। लड़कियों का जीवन भी क्या है। कहाँ बेचारी पैदा हों, और कहाँ जायँगी, जहाँ अपना कोई नहीं है। देखो, यह गाने उन औरतों ने बनाये हैं जो बिलकुल ही पढ़ी-लिखी न थीं। आजकल कोई एक कविता लिखता है या कवि लोगों का कवि-सम्मेलन होता है, तो जैसे मालूम होता है कि ज़मीन-आसमान एक कर देना चाहते हैं। इन गाने के बनाने वालियों का नाम भी नहीं है।

मैंने पूछा—यह बनानेवाले थे, या बनानेवालियाँ थीं ?

आप बोले—नहीं, पुरुष इतना भावुक नहीं हो सकता कि स्त्रियों के अन्दर के दर्द को महसूस कर सके। यह तो स्त्रियों ही के बनाए हुए हैं। स्त्रियों का दर्द स्त्रियाँ ही जान सकती हैं, और उन्हीं के बनाये यह गाने हैं।

मैं बोली—इन गानों को पढ़ते समय मैं तो न रोई और आप क्यों रो पड़े ?

आप बोले—तुम इसको सरसरी निगाह से पढ़ ही रही हो, उसके अन्दर तक तुमने समझने की कोशिश नहीं की। मेरा ख़याल है कि तुमने मेरी बीमारी की वजह से दिलेर बनने की कोशिश की है।

मैं बोली—कुछ नहीं, जिन स्त्रियों को आप निरीह समझते हैं, कोई

उनमें निरीह नहीं है। अगर हैं निरीह, तो स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं। दोनों परिस्थिति के हाथ के खिलौने हैं, जैसी परिस्थिति होती है, उसी तरह दोनों रहते हैं। पुरुषों के ही पास कौन उनके भाई-बन्द बैठे रहते हैं, संसार में आकर सब अपनी क़िस्मत का खेल खेला करते हैं।

तब आप बोले—जब तुम यह पहलू लेती हो, तो मैं यह कहता हूँ, कि दोनों एक दूसरे के माफ़िक अपने-अपने को बनाते हैं, और उसी समय दोनों सुखी होते हैं, जब एक दूसरे के माफ़िक होते हैं। और उसी में सुख और आनन्द है। मगर हाँ इसके ख़िलाफ़ दोनों हो, तो उसमें स्त्री अधिक निरीह हो जाती है पुरुष की अपेक्षा।

सन् ३४ में मैं बम्बई में थी, एक महाशय ने कम्पनी में फिल्म तैयार किया। फिल्म मालिक ने उनको ५००) की मजदूरी पेशगी दी, और दो हज़ार रुपने में सौदा पटा था, शेष रुपए फिल्म तैयार होने पर देने का वादा था। जब फिल्म तैयार हो गया, और फिल्म मालिक से शेष रुपए माँगे, तो मालिक ने शेष रुपया देने में हीला-हवाला किया। जब कई महीने बीत गए और रुपए नहीं मिले, तो फिल्म बनानेवाले ने फिल्म कम्पनी के मालिक को नोटिस दी। नोटिस पाकर फिल्म-मालिक ने उन महाशय पर ५००) का दावा ठोंक दिया। अब उस बेचारे को परदेश की बात, मोटे आदमी से झगड़ा। पास में रुपए नदारद, घबराए। उनकी देवीजी मेरे पास आईं। मैंने जब पूछा तो उन्होंने अपना किस्सा बताया, और बोलीं कि अगर बाबूजी यह गवाही दे दें कि हमने फिल्म तैयार करते देखा, तो हमारा केस इनके ऊपर ठीक से चल जायगा और वह ज़ीत भी जायँगे।

मैं बोली कि क्या आप स्टूडियो कभी गये थे, और उनको फिल्म तैयार करते देखा था।

देवीजी बोलीं—बाबूजी तो कभी नहीं गए थे; लेकिन यह तो आप सबको मालूम है कि वे रात-दिन वहीं रहकर फिल्म तैयार करते थे।

बोली—अच्छा। अगर वह आयेंगे तो मैं उनसे कहूँगी।

हम लोगों में बात हो ही रही थी कि बाबूजी भी आ गये। मैंने कहा कि इन बिचारों में ऐसा किस्सा है, आप बोले—मैंने फिल्म तैयार करते नहीं देखा।

मैं बोली—आपको मालूम तो है ही कि वह रात-दिन फिल्म तैयार करता है। और उस बिचारे के लिए और कौन बैठा है।

आप बोले—बहू, आप उनको मेरे पास भेज देना, अगर वह सुलह चाहेंगे तो मैं सुलह करा दूँगा। झूठ नहीं बोल सकता, क्योंकि मैंने स्टूडियो में फिल्म तैयार करते नहीं देखा है।

वह बोलीं—बाबूजी वह तो लड़ने के लिये अमादा हैं, और आप सुलह कराने जायँ, तो आपका किसी प्रकार का अपमान हो तो हम लोग यह बर्दाश्त नहीं कर सकते।

वे बोले—बहू मुझे इसमें मान-अपमान का कोई सवाल नहीं है, अगर तुम्हारा हो तो मैं करने को तैयार हूँ। तुम जा करके उनको मेरे पास भेज तो दो।

बहू बोली—स्टूडियो में जितने आदमी हैं वह सब झूठी गवाही देने को तैयार हैं कि ५००) कर्ज दिया गया है। मय सूद के रुपया माँग रहा हूँ।

वह बोले—इसकी कोई बात नहीं। इन्सान तो इन्सान ही है। क्रोध में आकर कोई काम कर बैठता है, तुम जाकर उनको भेज दो।

वह तो चली गई। मैं बोली—बिचारी बहुत परेशान थी।

बोले—वह बहुत मोटा आदमी है जिसके यहाँ यह काम कर रहे थे।

मैं बोली—आप इनके लिए मदद ज़रूर कीजिए।

वह बोले—हाँ हाँ मैं ज़रूर मदद करूँगा, वह माने तो।

थोड़ी देर के बाद वह खुद ही आए। आप बोले—क्यों तुम उनसे सुलह करने को तैयार हो?

वह बोले—बाबूजी आप को तो मालूम ही है कि वह झगड़ा करने को तैयार बैठा है।

मेरी और उनकी बात जाने दो, तुम अपनी बतलाओ कि तुम सुलह करने को तैयार हो ?

वह बोले—मैं सुलह करने को तैयार हूँ। लेकिन कोई आपका अपमान करता हो तो मैं उसे सहने को तैयार नहीं हूँ।

वह बहुत हँसकर बोले—भाई मेरा कोई क्या अपमान करेगा। बहुत करेगा तो यही कहेगा न कि वह तो बेईमानी करने चला और आप उसकी पैरवी करने आए हैं। इसको मैं सुन लूँगा, यह कोई बात नहीं है।

ख़ैर, वह राज़ी हुए। आप बोले कि कल सुबह तुम मेरे पास आना तो हम तुम दोनों उनके पास चलेंगे।

वह महाशय बोले कि बाबू जी मैं आप के साथ न जाऊँगा बल्कि बाहर बैठा रहूँगा, जब बुलायेंगे तब अन्दर आऊँगा। खैर आप सुबह उठकर एक महाशय को और साथ लेकर फिल्म-मालिक के पास पहुँचे, और जाते ही जाते कहा कि क्या साहब तुमने यह बावेला मचा रक्खा है ?

वह बोला—कैसा बावेला ! आप मुझसे किस विषय में पूछ रहे हैं ?

आप बोले—भाई तुमने फिल्म तैयार करायी और जब उसने मज़दूरी माँगी तो आपने उसके ऊपर उलटा ४००) का दावा ठोंक दिया। मुझे आप से ऐसी आशा न थी।

वह बोले—पहले आप मेरा किस्सा सुन लीजिए। वह बहुत बदमाश आदमी है। भाई-चारा का नाता छोड़कर उसने मुझे नोटिस दी। अगर आप न आए होते तो आज मैं उसको बिना हथकड़ी पहनाए नहीं छोड़ता। मैंने सब ठीक कर लिया था। मगर मैं आप की दिल से इज़्ज़त करता हूँ। क्योंकि आप हिन्दी के सब से बड़े लेखक हैं। वह मेरे पास आये सिर्फ़ सुलह कराने के लिये। अब आप उनको बुलाइए, उनका कुल २४०) और निकलता है। उसका चेक देता हूँ।

आप ने उन महाशय को आदमी भेज कर बुलवाया। उन दोनों में सुलह करा के, रुपया दिलाने के बाद घर आए। मुझ से वहाँ का सारा क़िस्सा

बतलाया। और मुझसे बोले कि उसने आज शाम को न्योता दिया है, उस फिल्म को देखने के लिये। वह शाम को आएँगे और हम दोनों को फ़िल्म दिखाने के लिए ले जायँगे। मैं भी शाम को जल्दी आ जाऊँगा।

जिस तरह अन्य जगहों में आपसे मिलने वालों की कमी न थी, उसी तरह जब बम्बई गए, काफ़ी मिलनेवाले आदमी निकल आये। सुबह तो ५ बजे घूमने जाते, उसके बाद ७॥ बजे नाश्ता करते, पान लेते हुए अपने कमरे में चले जाते, 'काम करूँगा।' उस समय कोई न कोई आदमी जरूर ही आ जाता, अब वह जो काम करने वाला समय था, वह ले लेता। उसके बाद खाना खाकर आप स्टूडियो जाते, यह उनके जीवन का हमेशा का क्रम था। नतीजा यह होता कि जब मैं रात को जाती, तब वह दो-ढाई बजे उठकर उसी समय साहित्य का काम करते, दो-चार दिन मैंने वहाँ भी देखा। मैं बोली—आख़िर आप रात को क्यों उठ कर काम करते हैं। एक तो तबियत अच्छी नहीं रहती और दूसरे रात को उठकर काम करना, क्या आप अपने को मशीन समझते हैं? मैं गुस्से के साथ बोली।

आप बोले—तुम व्यर्थ में मेरे ऊपर नाराज़ होती हो, अब बताओ दिन को भी काम न हो और रात को भी न हो, तो काम कब हो?

मैंने कहा—मैं तो हमेशा से ही आपको इस तरह देखती चली आ रही हूँ, तुम अपने को हमेशा पीसा करते हो, तबियत ख़राब हो जाती है तो परेशानी मुझे होती है।

आप बोले—दिन में तो मिलने वालों से छुट्टी नहीं होती, कोई-न-कोई हमेशा ही आ जाता है, जब मुझे मालूम हो गया कि दिन का समय तो मिलने वालों के लिए ही होता है, तब अगर रात को भी काम न करूँ, तब काम कब होगा?

मैं बोली—तो आप मिलने वालों के लिए कोई वक्त रख दीजिए।

आप बोले—तुम्हीं बताओ कैसे वक्त रक्खूँ?

मैं बोली—तख़्ती में मोटे अक्षरों में लिखकर टँगवा दीजिये, कि मिलने का समय फलाँ है।

आप बोले—तो अच्छा, अब मैं भी बड़ा आदमी हो जाऊँ? तुमको खयाल है कि नहीं मैं जब एक मर्तबा महात्मा गान्धी से प्रयाग मिलने गया और महात्मा जी से न मिल सका था, उस समय मुझे कितनी झुँझलाहट हुई थी कि दो दिन का समय भी दिया, और उनसे मिल भी न सका। हालाँकि महात्मा जी बड़े आदमी थे, जिनके कि ऊपर झुँझलाहट नहीं आनी चाहिये थी, फिर भी मुझे झुँझलाहट आई, और तुमको भी। उसी तरह जब तुमसे कोई मिलने आयेगा, और फिर मैं कोई बड़ा आदमी भी नहीं, तब तुम सोचो कि वह अपने दिल में क्या कहेगा? फिर उसके साथ साथ यह भी है, वह बेचारा कितनी दूर से कितनी इच्छाएँ लेकर मुझ से मिलने आता है, वह अपने दिल में क्या सोचेगा? यही न सोचेगा कि यह भी बड़े आदमी हो गये, जिस बड़े आदमी के नाम से मैं खुद घबराता हूँ, वह इलज़ाम मेरे सर पर लगे, कितनी बुरी बात होगी। अरे भाई हमसे तो वही लोग मिलने आते हैं, जो कि हमारी ही तरह ग़रीब हैं।

मैं बोली—ग़रीब हैं या अमीर, सवाल तो यह है कि काम कैसे हो।

आप बोले—जैसे सारी ज़िन्दगी में चलता आ रहा है, उसी तरह चलता जायगा, इसके लिए अफ़सोस ही क्या है।

मैं बोली—तो आप रात को काम मत कीजिए। अब तो यहाँ तुमको तनख़ाह तो मिल ही जाती है, फिर अब काम क्यों इतना अधिक किया जाय?

आप बोले—फिर मैं अब काम ही कौन अधिक करता हूँ। सच कहता हूँ कि स्टूडियो में मैं दिन भर गप्पें लड़ाता रहता हूँ, काम कुछ भी नहीं करता।

मैं बोली—तब तुमको केवल गप्पें ही लड़ाने बुलाया होगा, उनको इतनी बड़ी बम्बई में कोई गप्पें करने वाला न मिलता रहा होगा।

आप बोले—सच कहता हूँ कुछ भी काम नहीं रहता, तुम मानती नहीं हो।

मैं बोली—मैं मानूँ वैसे, मैं आप की आदत को जानती हूँ। कितना ही पीसोगे, फिर भी मेरे सामने कहोगे कि काम नहीं करता हूँ।

आप बोले—सच बताओ, यहाँ जब तक रहूँगा, तब तक मान लो बैठे से काम चल भी जायगा, मगर जब यहाँ से चलने के लिए तैयार बैठी हो, तब वहाँ कैसे काम चलेगा, और मेरी आदत भी खराब हो जायगी। आदमी चाहे ग़रीब हो या अमीर, उसे अपनी आदतों को खराब नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिस आदमी की निठल्ले बैठने की आदत पड़ गई, तो समझ लो कि वह आदमी बेकार है। हर आदमी की जीत इसी में है कि कम ख़र्च करना और अधिक मेहनत करना। जिसको यह सबक़ आता है, वह किसी का ग़ुलाम नहीं हो सकता।

मैं बोली—यह तो आप की हमेशा की दलील है।

आप बोले—मेरी दलील नहीं है, मैं तुमसे सच बताता हूँ, जो आदमी जितनी ही अपनी जरूरत बढ़ाता जाता है, वह उतना ही ज़्यादा अपनी ग़ुलामी की बेड़ियाँ मज़बूत करता जाता है।

मैं बोली—कुछ हो, मैं रात को काम नहीं करने दूँगी।

आप बोले—नहीं करने दोगी, नहीं करूँगा।

मैं बोली—चोरी से आप जीत जायँगे।

आप बोले—क्या मुझे बावले कुत्ते ने काटा है कि जो मैं काम करता ही रहूँ? नहीं करूँगा, मुझे क्या पड़ी है।

उसके बाद एक दिन स्टूडियोवाले उनसे बोले—हमारे साथ आप इङ्गलैण्ड चलिए, एक साल के लिए। आप आ करके मुझसे कहने लगे, मुझसे स्टूडियोवाले कहते हैं कि एक साल के लिए इङ्गलैण्ड चलिए, वहाँ फ़िल्म तैयार करेंगे, और फिर एक साल वहाँ रहकर लौटने के बाद, मैं चाहे जहाँ काम करूँ, मुझे दस हजार रुपया साल देते रहेंगे। पाँच फ़िल्मों के लिए मुझे कहानियाँ तैयार करनी होंगी। एक तरह से ठेका समझ लो।

मैं बोली—मैं नहीं जाने देना चाहती, मैं नहीं जाने दूँगी।

आप बोले—तुम्हारा नुक़सान ही क्या है ?

मैं बोली—नुक़सान कुछ भी न हो मगर मैं जाने नहीं दूँगी।

आप बोले—मैंने उनसे कहा था कि वह मुझे नहीं जाने देंगी। उसके लिये कहते थे, कि उनको भी साथ लेते चलिए, हम उनको भी ख़र्च देंगे।

मैं बोली—मैं न जाऊँगी, न जाने दूँगी।

आप बोले—तुम्हारा इसमें नुक़सान ही क्या है, तुम्हारे बच्चे यहाँ पढ़ते रहेंगे।

मैं बोली—पढ़ते रहेंगे, मैं सबको छोड़ करके वहाँ जाऊँ ?

तो आप बोले—मुझे ही अकेला जाने दो, हमीं हो आएँ। सच कहता हूँ, बहुत अच्छा मौक़ा है, हमेशा के लिए हमको छुट्टी मिल जायगी, आराम से बनारस में बैठे-बैठे काम करता रहूँगा।

मैं बोली—सब इसी तरह चलता रहता है।

आप बोले—मज़दूरी करने में कुछ तो भी आराम मिलेगा, ऐसे घर बैठे-बैठे क्या मिलेगा ? उधर काम भी नहीं करने देना चाहती हो, इधर बाहर भी नहीं जाने देना चाहती हो। तो फिर बतलाओ कैसे काम होगा ?

मैं बोली—इसी तरह काम चलता रहेगा, न मैं आपको जाने देना चाहती हूँ, न बच्चों को छोड़ना चाहती हूँ।

फिर बोले—मज़दूरी करने दो, यही सबसे आसान है।

कोई समय यह था, कि एक साल को छोड़ना भी मुशकिल था, अब वही मैं हूँ, जो कि मालूम नहीं कितने दिनों तक मुझे यहाँ अकेले रहना है। और न उन्होंने मुझसे पूछा, कि जायँ या नहीं। और यह सब दो साल के अन्दर। वह महान पुरुष मुझे छोड़कर चला गया, और मैं बैठी हाथ मलती रही। इसके पहले मुझे मालूम न था कि इतनी जल्दी मुझे इस हालत में छोड़ करके वे चले जायँगे। इसको तो ज़्यादातर वे ही महसूस करेंगे, जिन्होंने कि इस विषय में कुछ भी अनुभव किया होगा। आदमी के हाथ में कुछ है नहीं, फिर भी वह अपने को बहुत कुछ लगाता है। उसी में एक मैं

भी हूँ, इसीलिए वह महान आत्मा जिसकी महानता को मैं कभी समझ न पाई, और कैसे समझती ? पहले तो यह था कि, वह महान सबके लिए कुछ भी रहे हों, मेरे तो अपने थे, और मैं उनकी थी। हम दोनों के बीच में महानता कहाँ ठहर सकती है ? क्योंकि जहाँ घनिष्ठता हो जाती है, वहाँ महानता नहीं रहती, क्योंकि अपनापा उससे भी बड़ी चीज़ है, इसी लिए वह उसके बीच में रहना नहीं चाहती। शायद इसी लिए मेरे दिल में यह ख़याल न आया। इसी में अन्धी होकर मैं उनके ऊपर हमेशा शासन करती और वह ख़ुशी से मेरा शासन मानते, उसी तरह जैसे महान् पुरुष के सामने नन्हा-सा बच्चा उनकी पीठ पर मार-मारकर भाग जाता है, और वह महान् पुरुष उस पर हँस देता है। वह भी मुझे कभी-कभी पागल कह देते थे कि तुम पागल हो ; मगर उस पागलपन में जो ख़ुशी थी, वह मुझे अब जब कि मुझे कोई पागल कहनेवाला नहीं...तो मैं सौ पागलों में एक पागल हो गयी हूँ, और सचमुच मैं पागल हूँ, क्योंकि अपने पागलपन में, सब शायद भूली बैठी हूँ, नहीं कोई समझदार आदमी, मेरी हालत में बैठ नहीं सकता था, इसी लिए मैं कहती हूँ कि मैं पागल हूँ, और मुझे दुनिया भी पागल समझे।

मद्रास-भ्रमण

आपको मद्रास की हिन्दी-प्रचार सभा ने बुलाया था। आप आकर, मुझसे बोले—चलो हम तुम मद्रास घूम आयें।

मैं बोली—किस लिए ?

आप बोले—हिन्दी-प्रचार-सभावालों ने बुलाया है।

मैं बोली—ख़र्च बहुत पड़ेगा।

आप बोले—देखा जायगा। मैं चलने के लिए तैयार हो गई।

मेरी भी इच्छा मद्रास देखने की थी। दिसम्बर का महीना था, १९३४। हम लोग चार आदमी चले। हम दो थे, तीसरे नाथूराम 'प्रेमी', एक चौथे मद्रासी सज्जन।

गाड़ी पर सवार हुए। ४-६ ही स्टेशन गये होंगे कि मेरे सर में ज़ोरों का दर्द होने लगा। गाड़ी इस बुरी तरह भरी थी, कहीं लेटने की जगह न थी। पहले मैं ज़ब्त किये बैठी रही। मगर जब किसी तरह न रहा गया, तो मैंने आपसे कहा कि मेरे सर में बुरी तरह दर्द है। मैं बैठ नहीं सकती।

आप बोले—मैं अभी तुम्हारे लिए इन्तज़ाम किये देता हूँ।

मैं बोली—मुझे ज़नाने डिब्बे में बिठाल दीजिए।

आप बोले—नहीं, रात का समय है। फिर वहाँ कोई देख-भाल करने-वाला भी नहीं है। और फिर अकेले मैं बैठने नहीं दूँगा। मान लो कि तुम्हारी तबियत ज़्यादा ख़राब हो, तो वहाँ कौन है? 'प्रेमी'जी से बोले—आप मेरा और अपना बिस्तर ऊपर कर दीजिए। इनके सर में बहुत दर्द हो रहा है। फिर अपने हाथ से होल्डॉल खोलकर मेरे लिए बिस्तर तैयार कर दिया।

मुझसे बोले—तुम्हारे पास तेल भी था, तेल ले आई हो अपने साथ?

मैं बोली—तेल क्या कीजिएगा?

बोले—सर में मालिश करूँगा।

मैं बोली—नहीं, यह तो बहुत भद्दा मालूम होता है। बोले—कुछ भद्दा नहीं है, तबियत ख़राब हो तो क्या किसी की दवा न हो? कुछ नहीं, तुम्हें धूप लग गई है। देखो मैं अभी मालिश किये देता हूँ, तुम्हें नींद आने पर आराम मिल जायगा। मेरे बहुत रोकने पर भी वह नहीं रुके और तेल निकालकर मेरे सर में मालिश करने लगे। वाकई मुझे आराम मिला और मैं सो गई।

'प्रेमी' जी और आप तथा मद्रासी सज्जन दस बजे के करीब जब खाना खाने लगे, तो 'प्रेमी'जी ने बहुत चाहा कि मुझको जगाकर खाना खिला दिया जाय।

आप बोले—नहीं, जिसको तकलीफ़ हो और नींद लग जाय तो उसको कभी नहीं जगाना चाहिए। वास्तव में उनको बहुत अधिक तकलीफ़

रही है। मामूली दर्द में कहनेवाली जीव ये नहीं, इनको सो जाने दीजिए। मैं सोती रही। सारी रात गाड़ी चलती रही, मुझे ख़बर नहीं।

जब सुबह छः बजे गाड़ी मद्रास पहुँची, तब मुझे आपने जगाया। मैं सुबह उठी तो मेरी तबियत ताज़ी थी। स्टेशन के प्लेटफार्म पर कोई २०० के क़रीब स्त्री-पुरुष पहले ही से मौजूद थे। सबों के हाथ में हार थे। किसी के हाथ में गुलाब का हार, किसी के हाथ में कपूर का, जो ख़ासकर मद्रास ही में बनते हैं। हम तीनों आदमियों को उन्होंने हारों से लाद दिया। ऐसा स्वागत मैंने इसके पहले नहीं देखा था। फिर हम तीनों आदमियों को ले जाकर एक मारवाड़ी सज्जन ने अपने यहाँ ठहराया।

जब हम लोगों ने ग्यारह बजे रात को फ़ुर्सत पायी, तब आप मुझसे बोले— देखो, इन प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार कितने ज़ोरों पर हुआ है। यह सब महात्मा गान्धी के कामों का फल है। जो भी काम वह अपने हाथों में लेते हैं, वही सफल हो जाता है। सबसे ज़्यादा अँग्रेज़ी पहले यहीं पर सीखी गई। हमारे प्रान्तों में अच्छे-अच्छे ओहदों पर मद्रासी हैं। आज वही हिन्दी के पीछे दीवाने हो रहे हैं। मेरे ख़याल में स्वागत करने के लिए कम-से-कम २०० से ऊपर रहे होंगे। इसके माने यह हैं कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। एक बार हिन्दी-प्रचार-दल हमारे प्रान्तों में गया था। यहाँ जितनी स्त्रियों को हमने देखा, हमारे प्रान्तों में शायद ही कोई एक दो स्त्री इन लोगों का स्वागत करने आई हो। यहाँ हमने देखा, जैसा मालूम होता था कि कबकी पुरानी मित्रता है, और न जाने कब की परिचित हैं।

मैं बोली—मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जितनी शराफ़त और जितना अपनापन इन लोगों में है, उतना क्या, उसका एक हिस्सा भी हममें नहीं है। जिस समय बनारस में प्रचार-दल गया था, उस समय तक मेरी पाँच-छः कहानियाँ तामिल और तेल्गू में अनूदित हो चुकी थीं। फिर भी मैं बनारस में रहते हुए भी इनके स्वागत करने के लिए स्टेशन न गई थी, तो फिर औरों के लिए क्या कहूँ।

आप बोले—नहीं, हमारा प्रान्त ही ऐसा है।

मैं बोली—सब कोई करे, मगर जिस काम को हम बुरा समझते हैं, बुरा समझते हुए भी हम करें, तो इसके मानी हैं कि हम सबसे ज़्यादा गुनहगार हैं। बम्बई से चलते समय मैंने सोचा था कि किसी अजनबी जगह जा रही हूँ, जहाँ अपना कोई न होगा। मगर यहाँ आने पर, और इन बहिनों की शराफ़त देखकर, अब ऐसा मालूम होता है, जैसे मैं अपनी ही बहनों के बीच में आ गई हूँ।

आप बोले—भाई यही तो इन लोगों में ख़ास बात है।

मैं बोली—नहीं, यह मुझसे कहीं ऊँची हैं।

दूसरे दिन मीटिङ्ग थी, जिसमें शामिल होने हम लोग गये थे। पहले तो मीटिङ्ग हुई। उसके बाद, अन्य प्रान्तों के लोग जो वहाँ आबाद हुए हैं, या जो वहाँ काम करते हैं, उन्होंने वहाँ के लोगों की शिकायत करना शुरू किया कि साहब हमारी तो यहाँ कोई पोज़ीशन नहीं है।

आप सबों को जवाब देते हुए बोले—भाई! पोज़ीशन तो उस हालत में होती है जब बहुत संख्या में किसी पढ़े-लिखे आदमी एक जगह रहते हैं, तब अपनी पोज़ीशन बनाते हैं, और तभी पोज़ीशन बनती भी है। हमारे प्रान्तों के पढ़े-लिखे आदमी तो यहाँ नहीं के बराबर हैं, इसी वजह से यहाँ अभी पोज़ीशन नहीं बन पाई। हमारे प्रान्तों में पढ़े-लिखे आदमी तो घर-घुस्सू होते हैं। अब रहे मज़दूर और रोज़गारपेशा। इनको अपने रुपए कमाने की फ़िक्र होती है, इनको पोज़ीशन बनने न बनने की कोई चिन्ता ही नहीं होती। पोज़ीशन तो बनाने की चीज़ होती है। और जब वह बनती है तो कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। इस प्रान्त के जो सज्जन अन्य प्रान्तों में जाते हैं, तो आप अपनी पोज़ीशन वहाँ बनाते हैं। हमारे प्रान्तों में अँग्रेज़ी अख़बारों के एडीटर कोई-न-कोई मद्रासी सज्जन ही रहते हैं। कुछ स्कूलों के प्रिन्सपल भी हैं। डाक्टरी में भी ज़्यादा तादाद में मद्रासी सज्जन ही हैं। इसका प्रधान कारण वहाँ सबसे पहले अँग्रेजी भाषा का प्रचार होना है। जैसे मद्रासी सज्जनों ने पहले

अँग्रेजी सीखने में परिश्रम किया, उसी तरह हिन्दी में भी बाज़ी ले जायँगे।

दूसरे दिन हम एक बहुत ऊँची कमान को देखने गये। यह बहुत पुरानी कमान है। आपने लोगों से पूछा कि आख़िर इसका इतिहास क्या है? लोगों ने बताया—साहब इसका पता नहीं कि यह कब और क्यों बनी, कई दफ़े इसको तोड़ने की कोशिश की गई कि आख़िर यह नीचे कहाँ तक है, मगर इसका कुछ पता नहीं लगा। इसके ऊपर हम कोई पन्द्रह-सोलह आदमी चढ़े। जब उस पर खड़े हो गये तो पैर से दबाने पर कमान दबती थी, लचकती थी। आप कुछ ही दूर गये और सर थामकर बैठ गये। मैं आगे निकल गई थी। आप दोनों हाथों से सर थामकर बैठ गये। बोले—मेरा सर चक्कर खा रहा है। मैं उनको बैठे देख आगे से लौट पड़ी और पास बैठकर बोली—कैसी तबियत है?

जब मैं उनके पास बैठ गई, तो मुझे घबराई देखकर वे बोले—कोई घबराने की बात नहीं है। यह कमान जो लचती है, वजह से शायद मेरे सर में चक्कर आने लगा है, ठीक हो जायगा, मैं नीचे उतर जाऊँगा।

मैंने चाहा कि उनको नीचे उतार आऊँ, क्योंकि मुझे डर लग रहा था कि कहीं यह गिर न पड़ें।

आप बोले—कोई घबराने की बात नहीं है।

तब तक दो मद्रासी सज्जनों ने आपका हाथ पकड़कर नीचे उतारा।

ख़ैर, उसको देखने के बाद हम दोनों चामण्डी का पहाड़ देखने गये। वह भी बहुत ऊँचा था मगर वहाँ तक मोटर चक्कर काटती हुई जाती है। मैं वहाँ भी डर रही थी कि कहीं यहाँ भी आपके सर में चक्कर न आये।

मैंने कहा—तो आप ऊपर न जाइए।

आप बोले—इसको कोई बात नहीं है, कमान जो वहाँ लचती थी, इसी वजह से मेरे सर में चक्कर आया था। अब यहाँ कोई डरने की बात नहीं है।

इसी तरह छः दिन मद्रास में जाते हुए मालूम भी न हुए। उस समय मुझे कितना गर्व था और कितनी ख़ुशी थी। लोग उनको अपनाते थे, मुझे

ख़ुशी इस बात में होती थी कि यह मेरे हैं। मद्रास ही में मैसूर से एक सज्जन आये और मैसूर चलने के लिए न्योता दिया।

छ दिन रहने के बाद जब मैसूर गई, तो वहाँ भी इसी तरह का स्वागत और इसी तरह का उत्साह। वहाँ पर मैसूर रियासत के मन्त्री खास उत्साही आदमी मिले। वहाँ पर अलीगढ़ के एक सज्जन थे, उन्होंने बहुत आग्रह करके अपने यहाँ ठहराया। मैसूर वास्तव में बहुत ही सुन्दर, रमणीक जगह है। हम लोग रात को साथ बैठे।

आप बोले—जितना सुन्दर मैसूर है उतना सुन्दर शायद ही कोई शहर हो। मैंने तो इतना सुन्दर शहर नहीं देखा।

मैं बोली—मेरी इच्छा होती है कि हम लोग यहीं रुक जायँ।

वहाँ भी सभाएँ हुईं, मुझसे लोगों ने कहा कि आप भी कुछ बोलिए। उनकी सभ्यता और अपनापा देखकर तो मुझे ख़ुद मालूम होता था कि मैं कितनी ओछी हूँ और जो बहिनें हमारे प्रान्त में गईं हमने उनका स्वागत तक न किया। उन्हीं बहनों के बीच में ऐसा मालूम होता था कि हमारा उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुझे कहना पड़ा कि बहनो ! मैं तो यहाँ दूसरों को जानकर आई मगर आप लोगों के बीच में और आप लोगों की सज्जनता देखकर ऐसा मालूम होता है कि अपने ही परिवार में हूँ।

उनमें एक बूढ़ी औरत थी; उनकी उम्र कोई ६० की थी। मैं ने कहा कि मेरी तो इच्छा यह होती है कि लक्ष्मी अम्मां के पास बैठकर बहुत अच्छी-अच्छी ज्ञान की बातें उनसे सुनूँ और जो मैं बनारस में उनका स्वागत करने नहीं गई थी, उसके लिए उनसे क्षमा माँगूँ।

उसी जगह वह बैठी हुई थीं। उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ रखा और बोलीं—आप ऐसा क्यों कहती हैं ? मैंने उनसे कहा कि आप मुझे आप न कहें, मुझे तो आप 'तुम' कहें, बल्कि आप मुझे अपनी बेटी बना लें तो ज़्यादा अच्छा करें।

आप उसी जगह बैठे हुए थे। बोले—यही तो सबसे बेहतर होगा।

वाक़ई मेरी आँखों में आँसू आ गये थे। उन लोगों का ऐसा स्नेह था कि वह आज भी मेरे दिल में ताज़ा है। इसी तरह पाँच दिन हमें बीत गये। कई जगह दावतें खाईं और कई जगह जलपान किया। जितना ही वह लोग हमारे साथ सज्जनता करते थे, उतना ही हम लोग उनके स्नेह व आदर के बोझ से दबे-से जाते थे।

वहाँ से फिर बँगलोर जाने के लिए निमन्त्रण मिला। बँगलोर में इन प्रान्तों का कोई न था, इसलिए हम लोग मद्रासी सज्जन के यहाँ ठहरे। उनके यहाँ की स्त्रियाँ तब तक हिन्दी नहीं पढ़ी हुई थीं। न उनको हिन्दी आती थी, न मुझको अंग्रेज़ी। उस वक्त मुझे कुछ दिक़्क़त मालूम होती थी। मगर पुरुषों में यह बात न थी, पुरुष काफ़ी हिन्दी समझते थे, उनमें काफ़ी हिन्दी का प्रचार हो गया था।

आप मुझसे बोले—तुम्हें तो यहाँ बड़ी परेशानी हो रही है।

मैं बोली—कोई परेशानी तो नहीं है।

आप बोले—क्यों नहीं, स्त्रियों की ज़रूरत स्त्रियों में ही पूरी होती है।

बँगलोर के बाद रामेश्वरम के लोग भी बुलाने को आये। वे मुझसे बोले—चलो अब रामेश्वर चलें।

मैं बोली—रामेश्वर जाने की मेरी तबियत नहीं है। कहने लगे—उसमें क्या है, घूम आओ। मैं बोली—नहीं, मेरी तबियत अब सीधे बम्बई जाने की है। आप बोले—फिर मौक़ा मिले या नहीं, क़रीब आ गये हैं, चलना चाहिए। मैं बोली—नहीं, मेरी तबियत नहीं है।

आप बोले—आख़िर बम्बई में तुम्हारा कौन बैठा है, हम दोनों तो थे ही, सो दोनों साथ हैं। मैं बोली—वहाँ लोगों की चिट्ठी-पत्री तो मिलेगी। बेटी का न मालूम क्या हाल है, उसको बच्चा होने को था। आप बोले—तो अच्छा, नहीं चलने का विचार है? मैं बोली—नहीं।

हम इन तीनों जगहों गये और तीनों जगहों में हर जगह ५-६ दिन तक रहना हुआ, इस पर भी उन लोगों की तबियत नहीं भरी। सब लोगों ने

यही कहा कि साहब, और दिन ठहरते तो अच्छा मालूम होता। यह थोड़े से दिन हम लोगों के सामने से निकल गये। हमारी इच्छा नहीं होती कि आपको जाने दें। सब लोगों से यही वादा किया कि हम लोग गर्मी में आयेंगे, जब मेरे बच्चों की छुट्टियाँ हो जायँगी। तब अगली बार हम पूरे परिवार के साथ आयेंगे। और तब कमसे-कम एक जगह १५ दिन तक ठहरेंगे।

जब हम दोनों आदमी रात को इकट्ठा हुए, तो आप मुझसे बोले—देखो यह कितना सुन्दर प्रान्त है, यहाँ के आदमी कितने सभ्य और कितने सज्जन हैं। हम लोगों को ऐसा मालूम होता है, जैसे हमेशा के मिले-जुले आदमी हों। अबकी बार जब हम आयँगे तो बेटी और बच्चों को ज़रूर ले आयेंगे। उन बिचारों को भी दिखा देंगे, तब यहाँ का आना बहुत अच्छा लगेगा। यहाँ रहने में बहुत आनन्द आयेगा।

मैं बोली—अच्छा यों भी मुझे लगता है।

आप बोले—नहीं, यह स्वाभाविक बात है, जब बच्चे अपने घर से दूर रहते हैं, तब कुछ अपने में कमी आ जाती है। और चिन्ता भी बनी रहती है, अब इसी लिए तो तुम्हारी आगे जाने की इच्छा नहीं हो रही है। बेटी को बच्चा होनेवाला था। न मालूम उसकी क्या हालत है।

जब हम वहाँ से चले, सब लोग स्टेशन पर पहुँचाने आये। और पूना से एक महाशय का पत्र आया कि आप मेरे यहाँ लौटती बार अवश्य आएँ।

आप मुझसे बोले—चलो, पूना भी चलो।

मैंने कहा—मेरी तबियत नहीं लग रही है, सीधे बम्बई चलो।

आप बोले—वह चालाक आदमी है। वह तुम्हारे मकान की चाभी भी लेता आया है और लिख भी दिया है कि चाभी इसी लिए लेते आया हूँ जिसमें आप इधर अवश्य आयें। जैसे २५ दिन बाहर बिताये, उसी तरह दो दिन तो जरूर उनके मेहमान बनेंगे।

मैं बोली—जब ऐसा है तो चलना ही है। मगर यह होता है कि जितनी ही जगह जाओ, उतने ही अपने होते जाते हैं। उतनी ही सबकी मुहब्बत

होती जाती है, उतनों ही के साथ अपना अपनापा होता जाता है। उतने ही ज़्यादा बन्धन हमारे बँधते जाते हैं।

आप बोले—इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है। थोड़े दायरे में न रह कर अगर विशाल दायरे में चला जाय, तो मेरे ख़याल में तो कोई नुकसान नहीं, फ़ायदा ही है।

मैं बोली—फायदा कुछ भी हो, अपनी आत्मा को तो तकलीफ़ होती है। मान लीजिए मेरी इच्छा सबको देखने की है, मैं रहूँगी बनारस, और यह लोग इतनी दूर, बतलाइए इनसे कैसे मिलूँ।

आप बोले—मेरा भी तो वही हाल होगा।

मैं बोली—पुरुषों को ऐसा नहीं होता। आपका पत्रव्यवहार सबसे होता रहेगा। कभी आप इधर चले आयेंगे, कभी वह लोग बनारस आयेंगे तो मिल लेंगे। मगर मेरे मिलने के लिए कौन दौड़ा जायगा, और मुझे कहाँ-कहाँ आना होगा।

आप बोले—जब मैं आऊँगा तो तुम मेरे साथ अवश्य आना। और जब यह लोग उधर जायँगे, तब तुम तो मिलोगी ही।

वहाँ से चलकर हम पूना आए। मगर उन लोगों की भी खातिर देखकर बड़ी तबियत ख़ुश हुई, क्योंकि वह भी स्त्री पुरुष दोनों मेरे बहू और बेटे बन गये। और जब वहाँ से चली तो मुझे वही तकलीफ़। यहाँ तक कि उस बेचारी ने हम लोगों के लिए खाना भी रख दिया था। वादा करवाया कि हम किसी छुट्टी में फिर पूने आयें। फिर पूना जाने का मौका न मिला, और पूना तो क्या, कहीं भी जाने का मौक़ा न मिला। हाँ वह लोग जो कहते थे कि सपने में ५ दिन बीत गये, उनको सपने के वह दिन याद हैं या नहीं, मालूम नहीं। हाँ, मेरे लिए तो शायद, जब तक जिन्दा रहूँगी, तब तक वह मनोहर सपना याद रहेगा, और जब-जब याद पड़ेगा, तब तक घंटे दो घंटे के लिए सब का वह स्नेह मुझे बेचैन कर देगा। और शायद वह सपना, इस जीवन में फिर देखने को न मिलेगा, और कैसे मिले जब मैं

वह चीज़ ही न रह गई तो वह सपना कैसा। और अब उस सपने की मेरी ख़्वाहिश हो तो वह शायद मेरा पागलपन होगा। फिर भी मैं कहती हूँ : ख़ैर, मुझे जो सपना देखने को मिल गया उसके लिए भी ईश्वर को धन्य-बाद है। नहीं, मैं ऐसी भाग्यशालिनी न थी।

उसके बाद जब मैं घर पहुँची, मुझे घर पर पहुँचा कर आप बोले—अच्छा, अब मैं स्टूडियो जाता हूँ। मैं बोली—नहा तो लीजिए। आप बोले—नहाने लगूँगा तो देर होगी। मैंने कहा—देर होगी तो क्या होगा। आप बोले—नहीं, जिसके लिए तुम घबराई हुई आई हो, वहाँ जाकर देखूँ, लोगों के पत्र आये होंगे। बेटी का भी हाल मालूम होगा। अभी मैं लौटा आता हूँ। सिर्फ़ चिट्ठी ही लेने तो जा रहा हूँ।

थोड़ी देर बाद, एक घंटे में वह आ गये। मुझसे बोले—बेटी के यहाँ से तार आ गया है। तार में लिखा है बेटी और बच्चा ख़ैरियत से हैं। बच्चों का भी ख़त आया है, सब ख़ैरियत से हैं। बेटी के बच्चा आठ ही तारीख को हो गया है। तभी तुम्हारी तबियत वहाँ नहीं लग रही थी। बेटी की तबीयत ख़राब रही होगी, बार बार तुम्हारी याद करती रही होगी। तभी तुम भी वहाँ परेशान थीं।

उसके बाद हम लोगों ने अप्रैल के महीने में बम्बई से प्रयाण किया। यह सन् '३५ की बात है।

जब वहाँ से चलने लगे, तब आप बोले—चलो बाज़ार हो आवें। और बच्चों के लिए कुछ सामान ले लें।

मैं बोली—तब आप जाते क्यों नहीं हैं?

वह बोले—आख़िर यहाँ बैठी क्या करोगी? तुमको भी तो कुछ लेना होगा।

तब उनको याद पड़ा। बोले—बेटी के लिए नाक में पहनने के लिये लौंग लेनी है।

वह लौंग का क़िस्सा ऐसा था। रक्षाबन्धन पर बेटी बम्बई में ही थी। रक्षाबन्धन के दिन बोले—बेटी क्या लोगी?

बेटी बोली—जो आप देंगे वही। जब तक वह कह ही रही थी, तब तक ज्ञानू उसकी ओर लपका आया। बेटी उनके सामने शर्म से बच्चे को छूती न थी, इसी ख़याल से कि बच्चा गोद में चला आयेगा। वह अपने कमरे में चली गयी।

आप मुझसे बोले—बेटी से कहो कि लौंग क्यों नहीं लेती। यहाँ हीरे से जड़ी लौंगें बहुत अच्छी होती हैं। तब उसी जगह से बेटी ने आवाज़ दी कि जब आप को ले ही आना है, तब मुझसे पूछने की क्या ज़रूरत है।

तब आप बोले—मैं ले भी न आता तो तुझे मुझसे लड़ाई करना चाहिए था।

मैं बोली—तो क्या लड़ाई करना भी अच्छा होता है?

तो आप बोले—बहिन और बेटियाँ अपनी दस्तूरी माँगने में झगड़ा भी करती हैं तो मुझे तो अच्छा मालूम होता है।

मैं बोली—जो ग्रामगीत-संग्रह के गाने आपने सुने हैं, शायद उसीसे आपको भी झगड़ा अच्छा मालूम पड़ने लगा है।

बोले—हाँ, बेचारियों ने अच्छे-अच्छे गाने बनाये हैं, तो क्या उन्होंने यों ही बनाये हैं? हमारे यहाँ तो अँग्रेज़ियत आकर चौपट कर रही है। जैसे मालूम होता है कि वह हमें भावुकता से बहुत दूर लिये जा रही है।

यही क़िस्सा था लौंग का।

तब हम दोनों बाज़ार गए। बेटी के लिए १२५) की लौंग ली, उसके लिए एक चूँदरी ली। और छः चूँदरी और लीं। छोटे बच्चे बन्नू के लिए हाथ की घड़ी ली। मुझसे कान के फूल के लिए बोले—यह फूल तुम ले लो।

मैं बोली—फूल लेकर क्या होगा?

आप बोले—बहुत ख़ूबसूरत है, ले लो, कान में पहनना।

मैं बोली—मुझे ज़रूरत नहीं है। बोले—मैं कहता हूँ ले लो, बहुत अच्छा है। मैं बोली—क्या क़ीमत है इसकी?

आप बोले—बहुत दाम का थोड़े ही है। ७४०) रुपए का तो है ही।

मैं बोली—७९०) मुफ्त में आते हैं? बोले—मुफ़्त में नहीं आते, तो तुम्हारे पास रुपये तो हैं।

मैं बोली—रुपये हैं तो बैंक में रहेंगे, इसे लेकर होगा क्या?

वहाँ से तो चले आए। घर आने पर बोले—आख़िर तुमने फूल क्यों नहीं लिया? मैं बोली—आख़िर फूल लेकर होता क्या? आप बोले—पहनतीं और होता क्या?

मैं बोली—मैं तो कसम खाये हूँ। वह तो आप को मालूम ही है। जिस साल महात्मा जी गोरखपुर में आए थे, उसी समय मैंने कसम खाई थी, और महात्मा जी ने स्त्रियों की मीटिंग में कहा था, जिस देश के मनुष्यों की कमाई का औसत ~)॥ हो, उन स्त्रियों को ज़ेवर पहनने का हक ही क्या है। उन स्त्रियों को ज़ेवर नहीं पहनना चाहिए। ज़ेवर पहनती हैं, तो इसके माने हैं—चोरी करती हैं। उस समय बहुत सी स्त्रियों ने ज़ेवर के लिये कसम खाई, उस समय मैंने भी क़सम खाई। अब जो आप ने लखनऊ में हार बनवाया था, वह भी ज्यों का त्यों रक्खा हुआ है। यह फूल ले लूँ, तो इसको भी सन्दूक में रखना पड़ेगा। उससे तो कहीं अच्छा है, बैंक में रुपया रक्खा रहे, सन्दूक़ में रखने की ज़हमत से छुट्टी मिली। और बैंक कुछ तो रुपये का सूद देंगे ही। आप मुझे वह रास्ता बताते हैं, जिसमें ज़हमत तो है, मगर आराम कुछ भी नहीं।

आप बोले—अगर यही था तो उस साल मेरे लिए इलाहाबाद से अँगूठी क्यों ले आईं थी? आख़िर अँगूठी के रुपये दिये या नहीं? जब क़सम खाई थी, तो तुम्हें ख़रीदना ही नहीं चाहिये था, मैं तो तुम्हारा कहना मान लूँ और तुम न मानो?

मैं बोली—कौन सी ऐसी बात है, जो मैं नहीं मानती? हाँ जेवरों के लिये क़सम खाई है, उसमें।कहना कैसे मानूँ? मैं जब प्रतिज्ञा कर चुकी कि मैं ज़ेवर नहीं पहनूँगी, तो उसको कैसे टालूँ? बल्कि इसमें तो आपको मेरी मदद करनी चाहिये।

आप बोले—मदद की क्या बात है। प्रतिज्ञा करने के माने तो यह थे, कि उस दिन से किसी के लिये जेवर बनवातीं ही नहीं।

मैं बोली—तो इसके लिये मैंने थोड़े ही क़सम खाई थी। बाल-बच्चे वाली ठहरी, मैं ख़ुद नहीं पहनूँगी तो क्या लड़के लड़की न पहनेंगे?

आप बोले—मैं क्या बच्चा था, जो मेरे लिये अँगूठी खरीद कर लाईं, जो अब तक मेरे हाथ में मौजूद है?

मैं बोली—बच्चे ही को कोई थोड़े प्यार करता है, प्यार के लिये बच्चे भी होते हैं, और अपने बड़े भी होते हैं।

इसी लिये तुमको भी कहना मानना चाहिये। मैं तुम्हारी सब बातों को मान लेता हूँ।

मैं बोली—इसको छोड़ कर कौन सी ऐसी बात है जिसे मैं नहीं मानती? जो बात थी, वह सब आपको बतला ही चुकी। इसके लिये आप मुझे क्षमा भी करेंगे।

आप बोले—तुम तो ख़ासी पागल हो।

सुबह के समय हमारे घर का सब सामान माल गाड़ी से भेजने के लिए पैक हो रहा था। आप के कई मित्र आए थे, जो यू० पी० के थे, वह सब सामान मालगाड़ी से भेजने के लिये तैयार कर रहे थे। आप को एकाएक याद आई कि ज्ञानू की गाड़ी रह गयी।

मुझसे बोले—अच्छा, ज्ञानू की गाड़ी तो बाकी रह गई।

मैं बोली—जाने भी दीजिये। इलाहाबाद में ले ली जायगी।

आप बोले—यहाँ गाड़ियाँ अच्छी मिलती हैं, उसमें हर्ज ही क्या है, मुझे रुपया दो, सब सामान तो जा ही रहा है, उसके साथ वह भी चली जायगी।

मैं बोली—किराया देने से फ़ायदा?

आप बोले—कैसे कहती हो, वहाँ चीज़ भी अच्छी नहीं मिलेगी, और रुपया भी ज़्यादा लगेगा।

मुझसे रुपये लिये। और जाकर अपने हाथ से गाड़ी ले आए। गाड़ी लेकर जब घर आए तो बोले—देखो, यह ४०) की गाड़ी वहाँ ६०) के नीचे न मिलेगी, किराया बहुत लगेगा तो ४)-५) रुपया लगेगा।

मैं बोली—ठीक है।

आप बोले—अब सबके लिये सब ठीक सामान आ गया।

मैं बोली—आपके लिए तो कुछ आया ही नहीं। हँस कर बोले—अच्छा हुआ, हम तुम दोनों बट्टे खाते गये। न तुमने कुछ लिया न हमने कुछ लिया।

जब हम लोग बम्बई से चलने वाले थे, माखनलाल चतुर्वेदी का खँडवा से पत्र आया। उन्होंने लिखा था कि आप खण्डवा आइये। आप मुझसे बोले—चलो, खण्डवा चलें। जब हम लोग खण्डवा पहुँचे, पण्डितजी कई आदमियों के साथ पहले से स्टेशन पर मौजूद थे। जब उनके मकान पर हम लोग पहुँचे, पंडित जी ने हम लोगों के लिये एक कमरा पहले ही से तैयार कर रक्खा था।

पंडित जी किसी काम से बाहर चले गए। हम ही दो आदमी रहे। मैं उनसे बोली—क्या, पंडित जी के घर में कोई स्त्रियाँ नहीं हैं। आप बोले—मालूम तो यही होता है। अच्छा अभी आयें तो उनसे पूछो।

थोड़ी देर के बाद पंडित जी आए। मैं बोली—क्या साहब आपके घर में स्त्रियाँ नहीं हैं?

पंडित जी बोले—हमारी माता जी और हमारे भाइयों की स्त्रियाँ हैं।

आप बोले, हँसकर—सबसे पहले इनको अन्दर लिवा ले जाइये।

पंडित जी मुझे लेकर अन्दर गए और सब से जाकर परिचय कराया। पंडित जी की माता जी मुझे बहुत स्नेहमयी मालूम हुईं। वह मुझ से कुछ देर तक बातें करती रहीं। फिर मुझे अन्दर नहाने के लिये लिवा ले गईं। आप लोगों ने तो खाना बाहर ही खाया, और स्त्रियों ने मुझे खाना अपने साथ खिलाया। उसके बाद पण्डित जी हम लोगों को घुमाने के लिए ले गए।

दूसरे दिन सुबह पण्डित जी हम लोगों को जंगल में लिवा ले गये, नदी

का किनारा था, जो खण्डवा से १५-२० मील की दूरी पर था। वहाँ पण्डितजी ने हम दोनों आदमियों को डाल पर बिठाला और खुद भी बैठ गये। हम दोनों के हाथ में एक-एक सन्तरा रखते हुए बोले—अच्छा आप लोग इसको छील कर खाइये। हम इसी तरह से फोटो लेना चाहते हैं।

मैं बोली—मैं सन्तरा न लूँगी न खाऊँगी।

आप हँस कर बोले—सारे सन्तरे, टोकरी की टोकरी, इनके सामने रख दीजिये। तब ऐसा मालूम होगा कि यह बेच रही हैं और हम लोग खरीद कर खा रहे हैं।

मैं झेंपती हुई बोली—अगर आप ऐसा करेंगे तो मैं डाल से उतर जाऊँगी। मुझे इस तरह अच्छा नहीं मालूम होता।

यह दोनों आदमी हँस रहे थे और मुझे झेंप मालूम हो रही थी। ख़ैर सन्तरे हटा दिये गये, और मैंने हाथ में एक सन्तरा ले लिया। इसी तरह फ़ोटो ले लिया गया। फ़ोटो लेने के बाद हम लोगों ने सन्तरे ज़मीन पर बैठ कर खाये। वह भी बहुत सुन्दर जगह थी। घना जंगल, नदी का किनारा। अप्रेल का महीना था, मगर धूप बहुत तेज़ थी।

सन्तरे खा कर आपने उसी जगह पड़ी हुई एक लकड़ी में से एक लकड़ी तोड़ कर एक गुल्ली बना ली, एक डंडा। और गुल्ली-डंडा खेलने लगे।

पंडित जी बोले—कहो तो एक फ़ोटो इस तरह का भी लें।

आप बोले—नहीं साहब, आप ऐसा फ़ोटो लीजियेगा भी नहीं। नहीं लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे कि बुढ़ौती में इनको गुल्ली-डंडा खेलने की धुन कैसे सवार हुई।

मैं बोली—क्यों अपनी दफे क्यों बुरा लगने लगा, अभी तो आप मुझे सन्तरा बेचने वाली बनाते थे? आप गुल्ली डंडा खेलना क्यों बुरा समझते हैं? आपका गुल्ली डंडा अब भी गाँव में मशहूर है। सब ही तो गाँव में कहते हैं कि गुल्ला-डंडा बहुत अच्छा खेलते थे।

हम दोनों आदमी मोटर पर बैठे, आप गुल्ली-डंडे पर पंडित जी से बातें करने लगे—साहब, हम लोगों का जीवन अब दिन पर दिन बहुत मँहगा होता जा रहा है। बच्चों का खेल ही एक ले लीजिये, स्कूल और कालेज में जो खेल आज कल बच्चे खेलते हैं, वह बहुत मँहगा होता है। पहले गुल्ली-डंडा, गोली और इसी तरह के बहुत से खेल थे, जो कि पहले के लिए तो सबसे अच्छे थे और आज कल के खेलों को देखते हुए भी कम अच्छे न थे। उन खेलों में एक पैसा भी किसी का खर्च नहीं होता था। और इन खेलों में काफ़ी रुपये लग जाते हैं मगर कसरत के लिहाज़ से देखें तो दोनों बराबर हैं।

इसी तरह की समालोचना करते करते घर पहुँचे। पाँच दिन हम लोग खण्डवा में रहे। आप दो-तीन स्कूल में गए। दो दिन साहित्यिकों की मीटिंगें आपके सभापतित्व में हुई। मैं तो फिर उसके बाद बाहर घूमने नहीं गई, क्यों कि जो आनन्द मुझे माता जी के पास मिलता वह मुझे बाहर नहीं मिलता था।

आप बोले—चलती क्यों नहीं हो ?

मैं बोली—मुझे तो घर में ही अधिक अच्छा लगता है।

हँस कर बोले—अब तुम्हें कोई वहाँ सन्तरे बेचने वाली नहीं बनायेगा।

मैं बोली—इस डर से थोड़े ही नहीं जाती हूँ, मुझे यहाँ अच्छा ही लगता है। यहाँ माता जी हैं।

खँडवा से जिस रोज़ हम चले, उस रोज़ आप बोले—चलो सागर होते चलें। बेटी को भी देख लें।

मैं बोली—आपने चिट्ठी भेज दी होती तो अच्छा होता।

आप बोले—तार दे दूँगा। उसे भी साथ लेते चलेंगे। अगर नहीं बिदा करेंगे तो उन लोगों से मिल लेंगे।

मैंने कहा—यह ठीक होगा। हम लोग सागर पहुँचे।

वहाँ पाँच रोज़ तक रहे भी। आपके स्वागत में जगह-जगह मीटिंगें होती रहीं। गल्प-सम्मेलन भी हुए।

एक दिन गल्प-सम्मेलन में आप जा रहे थे तो बोले—तुम भी चलो और बेटी को भी लेती चलो।

मैं बेटी से बोली—चलो न तुम भी।

बेटी बोली—अम्माँ, यहाँ पर्दे की प्रथा है। ठीक न होगा।

मैंने कहा—बेटी न जा सकेगी। और मेरी भी इच्छा नहीं है।

आप बोले—चलो बैठो, क्या हर्ज है।

मैंने कहा—यहाँ लोग पर्दा करते हैं।

आप बोले—पर्दा कैसा! चलो।

मैं बोली—पर्दा अभी हटा कहाँ है?

"मेरे घर में तो पर्दा नहीं है।"

"समय के मुताबिक सब कुछ करना पड़ता है। मैं बूढ़ी ठहरी।"

"ख़ैर, तुम चलो।"

"नहीं मैं भी नहीं जाऊँगी।"

जब मैं नहीं गई तो वे वासुदेव के साथ गोदी में बेटी के बच्चे को लेकर गये।

पाँचवें रोज़ जब हम वहाँ से चलने लगे तो बड़ी करुणा उमड़ आई। बेटी रोने लगी। उसके बच्चे हम लोगों के साथ आने के लिए रोने लगे।

आप बोले—इस बच्चे को लेती चलो न। तुम्हारी भी तो वहाँ अकेली तबियत नहीं लगेगी।

मैं बोली—बेटी और घबरायेगी।

तब आप बेटी से बोले—रोती क्यों हो? इसी छुट्टी के बाद धुन्नू को भेजूँगा। मैं तो इसी ख़याल से आया था कि तुमको लेता चलूँ। मगर अभी शायद उनकी बहन आनेवाली हैं। ठीक भी है। वह बेचारी उतनी दूर से आयेगी और तुम्हें देख भी नहीं पायेगी। धुन्नू को बीस-पचीस रोज़ ही में मैं भेजूँगा।

वहाँ से हम लोग इलाहाबाद आये। स्टेशन पर एक रिश्तेदार कार लिये

खड़े मिले। आपने हँसते हुए पूछा—धुन्नू वग़ैरह कहाँ रह गये ? और तुम्हें कैसे ख़बर मिली ?

वे बोले—उन्हीं लोगों से तो। शायद उन लोगों को गाड़ी का टाइम न मिल सका हो।

'तो चलो, बोर्डिङ्ग-हाउस से उन लोगों को भी ले लें।'

यह कहते समय उनके चेहरे पर ऐसे भाव उभर आये थे कि जैसे अब ये बिना बच्चों के देखे नहीं रह सकते। मानों क़ैदी जेल से छूटकर घर के आदमियों को देखने को उत्सुक हो। सीधे कार से बोर्डिङ्ग-हाउस पहुँचे और दर्वाज़े पर आवाज़ लगाई। दोनों बच्चे स्टेशन आने को तैयार हो रहे थे। लड़के आये। वहाँ से चलकर दो दिन लूकरगंज में ठहरे।

मैं बोली—आप लूकरगंज ही ठहरेंगे ?

आपने हँसते हुए जवाब दिया—तो कैसे कहूँ कि नहीं चलूँगा।

दूसरे रोज़ आप मेरे भाई के यहाँ गये। पाँच दिन तक हम लोग वहाँ रहे। पाँचवें दिन मुझसे बोले—चलो, सोराँव तुम्हारी बहन से मिल आयें।

मैं बोली—ज़रूर चलिए।

हम दोनों वहाँ भी साथ-साथ गये। वहाँ भी पाँच दिन रहने के बाद हम लोग चलने को हुए तो बहन बोली—अभी न जाने दूँगी। बाबूजी, इन्हें छोड़ते जाइए।

आप बोले—यह तो मेरे साथ आपका अन्याय है। और कौन घर है ? यह तो वही बात हुई कि जैसे पिंजड़े में दो पंछी हों और उनमें से एक निकाल दिया जाय।

बहन बोली—मेरी इच्छा तो नहीं होती कि इन्हें जाने दूँ। मैं दस-पाँच दिनों में ही किसी के साथ भेजवा देती। आपको तकलीफ़ न होती।

मैं उस समय बोली—आप मुझे रहने न दीजिए ?

आपने मुझसे कहा—तुम रहना चाहो, रहो। तब मैं कानपूर हो आऊँ।

मैं बोली—बनारस ही न चले जाइए।

आप बोले—अकेले उस घर में मुझसे रहा न जायगा।

मैं बोली—आप तो प्रेस में रहेंगे।

आप बोले—आख़िर रात तो घर पर ही बिताऊँगा। जिस घर में तुम नहीं रहोगी, वहाँ मैं कैसे रह सकूँगा।

मैं बोली—अगर यह बात है तो चलो मैं चल रही हूँ।' बहन से मैंने प्रार्थना की कि छुट्टी दो।

हम दोनों बाहर आये। दिन भर वे घर रहते। प्रेस तो कभी शायद गये हों। मुझे घर पर अकेली छोड़ना वे बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

एक रोज़ शहर आ रहे थे। मुझसे बोले—तुम क्यों नहीं चल रही हो? तुम भी चलो।

मैं बोली—आप तो छापेख़ाने बैठेंगे, और मैं क्या करूँगी?

चलो हम तुम्हें बेनिया पर पहुँचा आयेंगे। उनकी अम्माँ से मिल लेना। आख़िर यहाँ दिन भर बैठी-बैठी क्या करोगी?

मैं बोली—नहीं आप ही जाइए।

बोले—मैं ही क्यों जाऊँ। काम होता रहेगा। कभी फिर चले जायँगे। मुझे जो ख़ुशी यहाँ मिलेगी, सो वहाँ कहाँ नसीब होगी। जैसे ग्यारह महीने से काम हो रहा है, वैसे ही होता रहेगा। मारो गोली।

मैं बोली—बिना मेरे आप नहीं जा सकते?

आख़िर आप उस दिन नहीं ही गये।

उसके पाँचवें दिन इलाहाबाद से ख़त आया कि धुन्नू को चेचक निकल आई है। शाम के सात बजे के लगभग आपको पत्र मिला। दिन को उस दिन हम एक कमरे में आराम कर रहे थे। मैं सो रही थी। दो बजे उनकी नींद खुली। धीरे से वे अपने कमरे में चले गये। दरवाज़ा धीरे से बन्द करते गये। उसी समय मैंने एक बड़ा डरावना सपना देखा। मुझे ख़्वाब में उनके बग़ल ही में सोने का ध्यान था। स्वप्न में मैं उनके पैर को अपने पैर

से खोदना चाहती थी, जिससे वे मुझे जगा दें। एकाएक दरवाज़ा खोलकर मैं उनके कमरे में गई। वे उस समय कुछ लिख रहे थे। मुझे घबराई हुई देखकर बोले—क्या है ?

'आप जगाकर आते। आज के सपने से तो मैं बिलकुल घबरा उठी हूँ।'

आप बोले—मुझे क्या मालूम कि तुम्हारी यह हालत होगी। इसी से मैं कहीं बाहर नहीं जाता।

शाम को जब धुन्नू की बीमारी का खत मिला तो बोले—कल सुबह जाना होगा।

मैंने कहा—मुझे भी लेते चलिए।

आप बोले—नहीं, उन्होंने लिखा है कोई घबराने की बात नहीं है। वहाँ कोई इक्का-ताँगा तो मिल न सकेगा। तुम कैसे पैदल चलोगी।

मैंने कहा—नहीं मेरी तबीयत नहीं लगेगी।' आपने आग्रह करते हुए कहा—मत जाओ। बड़ी तकलीफ़ पाओगी। मैंने कहा—मेरी तबीयत घबड़ाती रहेगी।

आप बोले—पिछले खत में उसे मैंने डाँटा भी था। बीमारी में उसे और दुःख उससे हुआ होगा।

"क्यों डाँटा था ?"

"वह फ़िज़ूल ख़र्चा करता है।"

"रुपये के लिए न डाँटा कीजिए।"

"आदत बिगड़ जायगी। उन्हीं लोगों को तो दुःख उठाना पड़ेगा। मुझ से कुछ कहा नहीं जा रहा है, न जाने कैसे होगा !"

हम दोनों सुबह पाँच बजे पैदल चले। कुछ दूर जाने पर इक्का मिला। गाड़ी छूट गई। तब हम लोग लारी से चले। ४॥ बजे शाम को हम लोग प्रयाग पहुँचे। देखा कि धुन्नू अच्छा हो रहा है। शाम ७॥ बजे तक उसी के पास हम लोग रहे। उस दिन हम लोगों ने कुछ नहीं खाया।

धुन्नू जब अच्छा हो गया तो उसी वक्त चौदह-पन्द्रह दिन की छुट्टी बोर्डिङ्

हाउस में हुई। बोर्डिङ्ग हाउस के नौकरों को उन्होंने दो दो रुपये इनाम दिये। हम लोग बच्चों को लेकर बनारस आये। बनारस स्टेशन पर एक ताँगे को धुन्नू ने इसलिए वापस कर दिया कि वह ज़्यादा पैसे माँगरहा था। वह दूसरा ताँगा बुलाने गया। दूसरे ताँगे को पटाकर लाने में उसे देर हुई। आप मुझसे बोले—देखती हो लौंडों को! अगर वह ग़रीब चार पैसे ज़्यादा ही ले लेता तो क्या हो जाता? ख़ुद कंजूसी नहीं करते। यह बड़ी गन्दी आदत है। संसार विचित्र है।

मैं बोली—आपकी तरह कोई साधु न बने तो! तब आप बोले—क्यों नहीं, बुरी बात है। जब हम दूसरों से ईर्ष्या करते हैं और अपना रोना रोते हैं तब दूसरों के साथ भी वही बर्ताव करना चाहिए। आदमी को अपनी तरह दूसरों को भी समझना चाहिये। फिर अगर ऐसी बात न हो तो दूसरों के मोटे होने पर ईर्ष्या न करो। न फिर तुम्हें गिला करने का हक़ है। जैसे तुम उन लोगों को मोटा नहीं देखना चाहते, वैसे ही ख़ुद भी मोटे होने की इच्छा न करो।

मैं बोली—यह तो आप रूस के डिक्टेटर के स्वर में बोल रहे हैं।

आप हँसकर बोले—ख़ैर; मैं तो नहीं हूँ; पर देखना कभी भारत का बच्चा-बच्चा रूस के डिक्टेटर से भी ज़्यादा गरम विचार का बनेगा। तुम्हें भी उस समय ग़रीबों के कठिन से कठिन काम में हिस्सा लेना पड़ेगा।

मैं बोली—और आपको फावड़ा।

हँसते हुए जवाब दिया—कलम फावड़े से ज़्यादा ताक़त लेती है। मैंने कहा—पर घट्ठे तो नहीं पड़ते। यहाँ तो देखो, और न सही सुपारी काटने का घट्ठा तो है ही।

आप बोले—तुम्हारे बच्चों का क्या है?

इतने में धुन्नू ताँगा लेकर पहुँचा। फिर भी उससे और ताँगेवाले से खिचखिच हो ही रही थी।

आप बोले—क्या बकबक करते हो जी! ताँगा इधर लाओ। कुलियों

ने सामान रखा। रास्ते भर वे ताँगेवाले से दुःख-सुख की कहानी पूछते रहे।

वहाँ से आने के बाद तीसरे ही दिन बन्नू को चेचक निकली। फिर वही परेशानी। शाम के वक़्त धीरे-धीरे उसे कोठे पर ले जाते और उससे बातें करते रहते। तबतक मैं नीचे खाना पकाती रहती।

एक रोज़ बन्नू अपनी चारपाई से उठकर मेरी चारपाई पर सो रहा। मैं पहले ही सो गई थी। उन्होंने देखा कि वह मेरी चारपाई पर सोया है। उससे बड़े प्यार से बोले—बन्नू बेटा अपनी चारपाई पर आओ।

× × ×

प्रिय रानी,

मैं तुम्हें छोड़कर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या कहूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय तुम्हें उन्होंने रोका, मैं जी मसोसकर रह गया। तुम तो अपनी बहन के साथ वहाँ ख़ुश होगी, मगर मैं यहाँ परेशान हूँ। जैसे एक घोंसले में दो पक्षी रह रहे हों और उनमें एक के न रहने पर एक परेशान हो। तुम्हारा यही न्याय है कि तुम वहाँ मौज करो और मैं तुम्हारे नाम की माला फेरूँ। तुम मेरे पास रहती हो तो मैं भरसक कहीं बाहर जाने का नाम नहीं लेता। तुम आने का नाम नहीं लेतीं। मैं १५ तारीख़ को प्रयाग यूनिवर्सिटी में बुलाया गया हूँ। यही बात है कि मैं अभी तक नहीं आया: नहीं तो अब तक कभी पहुँच गया होता। इसी लिए मैं सब्र किये बैठा हूँ। अब तुम पन्द्रह तारीख़ को आने के लिये तैयार रहना। सच कह रहा हूँ घर मुझे खाये जा रहा है। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि क्या सभी की तबीयत इसी तरह चिन्तित हो जाती है या मेरी ही। तुम्हारे पास रुपये पहुँच गये होंगे। अपनी बहन को मेरी नमस्ते कहना। बच्चों को प्यार। कहीं ऐसा न हो कि इस पत्र के साथ ही मैं भी पहुँचूँ। जवाब जल्द लिखना।

तुम्हारा धनपत।

× × ×

बेटी को आम ज़्यादा अच्छा लगता था। बेटी जब ससुराल गई, तभी से आप पहले उसे आम भेजकर तब ख़ुद खाते। सन् '३५ की बात है। आप लखनऊ गये थे। वहाँ से दशहरी और सफ़ेदा लाये। जिस रोज बनारस पहुँचे, उसी दिन बम्बई से मुंशी का तार आया कि आओ।

आप बोले—धुन्नू के हाथ बेटी को आम भेज देना। मैं तो बाम्बे जा रहा हूँ।

मैं बोली—धुन्नू ले जाय तो न !

आप बोले—क्यों न ले जायगा ?

'आम का उसे शौक है। अगर आम वह न ले जाय तो उसे जाने भी न देना।'

मैं बोली—आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही करूँगी।

वहाँ से आप लौटे तो पूछा कि आम भेज दिये तुमने ?

मैंने कहा—हाँ।

साहित्य-परिषद की मीटिंग अप्रैल, ३६ में वर्धा में थी।

आप मुझसे बोले—वहाँ से लौटने पर मैं बेटी को लेता आऊँगा। वहाँ लिख दो।

मैं बोली—मैं पहले ही लिख चुकी हूँ। चलने लगे तो मैं बोली—देर न लगायेगा।

आप कहने लगे—मुमकिन है एकाध दिन की देर हो जाय। कई जगह जाना है। मुझे ख़ुद जल्दी रहती है। हाँ, सागर शायद देर लग जाय। जिस दिन लौटे, मैंने देखा बेटी साथ में नहीं। मैं दरवाज़ा खोलने गई। मेरे पूछने पर, बिना जवाब दिये ही ऊपर चले आये। जब मैं ऊपर आई तो बोली—बेटी क्या हुई ?

आप आँखों में आँसू भरकर बोले—बीमार है। मैं बोली—क्या हुआ है ? बोले—गर्भ था, गिर गया है, मुझे तो पहुँचते ही डाक्टर ने बताया।

मैं बोली—आप मिले कि नहीं ?

'मिला क्यों नहीं। दो दिन तक रहा भी। अगर उसकी यही हालत रही तो वह बेमौत ही मर जायगी। न मालूम इन गधों को कब समझ आयेगी। इस बीसवीं शताब्दी में भी ये गधे हैं।'

मैं बोली—कोई ख़ुद बीमारी कर लेता है ?

आपका यह कहते-कहते गला भर आया कि सब हमारे कर्म का फल है।

उसी रात को मेरे यहाँ चोरी हुई। चोरी में १०००) नक़द और १५००) के ज़ेवर गये। चोर का कहीं भी पता न लगा। चोरी एक खाना पकानेवाले महाराज ने की थी। जब कुछ भी पता न लगा तो बोले—तुम ज़ेवरों का शोक तो करो न। वे तो तुम्हारे बक्स में रखे ही रहते थे। उस बेचारे की बीवी पहनकर ख़ुश होगी। हाँ, तुम्हें रुपयों का अफ़सोस होगा। क्योंकि प्रेस के मजदूरों का वेतन देना था। मगर वह भी क्या! कहीं न कहीं से वेतन दे ही दिया जायगा।

मैं बोली—मेरे ढाई हज़ार निकल गये। आपको मज़ाक सूझी है।

तब अपनी हँसी हँसते हुए बोले—तुम ढाई हज़ार की चिन्ता कर रही हो। आदमी का जीवन एक दिन चला जायगा। यों ही मज़ाक में चला जाता है, हम कुछ कर नहीं पाते। तुमको तो यही सोचकर ख़ुशी मनानी चाहिए कि बेटी मरने से बची। वह अच्छी हो जाय, यही क्या कम है ? समझ लूँगा, तीन महीने मैंने मजूरी नहीं की। मैं चुपचाप अपने कमरे में आकर बेटी को ख़त लिखने बैठी। आप भी वहाँ से मेरे कमरे में आ गये। बोले—क्या लिख रही हो ?

मैं बोली—बेटी को ख़त लिख रही हूँ।

आप बोले—मैं ख़त लिख दूँगा।

मैं बोली—क्यों ?

आप बोले—तुम्हारे दिमाग़ में वही चोरी की बात घुसी है, उसे भी लिख दोगी। बीमार लड़की सुनकर अफ़सोस करेगी।

मैं बोली—आप ही लिख दीजिए। आपने खुद पत्र लिखा।

जून का महीना था। धुन्नू और बन्नू को उसे लाने भेज रहे थे। धुन्नू से बोले—जाकर बगीचे से एक सैकड़ा आम लिवा लाओ।

धुन्नू बोला—बोझा हो जाता है। अब तो बहन यहीं आयेगी।

आप बोले—बोझा क्या हो जायगा ? तुम अपने सिर पर ले जाओगे ? बेटी आयेगी, पर वासुदेव तो नहीं खायेगा। उसे नहीं खाना चाहिए ?

उसे तो कहा ही था, सुबह जब आप घूमने गये तो ६) रुपया का आम खरीदकर लाये। जब आदमी को लिवा लाये तो मुझसे बोले, इसे तुम ठीक-ठीक बन्द कर देना।

मैं बोली—ये पके आम क्या होंगे ?

आप बोले—इन बच्चों को दे देना। नहीं तो ये उसी में से निकाल-निकालकर खाना शुरू कर देंगे।

सन् ३२ में बेटी को बड़ा बच्चा पैदा हुआ। जब बच्चा हुआ तो वहाँ से तार आया। आप नीचे से ही मुझे आवाज़ देने लगे—नीचे आओ। तुम्हें खुशख़बरी सुनायें।

मैं आँगन में खड़ी होकर बोली—कहिए क्या है ?

आप बोले—बेटी के बच्चा हुआ है। दोनों अच्छी तरह हैं।

मैं बोली—ईश्वर को धन्यवाद।

उसके यहाँ जाने की तैयारी हो रही थी कि द्विवेदीजी का स्वागत करने के लिए निमंत्रण मिला। उसी दिन तार भी आया कि बेटी सख़्त बीमार है, चले आइए। प्रेस में यह सूचना मिली। वहाँ से आप घर आये। ऊपर गाना-बजाना हो रहा था। आपने नीचे से आवाज़ दी—इसे बन्द करो और यहाँ आओ। जब मैं नीचे गई तो बोले—इत्मीनान से बैठ जाओ।

मैं बोली—'कहिए। क्या है ?'

आप बोले—बेटी सख़्त बीमार है। सागर के अस्पताल में उठाकर लायी गयी है। अब इस समय कौन-सी गाड़ी जाती है ? हमें चलना चाहिए। या

इलाहाबाद तक लारी से चलें ? वहाँ से कोई न कोई गाड़ी मिल ही जायगी। टाइम-टेबिल देखने लगे। मालूम हुआ कि इस समय कोई भी गाड़ी इलाहाबाद नहीं जाएगी।

मैं बोली—सुबह चलेंगे।

उस दिन न उन्होंने खाना खाना, न पानी पिया। सुबह के समय हम दोनों चले। वहाँ इलाहाबाद जाकर नौ बजे उतरे। फिर सागर के लिए कोई ट्रेन न मिली। इलाहाबाद के वेटिंग-रूम में हम गये। मुझसे बार-बार पूछते, बताओ बेटी की हालत क्या होगी।

मैं बोली—मैं जानती हूँ ? ईश्वर जानें। वहाँ कुछ देर रहने के बाद बोले—चलो। लूकरगंज से ख़बर लायें। वहाँ से लूकरगंज पहुँचे। जब वहाँ पहुँचे तो पता चला कि यहाँ कोई ख़बर नहीं।

आप बोले—न जाने उसकी क्या हालत है ! अब भगवान ही का सहारा है। किसी तरह दिन भर लगे रहे। रात के नौ-बजे की ट्रेन से सागर को चले। ट्रेन में बार-बार उसकी हालत मुझसे पूछते। मैंने उनकी अधीरता देखकर अपने को पत्थर का बना लिया।

सुबह जब कटनी से ट्रेन की बदली हुई तो मैं बोली—आप हाथ-मुँह धो डालिए। बेटी अच्छी है। यह सुनकर वे खिल पड़े। बोले—सच ?

मैंने कहा—हाँ। इन लोगों ने घबराहट में तार दे दिया। आप हाथ-मुँह धो कर कुछ नाश्ता कर लें।

फिर हम एक बजे के लगभग सागर पहुँचे। प्लेटफार्म पर वासुदेव अपने छोटे भाई के साथ खड़ा था। वासुदेव के भाई के पास फौरन पहुँचकर बोले—बेटी कैसी है ?

'अच्छी है।'

उसके हाथ में दो रुपए देते हुए बोले—मिठाई तो ले लो। जब हम लोग अस्पताल में पहुँचे तो लक्ष्मण से बोले—पहले मुझे बेटी के पास ले चलो। बेटी को खाट पर पड़ी देखा। बुख़ार चढ़ा था। बच्चा दूसरे पालने

पर अलग पड़ा था। बीमार बेटी हमें देखकर रो पड़ी। बेटी का रोना सुनकर बोले—घबराओ मत। अच्छी हो जाओगी। बच्चे को देखकर बोले—इस गुलाब के फूल पर, ईश्वर, दया कर। उसके बाद आठ दिन तक आप रहे। आठ दिन के बाद ऐसा मालूम हुआ कि बेटी का बुख़ार उतर गया है। बेटी से बोले—अब हम लोग चलें न? तुम जैसे ही अच्छी होगी धुन्नू ले जायगा।

बेटी बोली—या मुझे ले चलिए या अम्माँ को छोड़ते जाइए।

'डाक्टर की राय नहीं है बेटी!'

मुझसे बोले—तुम रह जाओ। बच्चे भी तो अकेले ही हैं। जब आप वहाँ से चले आये तो मालूम हुआ कि बेटी को फिर बुख़ार चढ़ा है। यहाँ आने पर रोज़ाना एक खत आता और जाता। अपने मित्रों को तो आप ने यहाँ तक लिख दिया कि मेरी लड़की की हालत बहुत नाज़ुक है। यहाँ से जब दोनों बच्चों की छुट्टी हो गई तो उन्हें भी भेज दिया, जिससे तबियत न घबराये। बेटी की हालत फिर बिगड़ने लगी। यहाँ कोई दो महीने वे अकेले रहे। आप को न ठीक से खाना मिलता था, न पानी। पेचिश की शिकायत हो गई। दाँत में भी दर्द हुआ। जब उनको मालूम हुआ कि बेटी की तबियत अब कुछ ठीक हो रही है तो वासुदेव को लिखा—बेटी की माँ को भेज दो। दोनों लड़कों को रोक लो। जैसे ही डाक्टर इजाज़त दे, तुम धुन्नू वग़ैरह के साथ बेटी को पहुँचा जाओ।

ख़ैर जब बेटी की तबियत अच्छी हुई तो उनकी सास मुझे देवरी लिवा ले गईं। जब हम लोग वहाँ गये तो वहाँ वासुदेव के बहनोई बीमार पड़े। इस पर मुझे भी क्रोध आया कि अब ये विदा नहीं कर रही हैं। मैं भी झल्ला उठी। वासुदेव ने मेरे क्रोध को शान्त किया और बोला—आप चलिए तब तक। कल मैं सुबह लेकर अस्पताल के बहाने आऊँगा। आप तब तक देवरी में रुकी रहिये।' दो रोज़ मैं देवरी में रुकी रही। तीसरे रोज़ मैं बनारस चली आई। मैं यहाँ पर नौ बजे के करीब पहुँची। आप कमरे में बैठे लिख रहे थे, जैसे ही हमारा ताँगा पहुँचा।

आप बोले—तुम आ गईं।

मैं बोली—हाँ आ गई।

आपने पूछा—तुम क्या बीमार थीं?

मैं बोली—मैं तो नहीं थी। आप अलबत्ता बीमार मालूम पड़ते हैं।

आगे बढ़ी कि सामान उतरवा लूँ।

आप बोले—नहीं मैं उतरवा लेता हूँ। वहाँ जब गये तो बेटी को न देखकर बोले—बेटी को क्यों नहीं लाईं?

मैं बोली—पहले सामान उतरवाइए तो मैं आपको वहाँ का किस्सा सुनाऊँ। मैंने वहाँ की दास्तान सुनायी। वासुदेव के न आने की बात भी सुनाई। आपने बैठकर बड़े बड़े लम्बे पत्र लिखे। मैं तो खाना खाकर सो गई। न मैं जल्दी उठी, न उन्होंने मुझे जगाया।

तीन बजे के करीब मैं उठी तो आप आये और बोले—मैं जा रहा हूँ प्रेस। मुझे पान दो। मैंने उन्हें पान दिया। वे प्रेस गये। उनके जाते ही वासुदेव बेटी को लिये पहुँचा। जब वे आ गये तो मैंने लड़के को भेजकर बाबूजी को कहलवाया कि बेटी आ गई है। आप धुन्नू के साथ ख़ुद चले आये। आते ही बच्चे को गोद में उठा लिया। बोले—देखो इसकी क्या हालत हो गई है? फिर अपने आप कहने लगे—ईश्वर की दया है। बचा दिया।

उस दिन से बच्चे को आप घंटों खेलाते।

बेटी के आने के तीसरे रोज़ यह तै हुआ कि लेडी डॉक्टर को दिखा देना चाहिए कि अब तो कोई ख़राबी नहीं है। मुझसे बोले—डा० थंगामा को बुला लाओ।

मैं बोली—उसकी क्या फीस है? बोले—वहाँ जाने पर ८), यहाँ बुलाने पर १६) १) गाड़ी भाड़ा।

मैं बोली—क्यों रुपए मुफ़्त में फेंकोगे? वहीं चले चलें। मेरी राय उन्हें ठीक जँची।

उन्होंने ताँगा बुलाया। बेटी को लिये मैं उतर रही थी कि वह गिर

पड़ी। उसके गिरने की आवाज़ सुनकर वासुदेव को लिये पहुँचे। मैंने बेटी को सँभाला। आप जाकर रोने लगे। जब मैं बेटी को सँभालकर पहुँचा चुकी तो देखा रो रहे हैं।

मैं बोली—आप ख़ूब हैं। किसी का पैर फिसल जाय तो क्या, बस !

आप बोले—गिरते सभी हैं। पर देखो इसकी हालत ! बेचारी को चोट कितनी लगी !

मैं बोली—विशेष चोट नहीं लगी है। फिर उसे ज़ंबक लगा दिया। अब वह आराम से है।

आप बोले—कहाँ ज़म्बक मिला ?

मैं बोली—मेरे ऊपर जाते ही धुन्नू साइकिल से दौड़कर लाया।

मेरे साथ-साथ आप उतर आये। बेटी से बोले—कैसी हो ? चोट क्या ज़्यादा लगी ?

बेटी—नहीं बाबूजी, ज़्यादा चोट नहीं लगी है। ज़ंबक मलने से और भी आराम मिल गया।

उसी के दूसरे रोज़ एक नाइन को बुलवाया और उससे बोले—तुम इन दोनों की ख़ूब सेवा करो। जो कुछ तुम माँगोगी, वही मैं दूँगा। शर्त यही है कि दोनों तन्दुरुस्त हो जायँ।

नाइन बोली—मैं भरसक सेवा करूँगी। यह तो मेरी बहन ही हैं। आप इसकी फ़िक्र न कीजिए।

नाइन उस दिन से रात-दिन बच्चे और बेटी की ख़िदमत करने लगी। बेटी भी अच्छी हुई और बच्चा भी।

इसी बीच में नाइन एक दिन बीमार पड़ी। उसको मलेरिया की शिकायत थी। तीन-चार दिन तक उसकी ख़िदमत मैंने और बेटी ने की। उसकी तबीयत अच्छी नहीं हुई। वह घबरा जाती थी। उसे हमने यद्यपि बहुत रोका, पर वह मानी नहीं। जब वह नहीं मानी, तो उसे मैंने जाने दिया। जब आप

शाम को प्रेस से आये तो पूछा—रमदेई की तबीयत कैसी है? उसका बुखार उतरा?

मैं बोली—उसको बुखार था पर वह तीन बजे के लगभग घर चली गई।

आप बोले—क्यों जाने दिया?

मैं बोली—रोकती बहुत थी। पर वह माने तब तो।

आप बोले—उसके घरवाले सोचेंगे कि जबतक अच्छी रही, तबतक तो रखा, और बीमारी की हालत में यहाँ पहुँचा दिया। यहाँ रहती तो मैं उसकी दवा करता, अच्छी हो जाती। बिचारी कितनी सेवा दोनों की करती थी। इतनी सेवा तो कोई अपनी भी न कर पाती। अब तुम दोनों को बड़ी मुसीबत हुई। फिर उसके यहाँ बदपरहेजी होगी, अच्छी भी न होगी जल्दी। अब कल कुनैन मँगाकर कुछ रुपयों के साथ उसके घर भेजवा दो।

उसके दूसरे दिन उन्होंने प्रेस कर्मचारियों के हाथ दो रुपया और कुनैन भेजी। कहला भी दिया कि कह देना एहतियात से रहेगी। कुनैन के ऊपर जितना भी दूध पीना चाहे पीये।

शाम को प्रेस से लौटे तो मुझसे बोले—जो अपनी सेवा करता हो, उसकी सेवा को हमेशा तैयार रहना चाहिए। हमारे यहाँ तो नौकर को कोई आदमी ही नहीं समझता, हालाँकि घर की आदमी की ही तरह नौकर ज़रूरी होता है। हम लोगों में वह बात नहीं पाई जाती जो अंग्रेज़ों में है। अँग्रेज़ के नौकर जब अपने मालिक को पानी देते हैं तो मालिक कहता है—थैंक यू।

मैं बोली—यहाँ लंठ बसते हैं। मा-बीबी को तो डण्डों से प्यार करते हैं। नौकर को थैंक्यू कहेंगे?

आप बोले—तभी तो पैंतीस करोड़ के ऊपर मुट्ठी भर अँग्रेज़ शासन कर रहे हैं। अपने घर में मा-बीबी से सीधी तरह बात नहीं करते, अँग्रेज़ों की जूतियाँ चाटते हैं।

जब आप नाश्ता करने बैठते तो बिन्नू को गोद में लेकर उसे दो-चार

चम्मच दूध रोज़ पिलाते, संतरा चुसाते, खाना खाकर उठने पर बिन्नू को गोद में लेकर नीचे उतर जाते। वहाँ घण्टों फ़र्श पर लिटाकर खिलाते। कभी-कभी वह दोनों हाथों से उनकी मूँछें पकड़ लेता। उसके हाथ को मूँछ से धीरे-धीरे अलग करते। कभी-कभी वह उसी जगह पाखाना भी कर देता। उसे साफ़ करके ऊपर दे जाते। नीचे जो फ़र्श पर पाखाना कर देता, तो उसे साफ़ कर बिछावन धूप में डाल देते। जब मुझे मालूम होता तो मैं बोलती—किसी को बुलाकर साफ़ करा लेते।

आप बोलते—महात्माजी तो दूसरों का साफ़ कर देते हैं। मैं अपना साफ़ कर लेता हूँ तो क्या हर्ज है?

शाम को चार बजे बच्चे को गोद में लेकर बाहर टहलते। जब दो बच्चे हो गये तो एक को गोद में ले लेते, दूसरे को उँगली पकड़ा लेते। वे बच्चे उनसे इतना हिल-मिल जाते कि मैं लेना चाहती तो वे उनकी गोद में मुँह छिपा लेते। पाँच बजे फिर सब बच्चों के साथ आकर बैठते। पास पड़ोस के भी जवान लड़के उन्हें घेरकर बैठते। ऐसी बातें करते कि ख़ुद भी हँसते और दूसरों को भी हँसाते। वे बातें क्या होतीं, उपदेश होते। उन दोनों बच्चों को भी अपने ही पास तब तक रखते। इसलिए उन्हें नहीं छोड़ते कि छुटने पर वे बेटी के पास जायँगे, बेटी वहाँ से उठ जायगी। बड़े बच्चे का नाम उन्होंने ज्ञानचन्द रखा। मैं एक रोज़ बोली—दूसरा नाम रखिए।

आप बोले—तुम्हें न अच्छा लगता हो, मुझे तो अच्छा लगता है। पहले मेरा नाम राय से था। इसलिए अपने बड़े बच्चे का नाम श्रीपतराय और छोटे का अमृतराय रखा। अब मैं चंद करके मशहूर हूँ इसलिए इनका नाम चंद से होगा।

मैं बोली—नाम बड़े, दर्शन थोड़े। पता नहीं ये कैसे होंगे। कहीं बद-माश निकलेंगे तो लोग उस नाम की भी खिल्ली उड़ायँगे। ज्ञानू को गोद में लिये हुए, मुँह चूमकर बोले—सुन बदमाश, मेरे नाम की लाज रखना।

मैं बोली—अब तो यह सब समझ गया। अभी से पढ़ा न दीजिए।

बड़े-बड़े उपन्यास यह भी लिखेगा। गुण-अवगुण सब अपने साथ लाते हैं। आपके नाना कौन बड़े भारी लेखक थे। आप क्यों लेखक हुए ?

आप बोले—ज़रूर नाना साहब में कोई बात रही होगी, जिससे मैं इस तरह का हो सका हूँ। नाना का प्रभाव नाती पर कम नहीं पड़ता। बाप का स्वभाव लड़के-लड़कियाँ कम लेते हैं।

मैंने कहा—कैसे ?

आप बोले—यह कुदरत की देन है। जो गुण और अवगुण अपने लड़के-लड़कियों में नहीं मिलते, वे ही नाती-पोतों में हो जाते हैं।

× × ×

सन् १९३५ की बात है, स्थान काशी। रात भर आप को बुख़ार चढ़ा हुआ था। यहाँ तक कि दूध भी नहीं ले सके। सुबह को करीब ४ बजे बुख़ार उतरा। सुबह के समय रोज़ाना की तरह हाथ-मुँह धोकर नाश्ता भी नहीं किया था कि 'हंस' के लिए सम्पादकीय लिखने बैठ गये। दूध जब गरम हो गया, तो मैंने जाकर देखा कि आप कमरे में बैठे लिख रहे हैं। मैं बोली, 'यह आप क्या कर रहे हैं ?' 'क्या कर रहा हूँ, हंस के लिए सम्पादकीय लिख रहा हूँ, कल ही लिखना चाहिए था।'

मैं बोली—आप भी खूब हैं, कल दिन भर और रात भर पड़े रहे और सुबह हुई कि लिखने बैठ गये। मैं इन्तज़ारी कर रही थी कि शायद आप दरवाज़े से ही नहीं आये। और अधिक काम से ही आप बीमार भी पड़ गए थे। आज दूसरा दिन है, खाने की कौन कहे, दूध तक आपने नहीं लिया।

आप बोले—पाँच मिनट का समय और दो, कम्पोज़िङ्ग करनेवाले आ गये हैं।

मैं बोली—अब एक सेकेण्ड का समय मैं आप को नहीं दूँगी, और हाथ से क़लम छीनकर बोली—अब उठिए चुपके से।

आप बोले—अरे भाई मेरी समझ में नहीं आता कि फिर वह क्या कम्पोज़ करेंगे।

मैं बोली—मैं कम्पोज़ वग़ैरह का ठेका नहीं लिये हूँ।

'अरे भाई। तुम ठेका नहीं लिये हो, मैं तो ठेका लिये हुए हूँ। फिर 'हंस' कैसे छपेगा? समय पर अगर 'हंस' नहीं छपेगा तो, ग्राहक यह थोड़े ही समझेगा कि मैं बीमार हो गया था, वह तो समय पर 'हंस' चाहता है। उसने रुपये दिये हैं।

मैं बोली—यह बकवाद पीछे कीजिए, अगर आप लिखेंगे तो मैं फाड़ दूँगी, चलिए उठिए।

इस धमकी पर उठकर आये और नाश्ता किया। वह नाश्ता कर ही रहे थे, जब नीचे से आदमी आया और बोला—'हंस' के लिए मैटर दीजिए।

मैं बोली—चलो एक घंटे में देते हैं मैटर।

आदमी तो चला गया, बोले—तुमने मुझे लिखने नहीं दिया, आदमी व्यर्थ बैठे हैं।

मैं बोली—तो कौन हंस मोती उगल रहा है।

आप हँसकर बोले—साहब, 'हंस' मोती उगलता नहीं चुनता है।

मैं बोली—हाँ खाता है। जब देखो एक न एक बला अपनी जान को पाले रहते हैं। आपको आराम से रहना ही नहीं आता। सूखकर हड्डी रह गये हैं। वही मसला है "दाना न घास खरहरा दिन रात"। परसों रात भर बुखार चढ़ा रहा, कल दिन रात पड़े रहे, आज जब बुख़ार उतरा, तब बस सवेरे से 'हंस' का चरखा लेकर बैठ गये। और काम ऐसा कि जिसका "कन छूटे और न भूसी"। अभी इसी महीने में मालूम हुआ कि अभी ८ साल के अन्दर कोई २० हज़ार की किताबें बिकीं, और 'हंस' और 'जागरण' और प्रेस तुम्हारा खा गया। अगर इन्हीं किताबों की रॉयलटी ही मिली होती, तो कोई १२०००) बिना किसी मेहनत के घर आ गये होते, नहीं, कोई तीन हजार रुपये काग़ज़वालों को घर से देने ही पड़े, जिसके लिए आप बम्बई गये हुए थे।

आप बोले—तुम व्यर्थ ही क्रोध करती हो।

मैंने उसी दिन आप से कह दिया—ऐसे काम से बाज़ आये, इसको छोड़ो। मगर आप तो उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। फिर मैं कहती हूँ ऐसे कामों से क्या फ़ायदा जिनके पीछे तन, मन, धन की आहुति चढ़ानी पड़े।

तब आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले—रानी ! तुम भूलती हो, इसमें मैं कोई त्याग नहीं कर रहा हूँ, न कोई तपस्या। जब कोई त्याग-तपस्या न करता हो, और शौक से करता हो तो आहुति चढ़ाना न कहना चाहिए। जैसे जुआरी को जुआ, शराबी को शराब, अफीमची को अफीम में मजा मिलता है, और अगर उसको यह चीज़ें न मिलें तो वह परेशान होता है—इसमें उसका कोई त्याग थोड़े ही है ? उसी तरह यदि मैं इस तरह के काम न करने पाऊँ तो मुझे सुख-शान्ति नहीं मिलती।

मैं बोली—तब कहिए आपको भी नशा है।

आप बोले—हाँ नशा है, किन्तु अच्छा नशा है, शायद मेरे इस नशे से किसी मनुष्य का लाभ हो जाय।

मैं बोली—पहले आप अपना लाभ तो कर लीजिए, फिर दूसरों को क्या होगा, इसको तो ईश्वर जाने। खुद तो सूखकर काँटा हो गये हैं, और दूसरों की फिक्र में दीवाने हैं।

तब आप बोले—दीया होता है, उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है, उससे किसी का लाभ होता है या हानि, इससे उसको कोई बहस नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल खत्म हो जायगा, तब ठंढा हो जायगा। तब उस ठंडे चिराग से न तो तुम कभी पूछती हो कि कहाँ गया, न वही तुमको ढूँढ़ने आता है।

मैं क्रोध और रंज के साथ बोली—सब चिराग़ पंचायती होते होंगे, मगर आप तो एक आदमी की चीज़ हैं, पंचायती नहीं है। पंचायती चीज़ को कोई पूछनेवाला नहीं होता, मगर आप को तो ऐसा नहीं है, आप के साथ तो मैं व्याही गई हूँ, और आप मेरे हैं, इसलिए मुझे हक है कि आपकी हिफाज़त रखूँ, और आप बहुत दिनों तक मेरे रहें।

आप बोले—यह तुम ग़ल्ती करती हो, लेखक का जीवन ही ऐसा होता है। वह मजबूर होता है। इसमें तुम और मैं क्या करूँ, इसमें दोनों मजबूर है।

मैं बोली—मैं तो आप से मजबूर हूँ, जो कहना नहीं मानते।

आप बोले—रानी, तुम ख़ुद ही मजबूर हो, मैं देखता हूँ और डरता हूँ कि जो रोग मुझे लगा है, वह कहीं तुमको न लग जाय। मैं इसी लिए बार-बार मना करता हूँ। इस बला में न पड़ो। मगर तुम मानती नहीं, आराम से तो रहती थीं, मगर नहीं तुम भी एक बला पाल रही हो।

मैं बोली—मैं आराम से हूँ; मैं इस तरह की बला नहीं पालती हूँ, जिससे कि अपना खून जले।

तब आप बोले—तभी तो आप इतनी तगड़ी हैं।

जिन चीज़ों पर मैं पहले आलोचना करती थी, आज उन्हीं को हृदय से चाहती हूँ और सबसे ज़्यादा उसी 'हंस' को जिसको नादिरशाही हुक्म दिया था कि अगर यह नुकसान देगा, तो इसको बन्द कर दूँगी। उन्हीं दिनों 'हंस' को 'हिन्दी-परिषद्' को दे दिया था, कि इसका नुकसान कहाँ तक बर्दाश्त किया जाय। महात्मा गान्धी के हाथों कोई दस महीने तक रहा, उसके बाद जुलाई के महिने में 'हंस' से ज़मानत माँगी गई, और "हिन्दी परिषद्" ने इसको बन्द कर दिया। आप बीमार पड़े हुए थे।

आप मुझसे बोले—रानी एक हज़ार रुपया बैंक से निकालकर जमा करा दो, और 'हंस' को फिर से जारी करा दो।

मैं बोली—पहले आप अच्छे तो हो जाइए, अभी आप ख़ुद तो बीमार पड़े हुए हैं, और 'हंस' की फ़िकर पड़ी हुई है।

आप बोले—मेरी बीमारी से और 'हंस' के निकलने से क्या बहस?

मैं बोली—काम कौन करेगा?

आप बोले—मैं आदमी ठीक किये देता हूँ। मैंने कहा—आखिर कौन निकालेगा, किस आदमी को ठीक किये दे रहे हैं?

'जैनेन्द्र इसके लिए तैयार है।'

'दूसरा समय होता तो शायद मैं कुछ बोलती भी !'

एक हज़ार मैंने बैंक से निकलवाकर जमा करा दिया।

जब वह नहीं रहे, कई मित्रों ने सलाह दी, इसको बन्द कर दो। अब भला मैं इसको कैसे बन्द करती ? मैंने लोगों को जवाब दिया—भाई, मैं इसको छोड़ नहीं सकती। सब लोगों ने कहा कि अभी तक तो यह चलता था, अब कैसे इसको चलाइएगा ? मैंने एक ही जवाब उनको दिया : कि जब मेरे पति, पिता होकर हंस को न छोड़ सके, तो मैं तो माँ हूँ। और माँ शायद बेकार और निकम्मे बेटे को, फिर ऐसी हालत में जब उसका पिता न हो, सबसे ज़्यादा प्यार करती है। क्योंकि वह समझती है कि आख़िर लायक को तो सभी पूछते हैं, प्यार करते हैं, अपनाने की भी कोशिश करते हैं, मगर बेकमाऊ और निकम्मे को कौन पूछे ? फिर माँ डरती है कि कहीं भाग जाय, ज़हर खाकर मर जाय, माँ को छोड़ कर उसको कौन पूछने वाला बैठा है ? यहाँ तक होता है कि ईश्वर भी अच्छे ही को चुन-चुनकर लेता है, फिर दूसरों का कहना ही क्या है। माता ही ऐसी है जो अच्छे-बुरे सभी को छाती से लगाये रहती है। यही हालत मेरी और मेरे 'हंस' की है।

जैनेन्द्र की माँ गुजर गयी : १९३५

जैनेन्द्रकुमार को दिल्ली से पत्र आया कि माँ मर गई। वे आँखों में आँसू भरे मेरे पास आये और बोले—जैनेन्द्र अब अकेला हो गया। उसकी माँ मर गई।

मरने की ख़बर सुनकर मैं भी सकपका गई। बोली—हुआ क्या था ?

आप बोले—उनको जलोदर बहुत पहले से था। बाप तो पहले ही मर चुके थे। माँ भी चल बसीं। बड़ा दुःखी होगा, फिर उसकी माँ बड़ी शरीफ़ आदमी थीं। अभी तक सारा बोझ उन्हीं के सिर पर था। जैनेन्द्र घर की ओर से लापरवाह, जहाँ भी होता, घूमता रहता था। माँ उसके लिए सब कुछ थी। जैनेन्द्र को प्राणों से भी ज़्यादा चाहती थीं। जितनी ही की वह

सभ्य थीं, उतनी ही दिलेर भी थीं। मैं दो बार उनसे मिला हूँ। ऐसे मिलती थीं जैसे कोई उनके घर का ही आदमी हो। ख़ातिर-बात भी अपनों ही की तरह करती थीं।

मैं बोली—जैनेन्द्र के मामा भी तो उन्हीं के साथ थे।

आप बोले—वह भी बड़े शरीफ़ थे। उनकी महात्मा पदवी ग़लत थोड़ी ही है। देखने में भाई बहन अलग मालूम होते थे, पर दोनों के अन्दर एक ही आत्मा काम करती थी। और जैनेन्द्र को देखकर तुम सोच लो कि वे लोग कैसे थे? नहीं अक्सर लड़के बाप के न रहने पर आवारा हो जाते हैं। उन्होंने लड़का-लड़की दोनों को ठीक राह पर लगा दिया। उन्हीं दोनों की तपस्या का फल है कि जैनेन्द्र ऐसा है। अगर कोई गँवार स्त्री होती तो ऐसा कभी बना सकती थी? उनका प्यार ही बच्चों के लिए ज़हर हो जाता। प्यार में जैनेन्द्र उनका प्राण है। मगर अच्छाई के लिए, बुराई के लिए नहीं। उस बेचारे के लिए तो दुनिया ही ख़ाली हो गई।

मैं बोली—जैनेन्द्र स्वयं अच्छी प्रकृति का आदमी है।

आप बोले—पर लड़कों की अच्छाई-बुराई का पता तो बाद में चलता है। अब जो कुछ करेंगे जैनेन्द्र, उन्हीं की शिक्षा का परिणाम होगा।

'फिर वह बहू अब कैसे रह सकेगी। उसका प्यार करनेवाला तो कोई न रहा। वह तो लड़की की तरह है अभी।'

मैं बोली—मरते भी तो वही हैं जिनकी ज़रूरत होती है जिसकी ज़रूरत यहाँ नहीं है उसकी ईश्वर के यहाँ भी नहीं है।

आप बोले—अभी जैनेन्द्र की माँ की उमर ही क्या थी? अभी तो बहुत थोड़ी थी। अभी उसे मरना नहीं चाहिए था। अब वे सब अकेले हो गये।

मैं बोली—अब तो वे स्वर्ग गईं। उन्हें थोड़े ही मालूम होगा कि हमारे जैनेन्द्र को दुःख होगा कि सुख? अभी की बात न कहिए, बेचारी ने तकलीफ़ें उठाई होंगी। उसने इन्हें तो खड़ा कर दिया; पर खुद गिर गई। उसे कौन सुख मिला? कुल चार ही महीने का जैनेन्द्र था। उसकी तो उमर बीत

गई बच्चों का पालन-पोषण करने में। उसका शरीर जीर्ण हो गया। बेहया होती तो शायद ज़िन्दा भी रहती। मेरे तो आँसू आ ही रहे थे, उनकी तो यह हालत पहले ही से थी।

गला साफ़ करते हुए आप बोले—इसी से ईश्वर पर विश्वास नहीं होता कि अगर सचमुच ईश्वर है तो क्या दुखियों को दुःख देने में ही उसे मज़ा आता है? फिर भी लोग उसे दयालु कहते हैं और कहते हैं वह सबका पिता है। फला-फूला बाग उजाड़कर वह देखता है और ख़ुश होता है। दया तो उसे आती नहीं। लोगों को रोते देखकर शायद उसे ख़ुशी ही होती है। अगर ऐसा ही ईश्वर बेरहम है तो ईश्वर कहने को जी नहीं चाहता, जो अपने आश्रितों के दुःख पर दुःखी न हो, वह कैसा ईश्वर है।

मैं बोली—कौन जाने कौन उसका आश्रित अपने को समझता है और कौन नहीं?

आप बोली—कहने के लिए तो सभी कहते हैं कि वह तो सबका माता-पिता है। तब यह कैसी बेरहमी! यह तो बच्चों का खिलवाड़ हो गया। दिन भर घरौंदा तैयार किया, शाम को घर जाते समय लीप-पोतकर उसे बराबर कर दिया। जैसे उन बच्चों के दिलों में कोई प्रेम नहीं, कोई मुहब्बत नहीं, उसे इस विषय में पागल ही कहना ठीक होगा।

मैं बोली—लोग तो कहते हैं कि अपने कर्मानुसार सभी को भुगतना पड़ेगा।

आप बोले—जब तुम लोग यह कहते हो कि बग़ैर ईश्वर की इच्छा के हम पलक तक नहीं गिरा सकते, तब कैसे ईश्वर हमसे अन्याय कराता है। जो अच्छा समझे वही हमसे कराये, हम जिससे दुःखी न हो सकें। कुछ नहीं। ये सब धोखे में डालनेवाली भावनाएँ हैं। बस अपने को धोखे में डालने के लिए यह सब प्रपंच रचे गये हैं। और नहीं तो हम जब प्रत्यक्षतः कोई बुरा काम नहीं करते तो लोग कहते हैं अगले जन्म में कोई बुरा काम किया होगा, उसी का यह फल है। और मैं कहता हूँ यह सब गोरखधन्धा है। उस बेचारी को यहाँ कौन-सा सुख मिला? जैनेन्द्र की आत्मा अपने

भीतर से उसके लिए तड़प रही है, तसवीर उसकी आँखों में नाच रही होगी। पर वह अब मिलती न होगी। उसका जी जाने कैसा होगा। दो बच्चों का बाप हो गया पर उसे अभी गृहस्थी की ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। जो कुछ ज़रूरत होती, उसे वही बेचारी पूरी करती। अब उन लड़कियों को कौन पूछेगा। अब तो इस समय सभी अनाथ हो गये। वह भी तो अकेली थी पर सबका भार स्वयं उठाये हुए थी। मेरी तो इच्छा होती है कि जाऊँ। पर जाऊँ कैसे ?

उन्हीं दिनों मेरे दामाद वासुदेवप्रसाद आये हुए थे।

'बेटी के जाने पर आप जा सकते हैं।'

आप बोले—उस समय तुम अकेली रहोगी और मैं गया भी एक दिन के लिए तो क्या हो जायगा। यह तो महज फ़र्ज़ अदाई होगी। कोई फ़ायदा नहीं होगा।

मैं बोली—तो फिर यही रोना है। आप उसी को क्यों नहीं बुला लेते ?

आप बोले—यह सबसे अच्छा होगा।

उसके बाद बोले—सबसे अच्छा मैं ही रहा। कभी-कभी तो थोड़ी सी तस्वीर मा की मेरे आँखों के सामने आती है। क्योंकि मैं इसके दुखों का अन्दाज़ लगाता हूँ तो मुझे अपनी माँ की तस्वीर ही याद आती है।

मैं बोली—तकलीफ़ तो महसूस करने की चीज़ है।

आप बोले—तुम्हारा कहना ठीक है, क्योंकि अगर मेरी माँ रही होती तो मैं इससे कहीं आगे होता। ख़ैर, यह तो सोचने की बातें हैं। मगर उस बेचारे को तो अभी बहुत दिन रोना होगा। उसके लिए तो आज संसार ही सूना हो गया। उसके मामा को भी बड़ा दुःख हुआ होगा, पर करेंगे क्या ? जिसने अपनी बहन के प्रेम में सारे संसार को ठुकरा दिया, क्या वे कम दुःखी होंगे ? पर कोई क्या कर सकेगा ?

मैं बोली—मैं तो उसे देख भी नहीं सकी।

आप बोले—देखा होता तो और भी दुःख होता।

मैंने उनको देखा, वे कई दिनों तक उदास रहे। अपने ही में जैसे खोये-से रहते थे। हमेशा जब कभी कोई बात उन दिनों चलती तो उन्हीं की चर्चा चल जाती। शायद उन्होंने अपने दिल के अन्दर जैनेन्द्र के दुःख की तस्वीर बैठा ली थी। मेरा ख्याल यह है कि जैनेन्द्र के बराबर ही दुःख उनको भी हुआ।

गाँव में आख़री बार आना और छुज्जों का बनवाना, १९३५

बंबई से लौटने के बाद मैं गाँव रहने को चली गई। जून के महीने में लड़की भी आ गई। मकान की छतें बुरी तरह से टपक रही थीं। मालूम हुआ कि छत तो बिलकुल बेकाम होगई है। मज़दूर छतों की मरम्मत करने को बुलाये गये। उन्होंने बतलाया कि मरम्मत से काम नहीं चलने का। छत पूरी बनवानी पड़ेगी। उसको खुदवाना तै पाया। जिस वक्त छत खोदी जा रही थी, आप उस पर बैठे रहते थे। मैं समझ रही थी, कमरे में काम कर रहे होंगे, पर जाकर देखा तो आप धूप में बैठे मज़दूरों से बातें कर रहे रहे हैं।

मैं बोली—आप धूप में बैठे बैठे क्या कर रहे हैं? चलिए। आराम कीजिए।

आप बोले—मैं भी थोड़ी सज़ा भुगतूँ।

मैं बोली—यह सज़ा नहीं है, डेढ़-दो सौ की चपत पड़ जायगी।

आपने हँसते हुए कहा—तुम सौ दो सौ के लिए रोती हो, उन बेचारों की समझो जिनका सर्वस्व भूकम्प में अपहरण हो गया।

मैं बोली—यह तो भूकम्प की मेहरबानी है।

आप बोले—ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए।

मैं बोली—अगर भूकम्प न आता तो सभी इस आफ़त से बच जाते। ईश्वर पहले मुसीबत डाल दे, फिर धन्यवाद का पात्र बने।

आप खुद शुरू से अन्त तक छत बनवाने में लगे रहे। उसके बाद छुज्जे की मरम्मत हुई।

बेटी के बच्चे को ।सूखा हो गया था। उसके इलाज और मकान की मरम्मत आदि के झगड़े में पड़ना पड़ा।

अगस्त तक हम लोग वहीं रहकर फिर शहर में आ गये। तीन-चार महीने शहर में रहे। 'गोदान' उसी समय छप रहा था। मैनेजर से भी झगड़ा हो गया था। बेटी भी बच्चे के अच्छे होते ही दिसम्बर में घर चली गई। घर जाने की फुरसत नहीं मिली। दशहरे के दिन कुआर में बोले—चलकर मकान की मरम्मत तो करवा लो।

मैं बोली—दीवाली तो अभी काफ़ी दिन बाद पड़ेगी।

आप बोले—नहीं तो, बीस रोज़ हैं महज़। उस बार की तरह फिर जल्दी-जल्दी सब करना पड़ेगा।

मैं हँसती हुई बोली—मकान पर जाने की तबियत हो रही है?

आप बोले—नहीं जी, आराम से धीरे-धीरे काम होगा।

हम लोग दशहरे को फिर गाँव गये। साथ में गाय-बछड़े भी थे, भूसा-खली सब यहीं से ले गये। फिर काम लगा। वहीं फिर वही रंग-रोगन-सफ़ेदी चलने लगी। ख़ैर दीवाली के दिन ख़ूब अच्छे तरीके से दीवाली मनाई गई। दीवाली के दिन आप बोले—इस साल पाँच सेर तेल आना चाहिए।

दीवाली तो ठीक-ठीक हो गई। बेटी का छोटा बेटा फिर बीमार पड़ा। उसके अच्छे होने के बाद जब वहाँ से फिर शहर आने लगे तो काफ़ी भीड़ जमा हो गई। मेरी समझ में नहीं आता कि जब मैं प्रायः आती-जाती रहती हूँ, तब भी लोग इतना क्यों जमा हो जाते हैं, जैसे मैं विदेश जा रही हूँ। आप दरवाज़े पर खड़े मुझसे बोले—जल्दी करो, धूप हो जायगी।

मैं बोली—कैसे जल्दी करूँ? लोगों से दो बात भी न करूँ तो क्या मन में महसूस करेंगे। मैं एक आदमी से बोली—कंडाल का पानी गिराकर उसे भीतर रखवा दो।

आप बोले—दस-पन्द्रह दिन में तो फिर आओगी। रखा रहने दो।

यह कहकर आप बाहर निकल गये। आप बाहर खड़े रहे। जब मुझे और देरी होने लगी तो आप बोले—मैं चल रहा हूँ। आओ तुम देर न करना।

मुझे जाने में देर होने लगी। तब आप अपनी एक चचेरी बहन के साथ एक्के पर आगे बढ़े। मेरा एक्का पिछड़ गया। पिसनहरिया पर उनके एक्के के साथ मेरा एक्का पहुँचा। आप उस एक्के से उतरकर मेरे एक्के पर आकर बैठे।

मैं बोली—जीजी को कहाँ छोड़ आये ?

आप बोले—मैंने इक्केवान को समझा दिया है। आ रहा है पीछे। मैंने सोचा तुम अकेली इक्के पर जा रही हो।

मैं बोली—तो अब तक आप पहुँच गये होते।

आप बोले—तुमको अकेली जाते बुरा भी लगता है।

वही आख़िरी जाना था।

बड़े दिन में जानेवाले ज़रूर थे, पर जा न सके। बड़े दिन के पहले बेटी भी घर चली गई। मैंने बड़े दिन में उनसे कहा ज़रूर था कि आप मकान चलनेवाले थे, क्या हुआ ?

आप बोले—चलते तो; पर लड़कों की छुट्टी सात-आठ दिन की ही है। यहाँ ज़रूरी काम भी पूरा करना है। 'गोदान' भी तो अभी नहीं छपा।

'हंस' का सम्पादन भी आप ही कर रहे थे।

'मैं यहाँ आ जाया करूँगा दिन में। तुम्हें अकेली रहने से वहाँ तकलीफ़ ही मिलेगी। अभी रहो, फिर चले चलेंगे। कोई नौकर तो हैं नहीं कि फिर छुट्टी न मिलेगी।

इस बार जब वे दीवाली पर घर गये थे, वे उन्होंने अपने पढ़ने की पुरानी सारी चीज़ें—किताब, पत्र-पत्रिकाएँ—क्रम से झाड़-पोछकर बड़ी सावधानी से रखीं।

'गोदान' छप जाने पर शान्ति-पूर्वक तीन-चार महीने घर रहने का उनका विचार था। पर उन्हें बिल्कुल शान्ति मिलनेवाली थी, घर क्यों जाते। मैं अलबत्ता उस घर में जाती हूँ; पर घर समझकर नहीं, देवता का मन्दिर समझकर। मुझे वहाँ जाने पर थोड़ी शान्ति ज़रूर मिलती है। वहीं तो अपना सब कुछ था। मगर मन्दिरों में जाने पर जैसी शान्ति लोगों को मिलती है, वैसी मुझे नहीं मिलती। क्योंकि वह घर तो देवता से अब सूना है। वहाँ उन लोगों को स्वर्ग की लालच रहती है। उससे उन लोगों को शान्ति मिलती है। मगर मैं तो ऐसा नहीं कर सकती। क्योंकि मेरा देवता अभी कुछ दिन पहले वहाँ हँसता था, बोलता था, खाता-पीता था, सब कुछ करता था। वह मेरा था, मैं उसकी थी। वह मेरी उपासना करता था, मैं उसकी। मन्दिर के पुजारियों को मन्दिर में शान्ति मिलती है; पर मुझे दर्द। पर यही दर्द तो मेरा प्राण है।

सन् १९३५ की बनारस की बात है। रात का समय था, हम दोनों ही घर पर थे।

मैं बोली—अबकी बार जब कौंसिल का चुनाव हो तो आप खड़े हो जाइए।

तब आप बोले—मुझे नहीं खड़ा होना है। मैं इसी में अच्छा हूँ।

मैं बोली—क्यों? खड़े होने में क्या नुक़सान है। आप कांग्रेस की तरफ़ से खड़े होइए।

आप बोले—मेरे जीवन का ध्येय कौंसिल में जाने का नहीं है।

मैं बोली—तुम्हारे जीवन का ध्येय क्या है?

तब आप हँसते हुए बोले—मेरा काम कौंसिल में काम करनेवालों की समालोचना करना है।

मैं बोली—क्या आपने समालोचना करने का ठेका ले लिया है कि घर में बैठे बैठे सब की समालोचना करते रहें?

आप बोले—जो लेखक का काम है, वही काम मैं करूँगा। आख़िर वह लोग जो काम करेंगे तो उनकी समालोचनाएँ कौन करेगा?

मैं बोली—शायद आप उसी डर से नहीं जाते कि दूसरे लोग आपकी समालोचनाएँ करेंगे ?

आप बोले— यह बात नहीं है। तुम समझती हो, कि जो नेता होता है उसमें गुण ही गुण होते हैं, अवगुण उसमें होता ही नहीं है ? मैं तो समझता हूँ कि शायद ईश्वर भी निर्दोष न होगा। इसलिए जब तक हमारी कमज़ोरी या ग़लती कोई हमको सुझा या समझा न दे, तब तक हमको हमारी ग़लती कैसे मालूम हो ? इस लिए अगर वह सच्चा समालोचक है तो मैं समझता हूँ कि वह सबसे ज़्यादा मूल्यवान काम करता है। मैं तो समझता हूँ कि सच्चा हितैषी उसी को समझना चाहिए जो हमारी कमजोरियाँ और गलतियाँ हमारे सामने रख दे।

मैं बोली—अक्सर तो समालोचकों पर छींटे ही उछालते हैं।

आप बोले—वे सच्चे समालोचक नहीं हैं। वह तो भेष के कारण एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं। समालोचक का काम बड़ी ज़िम्मेवारी का होता है। इसलिए जिसकी समालोचना करनी हो उसका पहले पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, तब जाकर किसी पर कलम उठाना चाहिए। यही तो सबसे बड़ा लेखक का गुण है।

मैं हँसकर बोली—क्या आप इसके लिए अपने को ठीक समझते हैं ?

आप बोले—मैं किसी की आलोचना दिल में मैल रखकर नहीं करता, अपने बस भर इससे अपने को अलग रखने की कोशिश करता हूँ।

मैं बोली—इसी तरह दूसरे लोग भी अपने को समझते होंगे, जो हमको बुरा लगता है।

आप बोले—अगर ऐसा होता तो शायद आज किसी को अपनी आलोचना बुरी न मालूम होती।

उस रात को यहीं तक बातें हुईं, और उन्होंने ये बातें मुझे ठीक-ठीक समझायीं। जब मेरा भ्रम दूर हो गया, तब मैं बोली—पहले ही से समझा-

कर मेरा भ्रम दूर कर दिया होता तो आज मुझे क्यों इतनी देर तक बक-बक करनी पड़ती।

आप बोले—तुमने इसके विषय में कभी मुझसे पूछा ही नहीं था। फिर हँसकर बोले—तुम पागल हो।

उस पागलपन की मिठास पर मैंने भी हँस दिया।

अगस्त सन् १९३५

काशी की घटना है। जिस मकान में हम लोग रहते थे, उसी में प्रेस और बुकडिपो भी था। उसमें मैं और वह, दो आदमी थे, बच्चे प्रयाग में पढ़ते थे, लड़की ससुराल में थी। किताबों का स्टाक भी ऊपर के दो कमरों में था, जिनमें हम लोग न रहते थे।

रात के १० बजे होंगे, हम दोनों बैठे गपशप कर रहे थे। उस समय हमारा नौकर भी चला गया था, बड़ी जोर की वर्षा आई और साथ ही आँधी भी। उसी के साथ ही घर की बिजली भी फेल हो गई। आप हँसते हुए बोले—'यह अच्छा मज़ा रहा, आँधी और पानी तो थे ही, उसके साथ रोशनी भी ग़ायब हो गई।

मैं बोली—हाँ, सब मज़ा ही मज़ा तो है।

तो आप बोले—कहीं किताबों के घर में पानी तो नहीं आ रहा है। पर देखा जाय तो कैसे देखा जाय। चारों तरफ़ अँधेरा है। मैं बोली—किसी तरह अँधेरे को तो उजाला करना ही पड़ेगा।

लालटेन देखती हूँ तो उसमें तेल नदारत। किसी तरह कटोरी में तेल डालकर कड़ुए तेल का दीपक जलाया और जब स्टाक के कमरे में पहुँची तो एक कमरे में तो ख़ैर ठीक था, दूसरे में छत फट जाने से तेज़ी से पानी आ रहा था। ख़ैर उसी के पास तीसरा कमरा था। उसमें जल्दी जल्दी किताबें हटाने की कोशिश की। मगर स्टाक भरा था। वह बोले—भीगने से बीमार पड़ जाओगी। मुफ्त में। जब कोई आदमी ही नहीं तो कौन इन्हें हटाये।

मैं बोली—मैं बीमार नहीं पड़ूँगी। बैठे बैठे नुक़सान भी तो नहीं देखा जाता, और फिर समय भी नहीं है, सारी किताबें चौपट हो जायँगी, अब इसको हाथ लगाकर हटाना चाहिए।

हम लोग बुरी तरह भीग तो गये लेकिन नुकसान थोड़ा ही हुआ, किताबें बचा लीं। मगर हम दोनों बुरी तरह भीग गये। इसके बाद हम दोनों ने अपने अपने कपड़े बदले।

उसी रोज़ जाड़ा देकर मुझे बुख़ार चढ़ा, और कई दिन तक मैं बीमार रही। आप मेरे पास बैठे अफसोस करते रहते थे कि मुझे तुम्हारे ऊपर कभी कभी क्रोध भी आता है और दया भी आती है। मैं उस रोज़ मना ही करता रह गया कि किताबें भीगने दो, मगर तुमने न माना, तुम्हारी भी वही बनियेपन की आदत है कि जीव तो जाय मगर जीविका न जाने पाये!

मैं बोली—कौन मैं मरी जाती हूँ। यों ही अगर बुख़ार आ जाता और बीमार पड़ जाती तो आप किसको दोष देते? मैं तो इसी में ख़ुश हूँ कि आप बीमार नहीं पड़े। मैं पड़ी तो मुझे आराम है, मगर हाँ अगर आप बीमार पड़ गये होते तो मुझे परेशानी होती।

आप व्यंग की हँसी हँसते हुए बोले—क्यों नहीं, अपना सर बचे, दूसरे का सर बेल बराबर। तुमको तब बुरा लगता जब मैं बीमार पड़ता, तुम अपनी तरह मुझे भी क्यों नहीं सोचती हो। घर जैसे मुझे खाने दौड़ता है, और काम-धन्धा जाये भाड़ में।

मैं बोली—मैं अच्छी हूँ और काफ़ी अच्छा हूँ, आप इसकी चिन्ता छोड़ दें।

आप मेरे सिरहाने बैठे थे। हलकी-सी चपत मेरे गाल में लगाते हुए बोले, 'तुम पागल हो।'

१९३६ की बात है

फागुन का महीना था।

आप बोले—मुझे दिल्ली जाना है।

मैंने कहा—क्या कोई काम है ?

आप बोले—हाँ। मुझे रेडियोवालों ने रेडियो पर कहानी कहने के लिए बुलाया है।

मैं बोली—अभी इसी में तो होली भी होगी।

आप बोले—हाँ। तुम भी चलो।

मैं बोली—मेरी क्या ज़रूरत है ?

'ज़रूरत की बात थोड़े ही है। होली में तुम यहाँ अकेली रह कर करोगी क्या ?'

मैं बोली—केवल चलने की बात थोड़े ही है। ख़र्च भी तो करना पड़ेगा।

आप हँसते हुए बोले—तुमको सबसे अधिक ख़र्च की ही फ़िक्र रहती है।

मैं बोली—फ़िक्र न हो ? मुफ़्त में पैसे आते हैं ?

आप बोले—चलो भाई, वहाँ तुम्हें रुपये मिल जायँगे, घर से रुपया नहीं ख़र्च करना पड़ेगा।

मैं बोली—अगर घर से ख़र्च न करने पड़ेंगे तो क्या आकाश से टपक पड़ेंगे ?

आप बोले—समझ लो आकाश से ही टपक पड़ेंगे। रेडियो वालों ने मुझे १००) देने को कहा है। उसी में शायद १०)-५) रुपये बचा भी लोगी।

मैं बोली—अगर मैं नहीं जाऊँगी तब तो और भी अधिक बच रहेंगे।

आप बोले—तुम तो इस तरह कहती है जैसे एक देहाती कहावत है कि मरे नहीं तो घर-घर हो।

मैं बोली—यह तो उसी तरह हुआ, अल्ला मियाँ बड़े सयाने, पहले काट लिये दो आने। मिलेंगे तो पीछे, ख़र्च आपने पहले ही तैयार कर लिया है।

आप थोड़ी देर कुछ चुप रहे। फिर बोले—हाँ मुझे याद आया कि

तुम्हारी भाभी ने तुमको बुलाया था और मैं वादा कर आया था कि होली में मैं उनको लेकर आऊँगा।

मैं बोली—तब क्या आप दिल्ली जा रहे हैं या इलाहाबाद ?

तब आप बोले—लौटती बार इलाहाबाद आयेंगे। अभी तो सीधे दिल्ली जाना है।

मैंने कहा—त्यौहार को अपने ही घर रहना ठीक होगा।

आप बोले—घर पर भी तो सूना सूना रहेगा। बल्कि वहाँ जैनेन्द्र के रहने से अच्छा रहेगा। उसकी बहू वग़ैरह रहेंगी। इस साल उसकी माँ भी नहीं है। उन लोगों का भी जी बहल जायगा।

मैं चलने के लिए राज़ी हो गई। बोली—रुपये भी काफ़ी लगेंगे।

आप बोले—वहाँ मुझे १००) एक कहानी पर मिलेंगे, वह ख़र्च होगा।

मैं बोली—अगर मैं न जाऊँ तो वे रुपये बच जायँगे।

वे बोले—तुम भी ख़ूब हो। ख़र्च से भी बचा जायगा ?

हम दोनों सीधे दिल्ली गये। दिल्ली पहुँचने के तीसरे दिन होली हुई।

जैनेन्द्र के यहाँ हम लोग ठहरे थे। नाश्ता करके मैं, महात्मा भगवानदीन, आप और जैनेन्द्र बैठे थे। बीस-पचीस आदमियों ने एक साथ आकर इन लोगों को नहलाना शुरू किया। ये तीनों रंग में बुरी तरह डूब गये। मैं अलग खड़ी यह तमाशा देख रही थी। एक महाशय मेरी ओर बढ़े। दूसरे सज्जन ने कहा—नहीं, नहीं आपके ऊपर मत डालो। सब लोग एक साथ उन्हें नहला रहे थे और आप चुपचाप बैठे थे। उनका इस तरह का भाव देखकर मुझे हँसी आ गई। जब ये लोग चले गये तो मैंने देखा उनके सारे कपड़े तर हो गये। सारे बदन में रंग और गुलाल भर गया था।

मैं बोली—आप तो जैसे रंग डलवाने के लिए बिल्कुल तैयार बैठे थे।

आपने हँस कर जवाब दिया—होली के दिन सभी तैयार रहते हैं।

मैं बोली—तब तो ठीक है।

मैंने उनसे कहा कि आप कपड़े उतार डालिए, नहीं तो ज़ुकाम हो जायगा। उन्हें उस समय थोड़ी-थोड़ी खाँसी आ रही थी। वे दूसरे कपड़े बदलकर बैठे ही थे कि दूसरा गोल आ गया। जो हालत पहले हुई थी वही फिर हो गई। मैं साफ़ कपड़े पहने आराम से बैठी थी और इन लोगों की हालत पर मुझे हँसी आ रही थी।

आपने हँसते हुए कहा—तुम्हें हँसी सूझी है। हम लोग तो परेशान हो रहे हैं। वाह !' हम दोनों में बातें हो रही थीं कि जैनेन्द्र की बीबी आकर बोलीं—अम्माँ, हट जाओ। स्त्रियों की टोली आ रही है।

आप बोले—अब हटेंगे क्यों ?

मैं बोली—तो मेरी भी आपकी ही-सी गति हो जायगी !

आप बोले—होली तो हुई है। सिवाय इसके और क्या होता है !

मैं बोली—नहीं साहब, क्षमा कीजिए।

हम दोनों में बातें हो ही रही थीं कि महात्माजी* बोले—आप मेरे कमरे में चले जाइए। नहीं तो वाकई वे लोग नहीं छोड़ेंगे।

मैं चुपके से दरवाज़े बन्द कर अन्दर हो रही। जब स्त्रियाँ होली खेलकर चली गईं तो आप बोले—तुम भी अजीब आदमी हो। इस तरह कहीं कोई आदमी घबराता है।

मैं बोली—मुझे भूत बनाना अच्छा नहीं लगता। दिन भर में उन्होंने दो-तीन कुर्त्ते बदले; पर सबके सब रँग गये। शामको मैं बोली—अब तो साफ़ कपड़े बदल डालो। खाँसी बढ़ गई तो मज़ा आ जायगा।

आपने हँसकर कहा—मैं फूल का बना हुआ नहीं हूँ। ज़रा-ज़रा-सी बात पर कहीं बीमारी हो जाती है ?

शाम तक हम लोग इसी तरह बैठे रहे।

शाम को जब रेडियो पर अपनी कहानी सुनाने जाने लगे तो मुझसे बोले—तुम भी चलो।

* जैनेन्द्रकुमार के मामा महात्मा भगवानदीन

मैं बोली—मैं भला वहाँ क्या करूँगी।

आप बोले—आई हो घूमने कि घर में बैठने। चलो देख आओ, रेडियो पर लोग कैसे बोलते हैं।

मैं बोली—मेरी तबीयत नहीं कह रही है।

उस दिन मैं बड़ी मुश्किल से गई।

दूसरे दिन उर्दू और हिन्दी के लेखकों की मीटिंग हो रही थी। शायद आपके ही सम्मान में हो रही थी। आप फिर मुझसे चलने का आग्रह करने लगे। जब मैं चलने पर राज़ी न हुई, तब आप बोले—तुम घर में बैठने को इस तरह आयी हो कि बाहर जाने के नाम से घबड़ाती हो।

मैं बोली—वहाँ कोई नई चीज़ तो मिलेगी नहीं। उसमें लेखक और सम्पादक होंगे। आपस में तू-तू मैं-मैं करेंगे। इन लोगों के बीच जाना मुझे सचमुच रुचता नहीं, इन लोगों से ख़ुदा बचाये। ये दोनों आफ़त के घर हैं।

तब आपने हँसकर कहा—उसी आफ़त की एक शाखा तुम भी तो बन रही हो।

मैं बोली—मैं अपने को इन लोगों से दूर रखना चाहती हूँ। काम तो कुछ होता नहीं, केवल आपस में तू-तू मैं-मैं करते हैं।

आप बोले—कैसे अपने को अलग रखती हो? अभी जनवरी के प्रयाग महिला सम्मेलन में तो तुम सभानेत्री बनी हुई थीं। जब जानती हो कि तुमको इसी तरह करना है, तब उसमें घबराने का क्या काम।

मैं बोली—तबियत नहीं कहती तो कैसे जाऊँ?

उस दिन वे चले गये। उसकी सुबह हम लोग पुरानी दिल्ली देखने गये। पहले हम लोग कुतुबमीनार देखने गये।

आप नीचे खड़े बड़े ग़ौर से हर एक चीज़ को परखते हुए देख रहे थे।

महात्माजी बोले—ऊपर चलिएगा?

आप बोले—मैं तो ऊपर नहीं जाऊँगा।

मैं बोली—मैं तो जाऊँगी।

आपने हँसकर कहा—मीनार के ऊपर चढ़कर उसे नष्ट करोगी ?

मैं बोली—यह कैसा ? मैं देखने जा रही हूँ न कि नष्ट करने।

आपने कहा—देखो न, तुम नीचे हो तो वह कितनी ऊपर है। जब तुम के ऊपर पहुँच जाओगी तो उसका भी बड़प्पन नष्ट हो जायगा।

मैं बोली—तो क्या फिर दर्शन न करूँ ?

आप बोले—हाँ, अक्सर ऐसे ही होता है।

मैं उनकी इन बातों पर गहराई से सोचने लगी। मैं उसे देखती जाती और आँखों से आँसू गिरता जाता था। उसके इतिहास के अध्ययन से मन कमज़ोर हो रहा था। इस मीनार को देखती हुई मैं सोचती—जाने तनी स्मृतियाँ खो गईं। इसे बनानेवालों को ढूँढ़ने की कोशिश कोई करे तो गर होगा। मनुष्य स्थायी नहीं है। जब ईश्वर की बनाई चीज़ स्थायी नहीं तो मनुष्य की कैसे होगी। यह एक तमाशा है, मनुष्य कोई चीज़ नहीं ता। बार-बार मेरे अन्दर यही सवाल नाच रहा था।

हम सब मीनार चढ़ने के लिए बढ़े। मेरे मन में इतने भाव थे कि किसी की र आँख तक भी नहीं उठा सकती थी। उसके बाद हम लोग नीचे उतरे।

नीचे आने पर उन्होंने कहा—तुम्हारी तो अजीब हालत है। चलो पुरानी दल्ली देख लें। पुरानी दिल्ली में मैंने बादशाहों के महल देखे। उनमें भी भी स्मृति नाच रही थी। इतने दिनों के बने वे महल बिलकुल ताज़े ग रहे थे।

बादशाहों की हिन्दू और इसलामी रानियों के मन्दिर और महल जुदा-ुदा बने थे। दोनों के तौर-तरीके अलग-अलग थे, उन महलों को देखकर आश्चर्य होता था कि पहले के लोगों में कितनी एकता थी। वहाँ भी मैं आँसू न रोक सकी।

मैं बोली—ये विभिन्न संस्कृतियाँ बहुत ही अच्छे ढङ्ग की है। इन दोनों में आपस में ख़ूब पटती थी। एक दूसरे के भक्त थे। जितनी खींचतान इधर आपस में हो रही है, उतनी और कभी न हुई थी।

मैं बोली—ये लोग हिन्दू लड़कियों को क्यों ब्याहते थे ?

आप बोले—जब शौक़ से लोग उनके यहाँ करते हैं तो हर्ज क्या हुआ ? मुसलमानों ने सामाजिक तरक्क़ी की है। हिन्दू और मुसलमानों दोनों को बराबर समझना चाहिए।

मैं बोली—अब तो बहुत जल्दी उन लोगों को एक दूसरे से मतभेद भुला देना होगा।

आप बोले—हमारे और इनके बीच में अँग्रेज़ों ने झगड़ा करा दिया।

मैं बोली—अच्छा !

'जी हाँ, जब से अँग्रेज़ शुरू-शुरू में आये तभी से वही लोग इनको उभाड़ रहे हैं।'

मैं बोली—इन लोगों को समझ लेना चाहिए।

आप बोले—पैंतीस करोड़ आदमियों पर ये डेढ़ लाख हुकूमत करते हैं।

उस दिन हम लोगों ने वहाँ सारा दिन बिताया। एक-एक चीज़ को हम लोगों को बारीकी से समझाते हुए घर लाये।

दिल्ली में हम आठ रोज़ रहे। उसके बाद हम लोग प्रयाग चले गये।

इलाहाबाद में उतरने पर दुबारा ट्रेन पकड़ने के पहले तीन घंटे का समय था। आप स्टेशन ही पर बोले—तुम्हारे लिए महज़ तीन घंटा टाइम है।

मैं जब भाई के घर पहुँची तो आप मेरी भाभी से बोले—मैंने अपना वादा पूरा किया।

यही आपकी आख़िरी होली थी। मेरी भावजों ने उनसे होली खेली। मैंने हालाँकि मना कर दिया था, तब भी आप पर ख़ूब अबीर पोती गई। आप ख़ामोश बैठे थे। वे लोग रङ्ग लगा रही थीं, जब वे रङ्ग लगा चुकीं तो मैं बोली—आप भी उन लोगों को रङ्ग लगाइए। आपने ठहाका मारकर हँसते हुए कहा—इस लम्बे घूँघट में मुँह मिलना भी तो मुश्किल है। इससे यही अच्छा है कि चुपचाप बैठा रहूँ।

उसके बाद भावज ने बहुतेरा रोकने की कोशिश की, पर आप बोले—
ान पर कोई नहीं है। फिर जल्दी आऊँगा।

घर पहुँची तो देखा, घर सूना। साथ में भाभी ने बनाकर खाना रख
ा था। हम दोनों ने खाना खाया। सुबह के वक्त विश्वविद्यालय से बहुत
दमी होली मिलने आये। मेरी भाभी ने होली खेलने के लिए मुझे एक
ीन साड़ी दी थी। मैंने उसे घर पर पहना। जब आदमी लोग मिलकर
ले गये तो मुझसे बोले—यह साड़ी तुम्हें नहीं अच्छी लगती। मैंने पूछा—
यों ? बोले—यों ही। जाओ इसको बदल दो।

मैं जाकर साड़ी उतारकर आई ही थी कि मास्टर लोग आ गये।

उन लोगों से वही आख़िरी मिलन था। क्या ये बीते हुए दिन फिर
खने को नहीं मिलेंगे ? दिन वही रहते हैं और रातें वही रहती हैं, साज-
ामान वही रहते हैं। हाँ, वह आदमी नहीं रह जाते। तब फिर कैसे कहा
ाय कि वे ही दिन हैं। दुनिया का कार-बार ज्यों का त्यों चलता रहता है।
जिनके अच्छे दिन बीत जाते हैं, वह हाथ मलते रहते हैं। हाँ वह स्थायी
तस्वीर हृदय के अन्दर एक कसक पैदा करती रहती है। सच कहा जाय तो
स्थायी वही चीज़ है जो दिल के अन्दर दर्द पैदा करती रहे। जो मिलनेवाली
चीज़ है वह अपनी नहीं है। आज है, कल नहीं। हाँ अपना दर्द ही मरते
दम तक साथ देता है। SELF

सन् १९३६,

अप्रैल का महीना था, आपको लाहौर से निमंत्रण आया। कहानी सम्मे-
लन था। मुझसे बोले, भाई लाहौर से न्योता आया है, और मेरी इच्छा है
कि चला जाऊँ, मगर यह सोचता हूँ कि तुम भी चलतीं तो ज़्यादा बेहतर
था और चले चलो उसमें हर्ज ही क्या है।

मैं बोली—मैं अभी कई जगह गई हूँ, थक गई हूँ और फिर दूसरी
बात, घर पर भी तो कोई नहीं है।

आप बोले—घर में और बैठा ही कौन है, यहाँ अकेली रहोगी और मुझे भी चिन्ता बनी रहेगी। साथ साथ दोनों रहेंगे, और तुम घूम भी आओगी।

मैं बोली—महीनों से घूमते हो तो बीता है, और फिर हम दोनों साथ साथ चलें तो ख़र्च भी ज़्यादा पड़ेगा।

आप बोले—अरे भाई मेरा ख़र्च तो वह दे ही देंगे, जिन्होंने मुझे बुलाया है। तुम्हारा ख़र्च मैं दूँगा।

मैं बोली—तो क्या वह फालतू हैं, बिना मेहनत के आयेंगे ?

आप बोले—कैसे रुपये तुम्हारे यहाँ हों, जिन्हें तुम बग़ैर मेहनत समझो ?

मैं बोली—आकाश से रुपयों की बारिश हो, तब। और जो मेहनत ही करके आये तो चाहे मैंने दिये चाहे आपने, इससे तो कोई बात नहीं।

आप बोले—तो आकाश से जब रुपयों की बारिश होगी, तब भी तो चुनकर रखना ही पड़ेगा, तब भी तो मेहनत ही होगी। और मुमकिन है कि सर पर रुपये गिरें तो शायद चोट भी लग जाय, तब भी तुम शायद चुनने नहीं दोगी कि कहीं चोट भी न लग जाय !

मैं बोली—मैं जाना ही नहीं चाहती हूँ। मैं घूमने से घबरा गई हूँ। इच्छा तो नहीं है कि आप को भी जाने दूँ, क्योंकि कम से कम १०-१२ दिन लग जायँगे। आप वहाँ रहेंगे और मैं घर में बैठी हुई घबड़ाया करूँगी।

आप बोले—मेरी इच्छा ख़ुद जाने की नहीं थी, मगर जब बच पाऊँ तब।

मैं ताना कसती हुई बोली—लीडर होना क्या आसान है ?

आप बोले—अरे बाबा कौन लीडर बनने का ख़्वाहिशमंद है। मैं तो तुमसे कई बार बतला चुका कि घर में बैठा काम करता हूँ, मुझे ही कौन बाहर आनन्द मिला जाता है ? एक तो काम का नुक़सान हो और दूसरे परेशानी। गईं तो थीं तुम भी, क्या आनन्द मिला ? फिर दुबारा चलने का नाम तक नहीं ले रही हो, उस पर मेरे साथ साथ गई थीं, मुझे तो अकेला ही जाना होगा। तिस पर तुम्हारी चिन्ता।

मैं बोली—जाइए साहब, आप ठहरे लेखक, बातों में कौन जीतेगा।

जिस तारीख़ को आप आने को कह गये थे, आये उसके तीसरे दिन। जब आये, मैं झल्लाई हुई बैठी थी। देखते ही पूछा—अच्छा! आप बहुत जल्दी आये। जिस तारीख़ को आप कह जाते हैं, उस तारीख़ को आप कभी नहीं आते, और जब जाते हैं तो शायद घरवालों की याद भी भूल जाती है। और शायद कभी यह भी नहीं सोचते कि इस देरी का घरवालों पर क्या असर पड़ता होगा। जाते वक्त तो मालूम होता है कि आपकी जाने की बिलकुल इच्छा नहीं है, मगर वहाँ जाकर यह भी भूल जाते हैं कि वहाँ घर पर हमारी कोई इन्तज़ारी भी करता होगा। आपको नहीं मालूम होगा कि यह तीन दिन मैंने कैसे काटे हैं। मैं तो तार दिलवाने जा रही थी। जब मैनेजर को बुलाया तो मालूम हुआ कि शायद वहाँ न हों, चल दिये होंगे। इसी तरह करते-करते आज तीसरा दिन है।

मेरे मुँह पर हलकी सी चपत लगाते हुए बोले—पहले पागलराम मेरी बात तो सुन लो।

मैं तिनककर अलग खड़ी हो गई—मैं बात नहीं सुनती, आपने मुझे बहुत परेशान किया है।

आप बोले—अरे! भाई मैं तो ख़ुद ही तुम्हारा क़ैदी हूँ, मैं तुमको छोड़कर भागनेवाला जीव थोड़े ही हूँ। मैं तो तुमसे इसी लिए कहता था कि तुम मेरे साथ चलो, तुम गई ही नहीं, मैं तो जानता था कि बुलाते लोग एक काम के लिए हैं, मगर वहाँ जाने पर सब को मेरी ज़रूरत हो जाती है। सुनो, मैं तो ख़ुद घबड़ा रहा था कि तुम घर में अकेली हो। वहाँ कई जगह मुझे भाषण देना पड़ा। एक दिन तो भाषण में देरी हो गई, कई जगह लोग पकड़ ले गये, कल दिन भर मुझे बुख़ार हो आया था, रात के दो बजे बुख़ार उतरा है। सुबह, मैं जिनके मकान में ठहरा था, उनको ख़बर भी नहीं दी, चुपके से ताँगा करके स्टेशन भागा हूँ, तब जाकर ५ बजे की गाड़ी मिला है, तब इस वक्त घर पहुँचा हूँ। परसों ही का मैं खाना खाये हूँ।

मैं बोली—आख़िर, आपने उन लोगों को ख़बर क्यों नहीं दी, वह क्या समझते होंगे।

आप बोले—उनको ख़बर देता तो आज भी नहीं छूट पाता। कहते, रात भर बुख़ार था, आज जाने नहीं देंगे।

मैं बोली—अच्छा! वह ऐसे भलेमानुस थे कि वह आज भी नहीं आने देते?

'अच्छा, तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे घर कोई आता और बीमार पड़ जाता तो तुम कभी उसको जाने देतीं? और कई बार मैं देख भी चुका हूँ कि मैं शायद मान भी जाऊँ मगर तुम तो कभी भी नहीं जाने देतीं।'

मैं बोली—मैं तो मैं हूँ।

फिर आप बोले—तो अपने ही हाथ से अपने मुँह में तमाचा मार लो, तुम्हारी हार हो गई है। जैसे तुम्हारे कोई आता है, तुम उसकी ज़िम्मेदार हो जाती हो, उसी तरह दूसरे भी अपने यहाँ बुलाते हैं, तो वह भी उसी तरह ज़िम्मेवार हो जाते हैं। मान लो, सफ़र में मेरे तबियत ज़्यादा ख़राब हो जाती, तो तुम किसको दोष देतीं, उन्हीं को तो?

मैं बोली—अब लड़ाई-झगड़ा जाने दीजिए, मैं थोड़ा गरम दूध लाऊँ, थोड़ा दूध पी लीजिए और आराम कीजिए।

'हाँ लाओ थोड़ा-सा दूध पी लूँ, और शायद तुमने भी कुछ नहीं खाया है।

मैं बोली—मैं क्यों न खाती, मैं तो घर पर थी।

आप बोले—सच बतलाना, तुमने शायद कुछ खाया नहीं।

मैं बोली—खाती क्यों नहीं, खाया तो है।

वह बोले—मालूम होता है कि तुमने भी कुछ खाया नहीं, मुँह सूखा-सा मालूम होता है। इसी गुस्से में बैठी रही हो, तुम्हें मेरी क़सम सच बतलाओ।

उनके क़सम रखाने पर मुझे बतलाना पड़ा कि मैंने भी दो दिन से

खाना नहीं खाया था। मुझे चिन्ता हो रही थी, और साथ-साथ क्रोध भी था। मैंने बतलाया—मैंने भी खाना नहीं खाया है।

आप बोले—तुम बहुत बेवकूफ आदमी हो, अकेली रहो तो तुम खाना ही न खाओ। चलो तुम भी दूध पिओ और शायद तुमने खाना बनाया ही नहीं।

वह भी साथ-साथ मेरे चौके में गये, उन्होंने तो ख़ाली दूध ही पिया। मैं भी थोड़ा दूध पी करके, पान लेकर उनको देने गई। पान लेकर बोले—मेरे सर में कुछ दर्द-सा हो रहा है।

मैं बोली—सर में तेल मल दूँ?

आप बोले—नेकी और पूछ-पूछ।

मैंने तेल लेकर उनके सर में मालिश की। मालिश करने के बाद बोले—अब तो दर्द भग गया।

मैं बोली—तो अब सर में कंघी कर दूँ। आप कंघी करते समय बोले—अगर कोई आ जाय और देख ले तो क्या हो? अपने दिल में यही सोचेगा कि अच्छे रईस हैं। बीबी सर में तेल भी मले, कंघी भी कर दे।

मैं बोली—तो यह क्या कोई जुर्म है? अपने घर में सभी लोग करते हैं।

आप बोले—कहाँ तक ख़िदमत करोगी, लाओ, मैं तुम्हारा हाथ दबा दूँ? ख़ैर साहब मत दबवाओ, मेरे ऊपर डाँट भी पड़ी, खिदमत भी हुई, मैं ही अच्छा रहा।

पहले ये बातें रोज़मर्रा की थीं। आज वही कहानी हो रही है। आदमी कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है, इसको कभी कोई भूलकर भी नहीं सोचता था। अब उससे कहीं ज़्यादा दर्द इन घटनाओं को सोचने में हो रहा है। मैंने कभी सोचा था कि यह कहानी मुझे कभी लिखनी पड़ेगी? मगर नहीं, समय सब कुछ करा लेता है। इन्सान समय के हाथ का खिलौना है। जैसा समय खिलाता है, इन्सान उसी तरह खेलता है। उसी में एक मैं भी हूँ।

मई, सन् १९३६

'गोदान' छप चुका था। 'मंगलसूत्र' का प्लाट सोच रहे थे। छपकर गोदान मेरे पास पढ़ने को आया। मैं उसे पढ़ रही थी। आप अपने कमरे में अकेले थे, मैं भी अपने कमरे में थी। मैं होरी की मृत्यु की बात पढ़ रही थी। होरी की मौत पर मुझे रुलाई आ गई। रोते-रोते मेरी हिचकियाँ बँध गईं। आप अपने कमरे से पान खाने के बहाने मेरे कमरे में आये। वे अपने कमरे में अकेले रहते तो किसी-न-किसी बहाने से ज़रूर आते। मैं अपने रोने में इस तरह सुस्त पड़ गई थी कि उनका आना मुझे न मालूम हुआ। जब वे मेरे पास बैठ गये तब बोले—बतलाओ रोती क्यों हो?

मैं क्या जवाब देती, क्योंकि मैं बोल तक न पा रही थी। मगर उन्हें मेरे रोने का कारण मालूम हो गया। गोदान की खुली प्रति मेरे सीने पर पड़ी थी। उसे उठाकर अलग रखते हुए बोले—तुम बड़ी पागल हो। कल्पित बातों पर रोने बैठती हो। उस पर आपको नाज़ है कि स्त्रियों को रोने का मर्ज़ नहीं है। अब ख़ुद ऐसा क्यों कर रही हो? यह जानते हुए भी कि ये बातें कल्पित हैं। भला किसी दूसरे का लिखा हुआ होता, तो वह भी बात थी।

मैं उस झेंप को मिटाती हुई बोली—आपने उस बेचारे को मारा क्यों? उस बेचारी झुनिया को विधवा बना दिया। तब आप हँसकर बोले—चलो, तुम हार गईं। इसका तुम्हें जुर्माना देना पड़ेगा। चलकर मेरे कमरे में बैठो और मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने कमरे में ले गये। वहाँ पंखा लगा हुआ था। उसे खोलकर बोले—अब मुझे पान तो खिलाओ। और हँस दो तो तुम्हें अपने नये उपन्यास का प्लाट सुनाऊँ। मेरे साथ ही मेरा पान का डब्बा भी वे लाये थे। मैंने उनके मुँह में दो बीड़े पान दिये और बोली—अभी नहीं सुनूँगी।

आप बोले—नहीं सुनो।

मैं बोली—मेरी तबियत नहीं कहती

फिर बोले—न मालूम तुम कब से रोती रही होगी। अच्छा तुम सो जाओ। कहो तो मैं तुम्हारा सिर दबा दूँ।

मैं बोली—नहीं मेरे सिर में दर्द नहीं हो रहा है।

मेरे मना करने पर भी उन्होंने मेरा सिर दबाना शुरू किया। मुझे नींद भी आ गई। वे कब तक मेरा सिर दबाते रहे इसका मुझे ज़रा भी स्मरण नहीं। जब मैं सोकर जगी तो उनकी इस हरकत पर मुझे बड़ी शरम मालूम हुई। क्या इन सब बातों को सोचकर मैं सुखी रह सकती हूँ ?

सन् १९३५

मैं शहर में थी। गाँव से एक नाइन आई जिसका लड़का चोरी से भाग गया था। वह उसे देखकर बोले—क्या हालचाल है ?

उसने लड़के के भागने की बात उनसे कही।

आप बोले—आख़िर वह भागकर कहाँ गया ?

वह बोली—आज आठ दिन से पता नहीं है।

आठ दिन में वह भी मरीज जैसी हो गयी थी।

आपने पूछा—क्या तुम बीमार थीं ?

वह बोली—मैं बीमार नहीं हूँ। लड़के की चिन्ता से ऐसी हालत हुई है।

आप बोले—बच्चा तो है नहीं, जो घबराती हो। अब उसको तेरी फ़िक्र करनी चाहिए।

मैं बोली—वह रो-रोकर मर रही है। ख़बर है ?

आप बोले—फ़िज़ूल रोना नहीं चाहिए।

मैं बोली—नहीं, फ़िक्र होती ही है।

आप बोले—बच्चा तो है नहीं, जवान है इसी लिए भाग गया। ख़ुद-गर्ज़ है नालायक, तू आराम से यहीं रह। अगर वह तेरी फ़िक्र नहीं करता तो जब उसकी इच्छा होगी चला आवेगा। जवान लड़कों के भागने पर नहीं रोना चाहिए। लड़की भी तो नहीं है कि बदनामी होगी।

वह बोली—जी नहीं मानता चाचाजी।

आप बोले—अगर वह बीमार होता तो तुम्हारी चिन्ता सही कही जाती। या कोई उसे जबरन पकड़ ले गया होता। तब रोना चाहिए था। तब तुम उसकी फ़िक्र करतीं। जब उसमें प्रेम नहीं है तो उसकी क्या दवा।

उस नाइन ने अपने बच्चों को बड़ी कठिनता से जिलाया था।

वह अपने पुराने दिनों की याद करके रो पड़ी।

आप बोले—तुम बेकार क्यों मर रही हो? तुझे वहाँ न अच्छा लगता हो तो यहीं पड़ी रह। मुझे इस तरह के लड़कों पर रहम नहीं आता। तुझे जो ज़रूरत हो अपनी चाची से माँग लिया कर।

मैं बोली—यह लौंडे के लिए मर रही है, इसे चाहिए क्या?

आप बोले—इसकी ग़लती है, कह तो दिया।

मैं बोली—कहाँ तक सब्र करे।

एक महीने तक वह परेशान रही। जब वह आती तो उसे इसी तरह समझाते। इसी बीच में रोते-रोते वह हमारे यहाँ बीमार पड़ गई। आठ दिन तक इसी जगह पड़ी रही। दवा अपने हाथ से उसे देते। आठ रोज़ के बाद उसका दूसरा लड़का आया, उसे लिवा ले गया। उसके जाने के समय वह घर पर नहीं थे। लौटने पर सुना तो बोले—नाहक़ जाने दिया। अपने दिल में क्या सोचा होगा।

मैं बोली—मैं भेजने थोड़े ही गई थी। उसका लड़का आकर लिवा ले गया। मैं तो उसे रोक ही रही थी। पर वह नहीं मानी।

उसके लिए उन्होंने कई बार रुपए भेजवाये।

उनका सिद्धान्त था कि नौकर को नौकर मत समझो। नौकर तो अपना एक मददगार होता है। तुमको नौकर की ज़रूरत होती है, नौकर को तुम्हारी। दोनों को एक-सी ज़रूरत होती है। ऐसा ही समझना चाहिए। वे अक्सर हम लोगों को ऐसा समझाते। सब लोगों को ऐसा समझाते। सब लोगों के सामने इस तरह की बातें किया करते। इतनी बड़ी बीमारी में सिर्फ़ मैंने दो

बार उन्हें क्रोध करते देखा। नहीं ज़्यादातर शान्त रहते थे। रोगी तो क्रोधी और चिड़चिड़े हो जाते हैं। पर वे इस बीमारी में भी शान्त थे। जैसे पहले रहे, वैसे ही बीमारी में भी। सुबह जैसे ही उन्हें नाश्ता करवा चुकती, वैसे ही मेरे नाश्ते की फ़िक्र उन्हें हो जाती। जब तक मैं नाश्ता न कर लेती, वे हठ करते ही रहते। वे बराबर मेरा ध्यान रखते थे।

एक रोज़ उनका क्रोध देखकर मैं घबरा गई। धुन्नू को कुछ छपवाने के लिए प्रेस में कहा था। धुन्नू से पूछा कि छपा ?

धुन्नू ने कहा—अभी नहीं।

ज़ोर से हाथ पटकते हुए बोले—क्यों नहीं छपा ?

मैंने प्रार्थना करके कहा—क्या है ? आप यह क्या करते हैं ?

वे हाँफते हुए बोले—इस लौंडे को देखती हो, मेरा कहना नहीं मानता।

मैं बोली—लड़का ही तो है। भूल गया होगा।

आप बोले—भुलक्कड़ आदमियों पर मुझे क्रोध आता है। यह थोड़ा बहुत काम क्या देखने लगा, समझता है मैं बहुत लायक़ हो गया।

मैं बोली—क्रोध न कीजिए। अभी बच्चा है। घबरा गया है।

उस रोज़ वे शान्त हो गये। एक रोज चारपाई पर ही पाख़ाना हुआ। उनके सारे कपड़े ख़राब हो गये। मैं पाख़ाना साफ़ कर रही थी। मेरे मुँह से निकला, सारे कपड़े गन्दे हो गये हैं। उन्होंने समझा शायद ज़िद के मारे ऐसा मैंने कह दिया है।

इस पर बोले—मत आना, मरने दो।

उस दिन मैं घबराकर बोली—क्रोध न कीजिए। जब चुप हो गये, तो सारा क़िस्सा मैंने समझा दिया। मेरा दुर्भाग्य है कि आप बीमार हैं। आपके प्रति भला मेरी ऐसी धारणा होगी !

आप हाथ जोड़ते हुए बोले—मुझे माफ़ करो रानी !

मैंने कहा—मुझे कोई दुःख थोड़े ही है। हाँ, इसका दुःख ज़रूर है कि क्रोध करने से आपकी कमज़ोरी बढ़ जायगी। आइन्दा आप क्रोध न करें।

दो बार क्रोध करते मैंने उन्हें देखा है। मगर मुझे डाँटने का उन्हें अफ़सोस हुआ था। जिस आदमी ने अपनी ज़िन्दगी में सबको सुखी करने की कोशिश की वह महान् आत्मा किसी को कभी दुख पहुँचा सकती थी? मैं तो ख़ैर उनकी ही थी।

१९३६ की जनवरी

आप घूमकर सुबह लौटे। नाश्ता करने आये तो हँसकर आप बोले—खाने को तो अच्छी से अच्छी चीज़ खाता हूँ; मगर शरीर में कुछ बल नहीं मालूम होता। मैं घूमने जाता हूँ, तो पैर थके-से लगते हैं।

मैं बोली—आपको इसी तरह बम्बई में भी तो मालूम होता था। आप किसी अच्छे डाक्टर को दिखलाइए और दवा कीजिए। आख़िर ऐसा होता क्यों है?

आप बोले—तुम भी अजब आदमी हो। ज़रा-सी बात सुनकर तिल को ताड़ कर दिया। इसी तरह हो जाता है। फिर मैं भी तो अब साठ के पेट में हूँ। काम करने को तो जवानों से भी अच्छा कर सकता हूँ। तब फिर? अब दिन पर दिन ऐसे ही बीतेगा। जिस बुढ़ापे को मैं ख़त्म करना चाहता हूँ, शायद वह अब हम पर ही हावी होनेवाला है। मैं भी जल्दी हार मानने का नहीं। क्योंकि अगर मैं उसका लोहा मान जाऊँ तो वह मुझे और सतायेगा। उससे मज़बूत होकर उससे लोहा लेना पड़ेगा।

मैं क्रोध के साथ बोली—तुम्हारी हमेशा की पीसने की आदत पड़ गई है। उसे भला तुम छोड़ सकते हो?

आप बड़े ज़ोर से ठहाका मारकर हँसते हुए बोले—जब मैं उसे अब तक नहीं छोड़ सका तो भला कैसे छोड़ सकता हूँ। एक तरह से वह अब हमारा पेशा हो गया है। अब वह अलग थोड़े ही हो सकता है।

मुझे यह सुनकर और क्रोध आया। मैं बोली—अगर इस समय तुम्हारी माँ होतीं तो बिना तुम्हें दो तमाचे दिये हरगिज़ न मानतीं।

तब फिर उसी तरह हँसते हुए बोले—तब मेरी ऐसी आदत पड़ती ही क्यों ?

मैं बोली—तब क्या यह सब मुझे दिखाने और चिढ़ाने के लिए है।

तब आप हँसते हुए बोले—क्या मालूम। यह देखने के लिए ही अगर तुम बनी हो, तब ?

इस पर मैं और भी झल्लाई। कहाँ तो मैंने सोचा था कि शायद डाँटने पर अपने को डॉक्टर को दिखायें। किया उन्होंने उसका उलटा। तब बोले—सुनो, मुझे कोई बीमारी नहीं है। डॉक्टर के पास जाऊँगा तो वह एक-न-एक बीमारी ज़रूर बता देगा।

मैं बोली—क्या डॉक्टर से आपकी दुश्मनी है ? कैसे बीमारी न होने पर बीमारी बता देगा।

बोले—तुम जानती नहीं हो। उनका यही पेशा है। जो कहता हूँ, मान जाओ।

मैं बोली—दिखलाने में तो शायद हर्ज नहीं। आगा-पीछा सोचने की ऐसी कोई ज़रूरत नहीं।

बोले—दिखाऊँगा। कल और देख लूँ, तब जाऊँगा डाक्टर के पास। अब तो ख़ुश हो न ! लाओ पान दो। अब तक तो काफ़ी काम हो गया होता। नहीं तो फ़िज़ूल की बक-झक हुई।

दूसरे दिन मैंने पूछा—गये थे ?

आप बोले—कुछ नहीं है। मैंने तो तुमसे कल ही कह दिया था। इसी तरह कभी-कभी हो जाता है। ज़रा-ज़रा-सी बात के पीछे डॉक्टरों के पीछे दौड़ता रहे तो दुनिया का काम ही बन्द हो जाय। रात-दिन डॉक्टर ही के फेर में पड़ा रहे।

अब मुझे मालूम होता है कि शायद यह रोग उन्हें बम्बई से ही लगा था। वे अपने काम की धुन में उसे भुलाये बैठे थे। मैं भी अन्धी बनी बैठी थी। अब जब सब खो गया तो अपनी नादानी पर हाथ मल-मलकर पछता

रही हूँ, जो मूर्खों का काम है। हालाँकि मैं यह जानती हूँ कि व्यर्थ सोचने से क्या लाभ होगा। फिर भी जी नहीं मानता। असल में यह बात भी ठीक है। इसे छोड़कर मेरे हाथ में है ही क्या? क्योंकि दिल और दिमाग़ तो हमेशा साथ में रहता है और रहेगा।

१६ जून, १९३६

आप किसी काम से शहर गये हुए थे। पाँच-छः बजे के लगभग शाम के समय जब आप आये तो मैं कमरे में लेटी थी, क्योंकि घर में और कोई न था। दोनों लड़के लड़की को बुलाने गये थे। आप आते ही सीधे मेरे पास गये। बोले—कुछ पानी पीने को ला दो। प्यास बड़ी तेज़ लगी है।

मैंने अन्दर जाकर थोड़ी सी मिठाई लाकर रख दी।

उसको खाने के बाद बोले—थोड़ा गुड़ दो और थोड़ा पानी।

मैं बोली—आप गये कहाँ थे? इस क़दर कैसे प्यास लगी?

आप बोले—शहर चला गया था। कल छपने के लिए काग़ज़ नहीं था।

मैं बोली—मुझ से तो कह जाते भले आदमी! इसी लू और धूप में बिना कहे चल दिये।

मैं आया था, तुम सो रही थीं; जगाना उचित न समझा। सोचा कि तुम्हारे सोते तक मैं काम करके चला आऊँगा। मगर ऐसा उलझा कि तीन बजे का गया छः बजे लौटा।

मैं बोली—इस वक़्त जाते।

आप बोले—शामको कैसे जाता? रात को लौटता तो और देर हो जाती। तुम रात को अकेली रहतीं। कई दिनों से जाने को सोच रहा था। पर समय नहीं मिलता था। सुबह घूमने जाता हूँ, फिर काम का समय आ जाता है। शाम को तुम अकेली पड़ जाओ अगर चला जाऊँ। अकेली घबरातीं न तुम?

मैं बोली—घाम और लू की अपेक्षा शाम ही अच्छा था।

तब आप बोले—यह सब अमीरों के नख़रे हैं। क्या कोई काम बन्द रहता है। आख़िर वे भी तो आदमी ही हैं?

मैं बोली—आप कैसी बातें करने लगते हैं? जैसे दुनिया भर के ठीके-दार आप ही हों।

कुछ देर तक उसी तरह बातें होती रहीं। इसके बाद उन्हीं के गाँव से एक नाइन आ गई। उससे वह गाँव का हालचाल पूछने लगे। चिराग़ जलने का समय हो गया था। मेरे डिब्बे से पान निकालकर खाते हुए वे अपनी बैठक में चले गये। नौ बजे रात तक काम करते रहे।

मैंने जाकर कहा—चलकर खाना तो खा लीजिए। काफ़ी देर हो रही है।

आप घड़ी की ओर इशारा करते हुए बोले—अभी नौ ही तो बजा है।

मैंने घड़ी की ओर देखकर कहा—आपके यहाँ नौ से ज़्यादा बजता ही नहीं।

आप बोले—घड़ी को मैं घूँस थोड़े ही देता हूँ। घड़ी तो तुम्हारे सामने रखी है, क्यों नहीं देख लेतीं।

खाना खाने बैठे तो एक रोटी मुश्किल से खाई होगी। बोले—मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।

मैं बोली—आम का पना है उसे खा लीजिये।

तब बोले—नहीं जी, अब कुछ खाने की तबिअत नहीं होती।

मैं बोली—गरमी बहुत पड़ रही है, फ़ायदा करता। ख़ैर मत खाइए।

उस नाइन को जाकर मैंने खिलाया। जब मैं खाना खा चुकी तो उन्हें पानी देने गई। यह सोचा कि पानी देकर आऊँगी तो नाइन से पाँव दब-वाऊँगी। मेरी तबियत कुछ भारी थी। जब उनके कमरे में गई तो मसनद के सहारे डेस्क पर बैठे कुछ लिख रहे थे।

मुझे देख कर बोले—न मालूम क्यों पेट में दर्द हो रहा है।

मैं बोली—कब से? आप बोले—जब से खाना खाकर आया हूँ, तभी से।

मैं बोली—क्या बात है ? आप ने आज कुछ खाना भी नहीं खाया। फिर भी क्यों दर्द होने लगा ?

मैं उसी जगह खड़ी ही कि आप को कै आने लगी। मैं दौड़ी। उनकी पीठ और गर्दन पर हाथ फेरने लगी। उसके बाद उन्हें उल्टी करवाई। फिर उनको पान और इलायची दी। पान मुँह में डालने ही को थे कि फिर उन्हें क़ै आ गई। फिर एक और क़ै हुई। तिबारा जब क़ै होने लगी तो मैं घबरा गई। मैं भी पाखाने गई। तब तक आप कुल्ला करके बैठे थे।

मैं बोली—कैसी तबियत है ?

आप बोले—पेट में दर्द है। हाँ क़ै अब नहीं मालूम होती।

उन्होंने अपना पेट मुझे दिखाया। पेट की नस मोटी पड़ गई थी। पेट की फूली नस और दर्द देखकर मैं घबरा गई।

मैं बोली—मैं किसी डाक्टर को ले आती हूँ।

आप बोले—घबराओ नहीं, और यह कहते हुए मेरा हाथ पकड़कर मुझे उन्होंने कुर्सी पर बैठाया। उनके पास बैठते मेरा विचार हुआ कि इन्हें पुदीना वग़ैरह पीसकर क्यों न दिया जाय। मैं दवा कूटने-पीसने लगी। नाइन से पानी गरम करने को कहा। दवा लाकर उन्हें पिलायी। बोतल में गरम पानी भरकर उनके पेट पर सेंक करने लगी। उस दिन तीन बजे के बाद उनके पेट का दर्द शान्त हुआ। जब उनके पेट का दर्द कुछ शान्त हुआ तो उन्हें कुछ नींद आ गई। मैं भी अपनी चारपाई पर सो रही।

उसी दिन उन्हें ख़ून के दस्त आने लगे। उस दिन से न उन्होंने भरपेट खाना खाया, न नींद भर सोये। तीन-चार रोज़ तक होमियोपैथी दवा खाते रहे। २३ तारीख को एलोपैथ डाक्टर के पास गये। उसी दिन रात को बच्चे आये। रात को मैंने खाने के लिए कहा तो आप बोले—मेरी खाने की इच्छा बिल्कुल नहीं है।

मैं बोली—थोड़ा दूध ही ले लीजिए।

आप बोले—भाई इच्छा नहीं है तो कैसे खाऊँ ?

बच्चों ने कहा—हम लोग मुग़लसराय में खा चुके हैं। दोनों बच्चे बेटी के साथ बैठकर बड़ी देर तक बातें करते रहे।

जो आदमी एक रात में दो-चार घण्टे अकेले रहने पर तकलीफ़ महसूस करता था और अपने को लू और घाम में बग़ैर रोक-टोक के चलने को तैयार रखता था, इस ख़्याल से कि शाम के पहले घर लौटें, क्या उस आदमी को मैं अपनी ज़िन्दगी में भूल सकती हूँ? मैं चाहे जहाँ जाऊँ और पड़ी रहूँ, मैं वही हूँ। उनका दर्शन तो अब दुर्लभ हो गया। उनका किसी भी तरह का सहयोग मुझे सुलभ नहीं। वाह री क़िस्मत! कहाँ से कहाँ ला पटक दिया। मुझ ऐसी जड़ को ख़ुदा अभी ज़िन्दा रखे है, क्यों? हाँ, आशे, तू ख़ूब है। जिसको ज़िन्दा मैं न पा सकी, उसको पाने की आशा मरने के बाद। आशा ही हाथ है। आशा में बड़ा बल होता है। किसी ने ख़ूब कहा है—

अपने पहरे दीजिये जाग। दूसरे के पहरे लग जाए आग।

उसको मेरे पतिदेव ने ठीक-ठीक समझा और ख़ूब निबाहा। मगर मैं? जैसे जुआरी सब-कुछ हारकर एकान्त में चुपके-चुपके बैठकर आहें भरता है, उसी तरह एक मैं भी हूँ।

अगस्त १९३६

गोर्की की मौत पर 'आज' आफ़िस में मीटिंग होनेवाली थी। रात को जब आपको नींद नहीं आई तो आप उठकर भाषण लिखने लगे। उन दिनों मुझे भी रात को नींद नहीं आती थी। मेरी आँख खुली तो देखा कि आप ज़मीन पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

मैं बोली—आप यह क्या कर रहे हैं?

बोले—कुछ नहीं।

मैं बोली—नहीं, कुछ तो ज़रूर लिख रहे हैं।

तब बोले—परसों 'आज' आफ़िस में गोर्की की मृत्यु पर मीटिंग होनेवाली है।

मैं बोली—कैसी मीटिंग ? तबियत अच्छी नहीं, भाषण लिखने बैठे। मालूम है, दो बजे हैं।

आप बोले—नींद नहीं आती तो क्या करूँ। भाषण तो लिखना ही पड़ता।

मैं बोली—जब तबियत ठीक नहीं तो भाषण कैसे लिखा जायगा।

आप बोले—ज़रूरी तो हई है। बिना लिखे काम नहीं चलेगा। अपनी ख़ुशी से काम करने में आराम या तकलीफ़ का बोध नहीं होता। जिसको आदमी कर्त्तव्य समझ लेता है, उसके करने में मनुष्य को कुछ भी तकलीफ़ नहीं होती। इन कामों को आदमी सबसे ज़्यादा ज़रूरी समझता है।

मैं बोली—यह मीटिंग है कैसी ?

आप ने कहा—शोक-सभा है।

मैं बोली—वह कौन हिन्दुस्तानी थे ?

आप बोले—यही तो हम लोगों की तङ्गदिली है। गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके विषय में जातीयता का सवाल ही नहीं उठता, लेखक हिन्दुस्तानी या यूरोपियन नहीं देखा जाता। वह जो लिखेगा, उससे सभी को लाभ होता है।

मैंने कहा—ठीक। उसने हिन्दुस्तान के लिए भी कुछ लिखा ?

आप बोले—तुम ग़लती करती हो, रानी ! लेखक के पास होता ही क्या है, जिसे वह अलग-अलग बाँट दे। लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही सबको वह दे सकता है। उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। लेखक तो अपनी तपस्या का कुछ भी अंश अपने लिए नहीं रख छोड़ता। और लोग जो तपस्या करते हैं वह तो अपने लिए। लेखक जो तपस्या करता है, उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता।

मैं बोली—गाँववालों में तो शायद ही कोई गोर्की का नाम जानता हो।

आप बोले—यहाँ के गाँवों की क्या ? यहाँ के आदमी तो अपनों को नहीं जानते। इसके माने यह नहीं कि यहाँ के लोगों के लिए कुछ काम ही नहीं किया जाय।

मैं बोली—जानते क्यों नहीं? तुलसी, सूर, कबीर, वे किसको नहीं जानते?

आप बोले—इनके भी जानकार गाँव में थोड़े हैं। इसका कारण है शिक्षा का अभाव। अभी यहाँ बहुत थोड़ी शिक्षा है। उसी वजह से यहाँ जो कुछ होता है, वह थोड़े लोगों के लिए होकर रह जाता है। जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जायगा? वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ओर पूजे जायँगे।

मैं बोली—यहाँवालों को तो पहले अपनों की पूजा करनी चाहिए। आगरे का कवि-सम्मेलन आप को याद नहीं रहा क्या? जब हरिऔधजी को भरी सभा में कुशब्द कहा गया था। आप ही उस पर बिगड़े भी थे। और लोग तो चुप रह गये थे।

तब आप और गम्भीर होकर बोले—इसमें लेखकों और पाठकों का दुर्भाग्य है। क्योंकि जब तक उनके दिलों में उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम न हो, तब तक उनके उपदेश वे कैसे ले ही सकते हैं?

मैं बोली—वे लोग सबसे ज़्यादा बुद्धिमान् अपने को ही समझते हैं। पहले वाले एम० ए० बी० ए० की डिग्रियाँ नहीं हथियाये रहते थे कि उससे अपनी योग्यता नाप सकें। उनकी श्रद्धा का शायद यही कारण था।

आप बोले—डिग्रियों से यह सब नहीं होता। बल्कि ईश्वर की दी हुई एक ख़ास शक्ति होतो है। कबीर और तुलसी को क्या कोई डिग्री मिली थी? मगर उन लोगों ने जैसी चीज़ें दीं वैसा क्या अब लोग दे पा रहे हैं? फिर और तो जाने दो। अभी गाँव में जो स्त्रियाँ गीत गाती हैं, वे क्या कविता से कम हैं, उन स्त्रियों ने तो अपना नाम तक नहीं लिया?

इसी तरह बातें करते-करते चार बज गये। सामने घड़ी डेस्क पर रखी थी, देखकर बोले—मुझे तो नींद नहीं आती, तुम व्यथ में क्यों जागती रह गईं। कहीं तुम्हारी भी तबियत ख़राब हो जाये तो और भी मुसीबत हो। जाओ सो रहो।

मैं बोली—मुझे भी नींद नहीं आती है।

आप बोले—लेट तो जाओ। जाओ, मैं भी लेटता हूँ। मैं उसी जगह चारपाई पर लेट रही। मैं डरती थी कि चले जाने पर ये फिर काम करने लगेंगे। और कोई ख़ुशी की बात भी न थी। मैंने देखा कि लिखते समय उनकी आँखों में आँसू थे।

सुबह हुई। दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो मैं बोली—आप चल तो सकते नहीं फिज़ूल में जा रहे हैं।

आप बोले—ताँगे पर जाना है। पैदल तो जा नहीं रहा हूँ।

मैं बोली—ज़ीने पर उतरना-चढ़ना है न ?

आप बोले—यह तो लगा ही रहता है। मेरी तबियत नहीं मानती।

मैंने उनके साथ में बड़े लड़के को भेज दिया। नीचे तक ख़ुद पहुँचाने आई। मैं यह डर रही थी कि कहीं ज़ीने पर से ये गिर न जायँ।

जब वे वहाँ से लौटे तो मैं फिर दरवाज़े पर मिली। जब वे ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत करने पर भी उनके पैर लड़खड़ा गये। मैं उनके पीछे-पीछे आ रही थी, जिससे कि उन्हें मेरा सँभलना मालूम न हो। ऊपर आने पर चारपाई पर लेट गये। सुस्त पड़ गये। मैं उनके पास बैठी धीरे-धीरे उनके पैर दबा रही थी। जब वे कुछ सुस्ता लिये, तब बोले—मैं वहाँ खड़ा न हो सका। भाषण पढ़ना तो दूर रहा। एक और महाशय से भाषण पढ़वाया।

मैं बोली—मेरा कहा आप मानें तब न ? मुफ्त में परेशानी उठानी पड़ी।

आप बोले—कमजोरी आये या चाहे जो कुछ, कहीं इस तरह बैठा जाता है।

मैं बोली—जब इस तरह करने से नुक़सान होता है तो भाषण किसी और से भेजवा दिया जाता।

आप बोले—ऐसा ख़याल नहीं था। हाँ, कमज़ोरी मुझे बहुत आ गई है।

मैं बोली—थोड़ा दूध पी लीजिए।

तब आप बोले—खाता-पीता हूँ तो सब।

मैं बोली—क्या खाते-पीते हो ? कुछ तो नहीं।

आप बोले—गोर्की के मरने से मुझे बहुत दुःख हुआ। मेरे दिल में यही आ रहा है कि गोर्की की जगह लेनेवाला कोई नहीं रहा।

गोर्की के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द-सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अन्तिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की की चर्चा वे अक्सर उन दिनों करते। कौन जानता था कि दो महीने भी बीतने नहीं पायेंगे कि वह खुद चले जायँगे। जिसके चले जाने से हिन्दी-साहित्य का और ख़ासकर मेरा तो जैसे तारा ही टूट पड़ा। गोर्की के लिए वे इतना दुःखी थे। अब हम लोगों के लिए क्यों वे दुःखी नहीं होते ? फिर इस पर मेरा गिला करना बेकार है।

२५ जुलाई, १९३६

उनको पहले २९ जून को ख़ून की कै हुई थी, उसी दिन से उनको नींद नहीं आती थी। मगर डाक्टर ने कह दिया था कि पित्त की ख़राबी से हुआ है। साथ ही डाक्टर ने कहा था कि मैंने ऐसे कितने रोगी अच्छे कर दिये हैं। हम दोनों को विश्वास हो गया था कि आप अच्छे हो जायँगे। एक रोज़ घूमकर आप लौटे तो मुझसे बोले—मैं रास्ते में चलता हूँ, तो पैर थर्राने लगते हैं। आँखों के नीचे अँधेरा छा जाता है। ख़ून भी तो ढाई-तीन सेर के लगभग निकल चुका है।

वे खाने में एहतियात करते थे। उनका यह क्रम एक महीने तक चलता रहा। पर एक दिन भी वे नहीं बैठे। उसी में उन्होंने 'मंगलसूत्र' के कितने ही सफ़े लिख डाले। और काम भी बीच-बीच में करते रहे। कई दिन घूमने गये तो साथ में मक्खन, हरी सब्जी अपने साथ लेते आते। जैसा कि उनकी पुरानी आदत थी। ताक़त न होने पर भी वे अपने को कमज़ोर नहीं महसूस करते थे। एक महीने तक वे इसी तरह करते रहे। हालाँकि

उसी दिन से उनसे पूरी ख़ूराक नहीं खाया जाता था। दूसरी क़ै उन्हें २५ जुलाई को ढाई बजे रात को फिर हुई। उन्हें नींद लाने के लिए पैर के तलवे और सिर में तेल की मालिश करती थी। मैं रात को एक बजे उनका सिर सहला रही थी कि किसी तरह उन्हें नींद आ जाय।

मुझसे वे बोले—अब तुम सो रहो। कब तक बैठी रहोगी।

मैं बोली—मैं तो आपकी फ़िक्र में हूँ और आप मेरी।

आप बोले—तुम सो जाओगी तो मैं भी सो जाऊँगा। मैं उसी कमरे में एक तख़्ते पर लेट गई। आप धीरे से उठे। पाख़ाने जाने लगे। पाख़ाने में बैठते ही आपको फिर क़ै आ गई। आवाज़ सुनकर दौड़ी गई। उस समय इतनी शिथिलता उनमें आ गई थी कि वे उठ-बैठ भी नहीं पा रहे थे। फिर दुबारा क़ै का ख़ून हम दोनों पर तैर गया। उसके बाद पानी माँगकर मैंने उससे उनका मुँह धोया। कुल्ला करवाकर उन्हें चारपाई के पास कर दिया। कुछ देर बाद तबियत कुछ सँभली।

उस समय तक तीनों बच्चे भी जाग गये थे।

मैं धुन्नू से बोली—जाकर डाक्टर को बुला लाओ।

आप बोले—लड़के को इस वक्त मत परेशान करो। डाक्टर ईश्वर नहीं। सुबह जायगा। जाकर कलम-दावात और काग़ज़ लाओ। जल्दी-जल्दी कह गये—अब मैं नहीं बचने का। कम-से-कम काग़ज़ तो दो।

मैं बोली—होगा क्या ?

'तुमको बैठने का तो ठिकाना करता जाऊँ।'

मैं बोली—घबराइए नहीं। आप अच्छे हो जायँगे। बोले—उठो, लाओ।

मैं बोली—अन्दर चलिए॥ वे मेरे मुँह की तरफ़ देखकर रो पड़े। मेरी भी आँखों से आँसू बह चले। मैं आँसुओं को छिपाना ज़रूर चाहती थी। पर मजबूरी भी कोई चीज़ है। फिर भी मैं अपने में साहस भरकर अपने सहारे उन्हें अन्दर ले गई। चारपाई पर जब उन्हें लिटा दिया, तब फिर वे बेहोश-से हो गये।

पहली बार भी वे इस तरह सुस्त पड़ गये थे। मैं ख़ामोश बैठी थी। बैठी क्या थी, अपनी किस्मत को रो रही थी। जब सुबह हुई तो फिर वे उठे। पाख़ाने गये। उस दिन वे सारा दिन बेहोश-से रहे। उस दिन तीन बजे के क़रीब उन्हें थोड़ा-सा दूध दिया। अब उस डॉक्टर पर से मेरा विश्वास उठ गया।

डॉक्टर गुप्ता को बुलाया। तीन-चार रोज़ तक उसकी दवा हुई। मगर उसकी दवा से कोई फ़ायदा नहीं हुआ। अब रोज़ाना उन्हें क़ै होने के समय की तरह गरमी रहने लगी। जब उसकी दवा से कोई लाभ नहीं हुआ तो लखनऊ चलने का आग्रह मैं करने लगी। एक्सरे की मशीन बनारसवाली ख़राब हो गई थी। बोले—ठीक कहती हो, लखनऊ चलो।

लखनऊ जाने के दिन साथ चलने का आग्रह मैं भी करने लगी।

आप बोले—तुम्हारे साथ चलने से क्या होगा ?

मैं बोली—क्यों ?

बोले—कोई ज़रूरत तुम्हारे जाने की नहीं है।

मैं बोली—धुन्नू जायगा ?

आप बोले—धुन्नू की भी कोई ज़रूरत नहीं। तुम्हारे इत्मीनान के लिए कहो लेता जाऊँ।

वहाँ वे दस-ग्यारह रोज़ रहे। वे ग्यारह दिन किस तरह कटे, कैसे बताऊँ ? वहाँ से जो चिट्ठियाँ आती थीं, वे भी गोल-मोल लिखी हुई। मैं जाने को तैयार ही थी कि वे आ गये। दरवाज़े पर जब उनका ताँगा आया तो देखकर मैं सुन्न रह गई। इससे अच्छे तो वे पहले ही थे। उन्हें किसी तरह ऊपर ले आई। जब ऊपर लाने लगी तो दरवाज़े पर पूछा—कैसी तबियत है ?

बोले—ठीक है, ऊपर तक आते-आते उन्हें गर्मी हो आई।

मैंने जल्दी से उनको बग़ल की एक चारपाई पर लेटा दिया।

कुछ देर में बोले—मैं अब नहीं बचने का।

मैं सुनकर क्या कहती—आँसू की धारा बह चली। उस समय मुझे दूनी ताकत चाहिए थी।

वे रोते हुए बोले—जलोदर है। मैंने दो-चार कड़े शब्द डॉक्टर के लिए भी कहे।

मा की तरह उन्हें समझाती हुई बोली—डाक्टर ऐसे ही बेहूदे होते हैं। वैसे ऐंठने के लिए कह दिया होगा। आप अच्छे हो जायँगे। बोलिए खाते क्या हैं?

उन्हें जैसी मेरी बातों का विश्वास हो आया। बोले—खाना भी छुड़ा दिया है। तीन रोज़ से तो कुछ नहीं खाया।

मैं बोली—कुछ भी नहीं खाया तीन दिनों से?

आपने कहा—नहीं।

मैंने कहा—तभी आप कमज़ोर पड़ गये हैं। आख़िर उसने खाने के लिए कुछ बताया कि कुछ नहीं?

आप बोले—बार्ली और बोतल का दूध खाने को बतलाया है।

मैंने पानी गरम करवाकर बार्ली चढ़वा दी। पहले दूध पीने को दिया। मेरा ख़याल था कि ख़ुद दूध पिलाऊँ।

आप बोले—अभी मैं ऐसा कमज़ोर नहीं हो गया हूँ।

दूध पी चुके तो मैं बोली—मैं ख़ुद कल लखनऊ जानेवाली थी।

आप बोले—कई रोज़ रात भर दस्त आते रहे। शायद उसने जुलाब दे दिया था। मैंने ही धुन्नू से लिखवाया था कि चली आओ। क्योंकि दस्त मुझे आते थे तो रात का कमोड हकीमजी को ख़ुद साफ़ करना पड़ता। हकीम देवता है। उसकी शराफ़त क्या बताऊँ? उन्होंने मेरी सेवा जी-जान से की। दस दिन वहाँ था, तब तक हकीमजी सोये नहीं। धुन्नू को सुलाकर रात भर वे मेरे पास बैठे रहते थे। ऐसा शरीफ़ आदमी मैंने नहीं देखा। ऐसे मुसलमान पर हज़ारों हिन्दू क़ुरबान हो सकते हैं। उसने जैसी मेरी सेवा की उसकी तारीफ़ मैं क्या करूँ? मैं अच्छा हो गया तो उनकी सेवा मैं करूँगा।

उस दिन से मेरे दिल के घाव ऐसे हो गये हैं कि अगर हकीमजी की सेवा मैं कुछ भी कर पाती तो अपना अहोभाग्य समझती। हाँ, मैं उन्हें अपना भाई समझती हूँ। अपनी एक एक तकलीफ़ का बयान उन्होंने किया।

मैं बोली—आप वहीं रहते। मैं तो कल आ जाती।

आप बोले—मैंने सोचा कहीं मर गया तो देख भी नहीं पाऊँगा।

इन बातों में सोचिए कितना दर्द भरा है और कितना अपनापन। इन बातों को सुनकर मुझे कितना ख़ून पीना पड़ा होगा। सिर्फ़ इस आशा से कि इसका प्रभाव कहीं बुरा न पड़ जाय। बस सिर्फ़ यही आशा थी कि वे अच्छे हो जायँगे। मगर वह आशा और वे भगवान्, इन दोनों से मुझे अरुचि हो जाय, अविश्वास हो जाय, तो शायद मेरी गलती नहीं होगी। क्योंकि जिस चीज़ को आदमी अपनाता है, विश्वास करता है अगर उससे किसी का अविश्वास हो जाता है तो दिल में एक क्रान्ति-सी पैदा हो जाती है। वह क्रान्ति हम लोगों को भस्म नहीं कर सकती, पर ख़ुद भस्म हो सकती है। फिर इन दोनों पर विश्वास लाना मेरे क़ाबू के बाहर की बात है। इसमें भी मेरा दुर्भाग्य ही है। जो इन पर विश्वास करते हैं, उन्हें थोड़ी-सी शान्ति मिलती है; मगर मैं इनमें भी जलन ही महसूस करती हूँ।

धुन्नू डाक्टर को लेकर आया। यह दूसरा होमियोपैथ डाक्टर था। मैंने उससे पूछा—क्या बीमारी है?

डाक्टर ने कहा—अभी बताता हूँ।

आप बोले—मैं तो जानता हूँ। आपको छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं।

डॉक्टर ने विश्वास दिलाया—आप अच्छे हो जायँगे।

आप बोले—यह सब बातें हैं।

लखनऊ से आते ही मुझसे कहा—मुझे देहात ले चलो। एक दफ़ा नहीं, अनेकों बार कहा। बल्कि यह कहा कि देखा देहात जाने से उस बार अच्छा हो गया था।

मैं भी चलने को तैयार हो गई। मगर बीमारी देखकर डर लगता था,

जाते नहीं बनता था। पर उनकी यही ज़िद थी कि घर चलो। मैंने धुन्नू से कहा—मैं देहात ले जाना चाहती हूँ।

धुन्नू बोला—एक तो शहर से दूर, दूसरे पानी इतना तेज़ गिर रहा है कि एक क्षण के लिए भी गुंजाइश नहीं। बाबूजी की जाने वहाँ कैसी हालत हो जाय। यहाँ समय से डाक्टर वग़ैरह तो मिल जायगा।

मैंने भी कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझसे दुबारा फिर बोले—रानी, तुम घर नहीं चल रही हो।

मैं बोली—हिम्मत नहीं होती, कैसे ले चलूँ। ज़रा आपकी तबियत सँभल जाय तो कुछ हिम्मत पड़े।

गाँव जाने का लोभ उन्हें आख़ीर तक रहा।

रामकटोरावाले मेरे आजकल के मकान को वे पहले ही देख गये थे। मुझे भी यह पसन्द आया था। मैंने पण्डित से पुछवाया। पण्डित ने दस अगस्त को नये मकान में जाने को बताया। उनकी बीमारी का हाल सुनकर मेरे भाई भी देखने आये थे। भाई ने मेरी परेशानी देखकर अपनी स्त्री को मेरे पास भेजवा दिया। पानी ज़ोरों से बरस रहा था, फिर भी मेरे घर का सामान ढोया जा रहा था। उनके कमरे में कुछ किताबें बिखरी पड़ी थीं। सब सामान अस्त-व्यस्त था। आपने एक बार उठने की कोशिश की। मगर अपनी तबियत से लाचार। मुझे देखा तो लेट रहे।

मैं बोली—आप यह क्या कर रहे हैं ?

बोले—कुछ नहीं। दोनों लड़के कहाँ गये ?

मैं बोली—यहीं कहीं सामान वग़ैरह ठीक कर रहे होंगे।

आप बोले—किताबों का बण्डल वग़ैरह क्यों नहीं बँधवा देतीं ?

मैं दरवाज़े से आँगन को लौट रही थी तो बोले—कोई ठीक करे या नहीं, अपने को क्या !

इन शब्दों में सोचिए कितनी विरक्ति भरी थी। ये शब्द कितने मार्मिक थे। जिसने अपने हाथ से एक-एक चीज़ों का संग्रह किया हो, जिन चीज़ों के

लिए पसीने की जगह ख़ून बहाया हो, जिन चीज़ों के समेटने के लिए अभी एक मिनट पहले ही वे उठे थे, उसी के प्रति ऐसी उदासीनता ?

थोड़ी देर बाद मैं फिर उसी कमरे में गई। उसके कुछ ही मिनट पहले पानी की बूँदें थमी थीं।

मुझसे बोले—चलती क्यों नहीं तुम ? पानी में भीग जाऊँगा, नहीं तो।

मैं थोड़ी-सी दही और शक्कर लाकर सामने रखकर बोली—ज़रा इसे ज़बान पर लगा लीजिए।

मेरे कहने से उन्होंने ज़बान पर तो ज़रूर लगाया ; लेकिन कुल्ला करते हुए मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया।

वह ख़ुशी की हँसी नहीं थी। सोचिए उसमें कितना व्यङ्ग भरा था। वह व्यङ्ग यह था कि मरता हुआ आदमी कहीं दही चाटकर स्वस्थ हुआ है। यही हँसने का कारण रहा होगा।

मैं उसी तरह ताँगे में बैठकर नये मकान पर लाई। रास्ते भर मैं एक हाथ से बेटी के बच्चे को, दूसरे से उन्हें पकड़े आ रही थी। क्योंकि मुझे उन पर विश्वास न था। वे बच्चे की तरह ही उस समय हो गये थे। जब मैं नये घर में पहुँची तो लड़का तो ख़ुद उतरकर चला आया। उन्हें मैं अपने सहारे लाई। वह मेरा सहारा क्या था, आत्म-विश्वास था। क्योंकि अगर वे गिरते ही तो मैं कब रोक पाती। उन्होंने मेरा सहारा शायद इसलिए मंजूर किया था कि मैं समझूँ कि उन्होंने मेरी बात मान ली।

चारपाई पहले ही से बिछी हुई थी। वह उत्तर-दक्खिन बिछी हुई थी। जब वे लेट गये तो दिशा का ज्ञान हुआ।

मैंने कहा—ज़रा चारपाई को ठीक करने दीजिए तो।

आप बोले—इससे क्या होगा जी। जो होना होता है, वही होगा।

मैं बोली—जरा उठ जाइए।

बोले—अच्छा, थोड़ी देर में उठता हूँ।

जब सुस्ता चुके तो उठकर खड़े हो गये। बेटी को बुलवाकर मैंने उनकी चारपाई पूरब से पच्छिम कर दी। उस दिन शाम के वक्त खाना नहीं पका। खाना पकता ही कैसे।

आप बोले—बाज़ार से पूड़ी मँगवा लो। मेरे लिए गरम पानी करके दूध बना दो।

मैं बोली—बार्ली न लीजिएगा?

बोले—मेरी तबीयत बार्ली लेने की बिल्कुल नहीं है।

जिस रोज़ मैं इस घर में आई, ठेले से सामान लदकर नये मकान में आ रहा था। ठेले के साथ छोटा लड़का बन्नू आ रहा था।

बरसात जारी थी।

ठेला बन्नू के पैर पर चढ़ गया।

किसी तरह ठेला भीतर आया।

मैं उसके पैर को देखकर बोली—यह क्या हो गया।

मैं उसके पैर को ठीक करने के लिए इधर-उधर घूम रही थी कि उसका पैर किसी तरह ठीक हो जाय।

आप कमरे से बोले—यहाँ आओ।

जब मैं उनके पास गई तो बोले—किसी को चोट लग गई क्या?

मैंने कहा—हाँ, बन्नू के पैर में चोट आ गई।

आप बोले—सब आफ़त एक ही दिन आती है क्या क्या ज़्यादा चोट आ गई?

मैंने कहा—नहीं तो।

बोले—तुम यहीं बैठो, और लोग हैं उसके दवा लगा देंगे।

दूसरे दिन बेटी के दोनों बच्चे शोर मचा रहे थे। बेटी भी दुःखी ही थी। बेटी ने बच्चों के दो तमाचे लगाये। मैं भी डाँट बैठी।

बेटी दूसरे रोज़ उनके पास बैठी थी। ये दोनों लड़के भी वहीं पहुँच गये। पहले बड़ा जाकर पूछने लगा—बाबूजी, कैसी तबियत है? उसी को देखकर

छोटा भी पूछने लगा। उन दोनों के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—अच्छी है।

बड़ा उन्हीं के पास बैठकर बातें करने लगा। बेटी की ओर छोटा बढ़ा। बेटी कमरे के बाहर निकल आयी, साथ ही दोनों लड़के भी बाहर आ गये। जब वे चले आये तो मुझसे बोले—इन बेचारों को तो कोई प्यार करता नहीं।

मैं बोली—मैं आप की सेवा में लगी हूँ। प्यार करनेवाला और कौन है ? सभी परेशान हैं, कौन किसकी ख़बर ले ?

आप बोले—बेटी भी तो बीमारी ही से उठी है। जिस दिन ये सब आये उसी दिन से मैं भी पड़ा हूँ। इन बेचारों को पूछे तो कौन पूछे ? मैं अच्छा होता तो इन बेचारों को खिलाता। बेचारे लावारिस की तरह इधर-उधर घूम रहे हैं। इन बच्चों के लिए एक नौकर रख लो। बेटी को आराम भी मिलेगा। मैं अच्छा हो जाऊँगा तो सब ठीक हो जायगा।

सन् १९३६, २५ अगस्त,

अगस्त महीने की २५ वीं तारीख़ को रात २ बजे मैं जाग रही थी। उस दिन सुबह ही से मैं चिंतित थी। रात को आप सोये हुए थे। मैं ख़ामोश पड़ी सिर दाब रही थी। सामने घड़ी थी। बार बार उसी पर निगाह जाती। बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करती कि ईश्वर दया कर।

दो या सवा दो का समय था। मुझसे बोले—रानी मुझे गर्मी हो रही है। शायद मुझे फिर ख़ून की क़ै होगी। आज २५ वीं तारीख़ है न।

मैंने कहा—नहीं तो। आज २४ है।

आप बोले—मुझे बड़ी गर्मी लगी है। देखो घड़ी में २॥ तो नहीं बजा है।

मैं बोली—आपको व्यर्थ की शङ्का हो रही है।

मेरे ज़ोर देने पर उन्होंने मान लिया। घड़ी भी मैंने आध घंटा लेट

कर दी। बोली—अभी तो दो बजे हैं। फिर इन बातों को सोचिए मत। सोचने से और चिन्ता बढ़ जायगी।

आप बोले—मैं इन बातों को सोचने थोड़े जाता हूँ। इन बातों के सोचने में मुझे आराम भी नहीं मिलता। मुझे इस क़ै में बेहद तकलीफ़ होती है। इतनी तक़लीफ़ होती है कि जान भर नहीं निकलती और सब कुछ भुगत लेता हूँ। मैं करूँ क्या, मुझे ख़ुद ही परेशानी हो रही है।

मैं बोली—आप चिन्ता छोड़ दें। कुछ न होगा। सो जाइए। उन्हें समझा तो मैं ज़रूर रही थी; पर मैं ख़ुद सहमी थी। वे तो शायद इन बातों को सुनकर कुछ ज़रूर प्रभावित हुए।

उस दिन रात भर जागकर ही सुबह की। उनकी उस चिन्ता से मुझे घबराहट हो रही थी। क्या उन्हें सचमुच बोध हो गया कि आज २४ है? बीमारी ही में नहीं हर बार मेरी बात को वे मान जाते थे। इसलिए वे मेरी बातों को नहीं मानते थे कि मैं उनसे ज़्यादा समझदार थी। बल्कि इस-लिए कि वे मेरा मान रखना चाहते थे। कई बार मुझसे उन्होंने कहा था कि मेरी तरह, मुझे विश्वास है, तुम्हारे बच्चे तुम्हारी बात न मानेंगे। इसी का ख़्याल कर बच्चों की कोई शिकायत मैंने उनसे नहीं की। हाँ, उन्हें यही जवाब देती थी कि लड़कों के साथ तो ब्याही नहीं गई हूँ। जिसने अपने लड़कों पर अपना हक़ न समझा हो और एक आदमी पर अपना सारा जीवन डाल चुका हो, और उसे वह भी छोड़कर चला जाये तो उसके जीवन में क्या बाक़ी रह जाता है? बस आख़ीर में उसके हाथ लगती है निराशा और दुर्भाग्य।

पहले जिस मकान में रहती थी, नीचे उसी में प्रेस भी था। जब वहाँ से हटे तो साथ ही प्रेस भी आया। जिस हिस्से में प्रेस है, वह उस समय बन रहा था। दिन भर उधर ही आपकी आँख रहती। राज़ों की कारीगरी देखते थे या प्रकृति का खेल, नहीं मालूम! देखते उसी की तरफ़ रहते थे।

पहले हम लोग आये। बाद में दस-पन्द्रह दिनों पर प्रेस आया। जब

दूसरे नये मकान में आये तो दो दिन तक शाम को वे लॉन में टहलते। कहते—इसमें मेरी तबियत अच्छी हो जायगी। मैंने भी समझा कि शायद इसमें अब अच्छे हो जायँ।

सच है धरती सभी को खा जाती है, पर धरती को कोई नहीं खा पाता। क़िस्मत अपनी ख़राब होती है, जगह वग़ैरह तो बहाना होता है। उस मकान में किताबों का स्टॉक लद रहा था। दिन में अक्सर मुझसे कहते—देखो, ठीक ठीक रखा जा रहा है कि नहीं। नया बना हुआ मकान है। दीमक ज़्यादा लगेंगे।

नहीं मालूम होता कि क्या मेरा देखना वे अपना देखना समझते थे। जब कई बार मुझसे कहा, देख आओ तो मैं बोली—भाई रखते-रखाते होंगे, मैं क्या देख आऊँ।

आप बोले—इसकी चिन्ता करने की ज़रूरत तो तुम्हें है। जितनी फिकर मुझे और तुम्हें है, उससे अधिक होगी उन्हें? दीमक लग जाने से नुकसान हो जायगा।

मैं बोली—देखती तो हूँ सब हालत।

जाकर देखा तो दीवाल से सटाकर किताबें रख रहे थे। आदमियों से मैं बोली—दीवाल से सटाकर क्यों किताबें लगाते हो?

आपने सुन लिया था। बोले—मेरा कहना सुन लिया न। बेफ़िक्र होकर कभी आदमी न बैठे। अपने काम में अपना सिर लगा देना चाहिए।

मैं बोली—रख देंगे। आपने कहा—यही दुनिया का तरीक़ा है। एक तो नुक़सान का नुक़सान हो, दूसरे दुनिया बेवकूफ़ बनाये।

सामान पुराने मकान से आ रहा था। कुछ सामान आ गया था। कुछ बाक़ी था। मकानमालिक और धुन्नू में झगड़ा हो गया था। मकान-मालिक सामान निकालने ही नहीं देता था, उसमें ताला डाल दिया था, कर्म-चारियों को लेकर धुन्नू वहाँ पहुँचा। ताला अपने आदमी तोड़ने लगे तो मारपीट होने लगी। आपको पता चला कि धुन्नू और मकानमालिक में

झगड़ा हो रहा है। दामाद यहीं थे। उनसे कहा—बेटा, जाकर सामान उठवा लाओ। जब उधर वह लड़का चला गया तो मुझसे बोले—मैं तो इधर बीमार पड़ा हूँ और यह फ़ौजदारी करने पर तुला हुआ है।

मैंने कहा—ग़लती उन्हीं की है। क्योंकि सामान नहीं देता, ताले लगा दिये हैं। फिर वह भी तो लौंडा ही है। आपको नहीं मालूम जब हम लोग वहाँ रह रहे थे तो वह दूसरों की तरह आपसे भी झगड़ता था। हम लोग लड़का समझकर बोलते न थे। आख़िर दोनों लौंडे ठहरे।

आप बोले—यह समय शान्ति से काम चलाने के लिए है। आख़िर झगड़ा बढ़ा क्यों?

मैं बोली—झगड़ा इस बात पर बढ़ा कि वह पानी का पैसा माँग रहा है। वह कहता है मकान का पानी तुम्हीं ने ख़र्च किया है, टैक्स और कौन देगा? धुन्नू का कहना है कि नये मकान में तुम पानी ले जाते थे, इसलिए ज़्यादा पानी लगा।

आप बोले—तुम्हीं दे दोगी तो क्या हो जायगा। गुण्डों के साथ गुण्डापन करने से काम नहीं चलता। बुलाकर रुपये दे दो। आपने मकानमालिक को बुलवाया। जब वह आया तो उससे पूछने लगे—कल क्यों झगड़ा कर बैठे?

वह बोला—आपत ने झगड़ा किया। पानी का टैक्स आपको देना चाहिए था।

मैं सुनकर बोली—तुम चारों धुन्नू से बड़े होकर भी कितना झगड़ा हमसे करते थे। मकान जब किराये पर दे दिया गया तो पानी लेने के मुस्तहक तुम नहीं रहे।

लड़का बोला—आप के दामाद न गये होते तो वे जाने क्या करते? वे बड़े शरीफ़ हैं।

मैं बोली—झगड़ा तुम्हारी ओर ही से शुरू हुआ। तुम अपनी पूरी ताक़त से वहाँ थे, धुन्नू भी पूरी ताक़त से गया था।

आप बोले—अब तुम झगड़ा करोगी क्या ? बोलो जी, कितने रुपये हुए ? उसने कहा—अठारह रुपये।

मुझसे बोले—दे दो जी। लो, अपने रुपये ले जाओ। सीधे मेरे पास चले आये होते। रुपये मिल जाते। झगड़ा भी न होता। अभी लड़के हो, ज़रा सँभलकर चला करो। और तो नहीं कुछ बक़ाया है ? किराया तो नहीं बाक़ी है ?

उन लोगों ने कहा—नहीं, किराया पूरा मिल गया।

आप उसे उपदेश देने लगे—देखो, थोड़ी-थोड़ी बात के लिए झगड़ा नहीं करना चाहिए। ईमानदार बनो, व्यवहार-कुशल बनो। ज़रा-सी बात के पीछे अपनी इज्जत न गँवाना। तुम अपनी बदनामी कराओगे, दूसरे की भी। इन सब बातों में महत्ता नहीं है। इन रोज़ के व्यवहार की बातों में ईमानदार और व्यवहार-कुशल होने की बहुत ज़रूरत होती है।

इनमें दोनों बातें—प्यार और उपदेश—हैं। उपदेश की फटकार बहुत ज़रूरी होती है। यह फटकार अपने को पहचानने की ताक़त देती है।

× × ×

बीमारी के दिनों में उन्होंने मुझसे एक घटना बताई। एक दिन उन्हें रात को नींद नहीं आ रही थी। मैं उनके सोने के लिए कोशिश कर रही थी। रात का एक बजने का समय था। आप बोले—मैं बीमार क्या पड़ा, तुम्हारे लिए खाना-पीना सब हराम हो गया।

अपने सिर से हाथ खींचते हुए बोले—इधर आओ। जब नींद नहीं आती तो कुछ बात ही करें।

मैं बोली—नहीं आप सो जाइए। रात ज़्यादा चली गई है।

तब आप बोले—मैं घंटों से सोने और तुम्हें सुलाने की कोशिश में हूँ। पर नींद आये तब न ! देखो तुमसे अपनी एक चोरी का हाल बताऊँ। पर मुँह के बाहर निकालते झिझक होती है।

मैं बोली—कैसी चोरी ?

तब बोले—उस बंगाली युवक को तुम्हारी जान में जो दिया था सो तो दिया ही था। अपनी बीबी के ज़ेवर और कपड़े भी उसने मेरी ही ज़मानत पर लिये थे। उस रुपए को तुम्हारी चोरी से मैंने अदा किया।

मैं बोली—आपने कैसे दिया ?

तब आप बोले—तुम्हीं सोचो करता क्या ? जो तुम्हारी चोरी से कहानियाँ लिखता था, उसी के पैसे उसे दे आता था। तुमसे रुपयों का नाम भी नहीं लेता था। क्या करता उसका भी कर्ज़दार रहा होऊँगा। और मैं क्या कहूँ ?

मैं बोली—नहीं साहब, मुझे सब मालूम होता रहता था। मैं भी चुप रहती थी।

आप बोले—सच ? बताओ कैसे मालूम होता था ?

मैं बोली—सराफ़ और बज़ाज को कई बार आपके पास आते मैंने देखा था। तभी मुझे मालूम हो गया था।

आप बोले—तुमने कभी मुझसे पूछा नहीं ?

मैं बोली—मैं पूछती क्या ? जब आप चोरी से देते थे, तब पूछने की क्या ज़रूरत थी ? फिर मैंने समझा कि जब धोखा खा चुके तो देना पड़ेगा ही।

आप बोले—अच्छा एक और चोरी सुनो। मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा संबंध था।

मैं बोली—मुझे मालूम है।

यह सुनकर वे मेरी ओर देखने लगे। उस देखने के भाव से ऐसा मालूम होता था जैसे वे मेरे मुँह को पढ़ लेना चाहते हों। मैंने उनको अपनी तरफ़ देखते देखकर निगाह नीची कर ली। बड़ी देर तक वे गम्भीर होकर मेरे चेहरे की ओर देखते रहे। मैं शर्म से सिर झुकाये थी। बार-बार मेरे

दिल के अन्दर ख़याल हो रहा था कि इन बीती बातों के कहने का रहस्य क्या है ?

कुछ देर के बाद बोले—तुम मुझसे बड़ी हो।

उनके उस कथन का रहस्य मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आया।

मैं बोली—आज आपको हो क्या गया है ? मैं बड़ी हो सकती हूँ ?

तब आप हँसते हुए बोले—तुम हृदय से सचमुच मुझसे बड़ी हो। इतने दिन मेरे साथ रहते हुए भी तुमने भूलकर भी ज़िक्र नहीं किया।

यह सुनकर मैंने उनका मुँह बन्द कर कहा—मैं इसे नहीं सुनना चाहती।

उस वक्त मेरे दिल में यही ख़याल आया कि बात क्या है ? आज इस बीती बात को इस तरह करने का रहस्य क्या है ? इन सब बातों को सोचकर मैं शिथिल पड़ गई।

आप अपने आप बकने लगे—हे भगवान्, मैं आज तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कुछ दिन के लिए अच्छा कर दो। वे इस तरह की प्रार्थना कर रहे थे। और मैं चारपाई पर पड़ी-पड़ी रो रही थी।

फिर अपने आप वे बोले—तुम सुनते नहीं हो भगवान् ? अगर हो तो तुम्हें सुनना चाहिए। मैं और कुछ नहीं चाहता। इस बार अच्छा होना चाहता हूँ। जो यह निष्कपट मेरी सेवा कर रही है। महज़ इसके लिए मुझे तू एक बार ज़िंदा कर। शायद वे रो भी रहे थे। अगर भगवान्, तू मेरी इस प्रार्थना पर कान नहीं देता तो अगले जन्म में फिर इन्हें तू मुझसे मिला दे। अगर नहीं मिलाया तो मैं यही समझूँगा कि मेरा जन्म व्यर्थ ही गया।

मुझमें उस समय जड़ता आ गई थी। मेरा गला भर आया था। आँखों में आँसू भरे हुए थे। आँसू रोकने की बहुतेरी कोशिश की पर सब बेकार। जितनी ही कोशिश मैं रोकने की करती, आँसू और निकलते आ रहे थे। उसके साथ ही यह डर था कि कहीं इन्हें मालूम न हो जाय कि मैं रो रही हूँ। आख़िर मैं करती क्या ? मैं भी तो एक निर्बल नारी हूँ। अपने को कहाँ तक वश में कर पाती। जिसका ऐसा स्नेही अलग हो रहा

हो, उसे कैसे चैन मिले। थोड़ी देर के बाद वे उठकर पाख़ाने चले गये। पाख़ाने से लौटकर दूसरी छत पर टहल रहे थे। मैंने चुपके से उठकर मुँह धोया। गला साफ़ किया। जैसे मेरा गला साफ़ हुआ, वे भी आकर चारपाई पर लेट रहे। मुझे जागती समझकर बोले—मैं तुमसे कई दिनों से अपनी बातें बता देने का इच्छुक था।

मैं बोली—मुझे इन बातों के सुनने की इच्छा नहीं है।

आप बोले—कोई दूसरा समय होता तो शायद मैं भी न कहता। मगर इस समय मैं बिना इन बातों के कहे तुमसे रह भी नहीं सकता था। मैं जितना ही तुम्हारे विषय में सोचता हूँ, उतना ही मुझे क्लेश होता है। मैं चाहता हूँ तुम मेरे पास से एक सेकेण्ड के लिए भी न हटो। न जाने मुझे इधर कई सालों से क्या हो गया है। तुम कहीं चली जाती हो तो मुझे कुछ भी नहीं अच्छा लगता।

मैं बोली—तो मैं जाती ही कहाँ हूँ।

'फिर आख़िर मैं ऐसा क्यों होता जा रहा हूँ।'

मैं बोली—घर में दो आदमी ठहरे। उसमें अगर एक चला जायगा तो ज़रूर सूना लगेगा।

आप बोले—नहीं जी, कुछ भी समझ में नहीं आता। क्या जाने सभी की हाल ऐसी हो जाती है या हमारी ही?

यों पहले भी उनकी तबियत ऐसी ही थी। बीमार होने पर वे पास से उठने न देते थे। शायद उनको अच्छा न लगता था। आदमी अपने को सबसे ज़्यादा अक्लमन्द समझता है तथा सबसे ज़्यादा शक्तिमान् समझता है। अपने को प्रेमी और कोमल समझता है। होता उसका उल्टा है। अक्ल की तो यह हालत है कि जिस्म के अंदर का पता नहीं पाते। कब क्या हो जायगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। शक्ति की यह हालत है कि सब कुछ आँखों के सामने होता रहता है और हम कुछ नहीं कर पाते। ख़ाली हाथ बैठे रह जाते हैं। जो कुछ अक्ल मौक़े पर रहती भी है, वह जवाब दे

देती है। कोमलता की यह हालत है कि कड़ा से कड़ा दुःख सहते रहते हैं, पर कुछ नहीं कर पाते।

यह सब कुछ देखने के बाद यही मालूम होता है कि परिस्थितियों के सामने हारकर सभी अपना सिर झुका देते हैं। सबको परिस्थिति के सामने विवश हो जाना पड़ता है। आदमी करे ही क्या? उसमें ऐसी शक्ति नहीं कि उसका मुकाबला कर सके। मुक़ाबला तो तभी हो सकेगा जब वह ख़ुद मरने के लिए तैयार हो। तभी तो कोई कुछ कर सकता है। आज मैं उन बातों को सोचती हूँ तो बराबर यही मालूम होता है कि मैं कितनी नीच और कितनी क़ायर हूँ। जो मैं कुछ नहीं कर पाती। जो कभी एक दिन के लिए भी अलग होना न चाहता हो उसके चले जाने पर भी उसी रफ़्तार और उसी ढंग से मैं आज चली जा रही हूँ। इससे ज़्यादा और क्या कायरता तथा नीचता होगी। अगर यह सब बातें किसी को महसूस न हों भी तो कोई बात नहीं। मगर सब महसूस करते हुए भी कोई खामोश बैठा रहे तो क्या यह नीचता नहीं है? और एक दिन दो दिन की बात नहीं है। जिसने अपनी दिल की सारी बातें सह चुकी हों, उसके लिए शेष रह ही क्या जाता है?

मैं उस महान् आदमी को ज़रा भी न पहचान सकी। महान् आत्माओं को पहचानने के लिए अपने में जोर चाहिए, ताक़त चाहिए। फिर मैं समझती हूँ, वह शक्ति आ ही कैसे सकती थी। मैं पहचानती ही कैसे? मैं तो अपने पागलपन में मस्त थी। मैं तो उन्हें अपनी चीज़ समझती थी। वे अगर अपने नहीं थे तो डरते क्यों थे? मुझसे छिपाकर कोई काम वे न करते। मैं उनके सामने थी ही क्या? उनके समान भला मैं हो सकती थी। मगर नहीं, मेरी आँखों को धोखा था। आँख खुली भी तो उस समय जब कोई लाभ नहीं, वे अपने हृदय की सारी बातें एक एक करके कह गये। मैं उस समय भी उन्हें न पहचान पाई। अब बाक़ी क्या रहा? अँधियारी रात और उसी रात में भटकना! और अपने भाग्य को कोसना। हारकर यही मुँह से निकल जाता है कि मैं उस देवता को पहचान न सकी।

× × ×

इस घर में आने पर आपके पेट में दर्द होने लगा।

मैं बोली—गरम पानी करके सेंक दूँ?

आप बोले—सेंक दो, शायद कुछ आराम ही मिल जाय। मैंने गरम पानी करके मँगवाया। चारपाई पर बैठकर उनके पेट को सेंक रही थी। मेरी जेठानी बैठी हुई मेरी मदद कर रही थीं। उनको देखकर बोले—तुम्हीं सेंको जी।

मैं बोली—और कौन है? मैं ही सेंक रही हूँ।

आप बोले—भौजी को क्यों तकलीफ़ दे रही हो?

मैंने उनके क्रोध से बचने के लिए उन्हें इशारे से हटा दिया। जब वे चली गईं तो कहा—दरवाज़ा बन्द कर दो। तब मैंने दरवाज़ा बन्द कर दिया।

मुझसे बोले—मेरा काम तुम ख़ुद किया करो।

मैंने कहा—मैं ही करती हूँ।

आप बोले—हाँ, मैं किसी का ऋणी नहीं होना चाहता। किसी का ऋणी अगर होना चाहता हूँ तो तुम्हारा ही।

मैं बोली—इसमें ऋण की क्या बात है?

आप बोले—जो सेवा करेगा वह सेवा लेगा नहीं?

मैंने कहा—अपने घर में कोई किसी का ऋणी नहीं होता।

यह सुनते ही उनकी आँखों में आँसू आ गये।

मैं बोली—आप यह कर क्या रहे हैं?

बोले—कुछ नहीं जी। मैं ख़ाली तुम्हारा ही ऋणी होना चाहता हूँ, दूसरों का नहीं। तुम जितनी भी सेवा करोगी, मुझे ख़ुशी ही होगी। क्योंकि इस जन्म में आराम मिलेगा, उस जन्म में भी।

उस वक्त मेरी भी आँखों में आँसू आ गये थे। मैं इस ख़याल से कि इन्हें मेरे आँसू न दिखाई पड़ें, बाथरूम में चली गई। सोच-सोचकर मुझे और आँसू आ रहे थे। इस महान पीड़ा में भी इन्हें मेरा कितना ख़याल

है। मगर मुझे रोने की जगह कहाँ ? उनके सामने रोने से उनकी तबियत और भी ख़राब हो जाती। बाहर रोऊँ तो लड़के-लड़कियों को कैसा लगेगा ? मेरी ही हिम्मत पर घर के सभी आदमी आश्रित थे। बार-बार यही दिल में आता कि क्या होगा ? अभागों को रोना भी नहीं नसीब होता। सबको समझानेवाली मैं थी। मेरा समझानेवाला तो ख़ुद ही अधीर हो रहा है। मैं किसके पास रोऊँ ? फिर मेरी ड्यूटी भी रोने की नहीं थी।

रात को फिर पेट में दर्द उठा। फिर वही बेचैनी। चारपाई पर सेंकने से भी आराम नहीं पहुँच रहा था। उठने की शक्ति नहीं, फिर भी उठकर बैठ गये। मैं करती क्या ? यह सब बातें मेरी आँखों के सामने ही हो रही थीं। मैं उन तकलीफ़ों से उन्हें बचा न पाती। घर भर सो रहा था। मैं अकेली रात को बैठी कभी पेट सहलाती, कभी पंखा करती। जब पेट का दर्द कुछ कम हुआ तो बोले—रानी मैं अब नहीं बचूँगा।

मैं बोली—क्या बात है ?

बोले—मेरी हालत देख रही हो, तुम तब भी यही कहती हो।

मैं बोली—डाक्टर भी तो यही कहता है। घबराइए नहीं।

बोले—घबरा न जाऊँ तो करूँ क्या ?

मैं बोली—घबराने से कहीं काम चलता है ?

फिर बोले—रात-दिन तुम भी तो मेरे साथ पिस रही हो। मैं तुम्हारी सेवा देखकर चकित रह जाता हूँ।

मैं बोली—आपको अच्छा होना है।

आप बोले—न अच्छा होऊँ तब ?

मैं बोली—मैं यह नहीं सुनना चाहती।

बोले—आख़िर...

मैंने कहा—इसके पहले मैं अपनी मौत चाहती हूँ।

बोले—सुनो। अगर तुम पहले चले जाओ तो मुझे दुःख होगा बिल्कुल तुम्हारी तरह। मगर सोचो तुम्हारे कर्तव्य तब मैं और ज़्यादा ज़िम्मेदारी से

निबाहता न ! वैसे ही तुम्हें भी चाहिए कि तुम अपने कर्तव्य निभाओ। अगर मैं न रहूँ तो तुम्हारा कर्तव्य हो जाता है। बन्नू को आराम से रखना, ईमानदार और नेक बनाना। तुम अभी भी तो अपने लिए नहीं जी रही हो। बाद को भी न जिओगी। कौन तुम्हीं अमर होकर आई हो। एक दिन सबको मरना है।

मुझमें उस समय बोलने की ताकत बिल्कुल नहीं थी। मैं पड़ी थी। वे अपने आप बक रहे थे। वे कहते सब कुछ थे; मगर मेरी आशा वैसे ही बँधी हुई थी। उन्हीं आशाओं को लेकर मैं जी रही थी। उन्होंने समझा मैं सो गई हूँ। उस वक्त एक मिसरा खुद पढ़ रहे थे : खुश रहो अहलेवतन हम तो सफ़र करते हैं।

दुनिया की दुआ कर रहे थे, और अपने जाने की तैयारी। फिर खुद कहने लगे—

दुनिया की सब न्यामतें रहेंगी पर हम नहीं रहेंगे।

इन सबों को सुनकर मेरा हृदय फटा जा रहा था। सबके बाद मैंने पीछे का दरवाज़ा खोला। अँधेरी रात में बाहर खड़ी-खड़ी रोती रही। रोने के बाद मेरी यह भावना हुई कि मैं आख़िर ज़िन्दा क्यों हूँ? भीतर से मेरी आत्मा पुकार-पुकारकर कह रही थी कि देखो, तुझे कितना दुःख सहना पड़ेगा। मैं उसी अँधेरी रात में कुएँ की तरफ़ चली। जब कुएँ की जगत पर पहुँची तो तो ध्यान आया तुम डूबने तो जा रही हो, इनकी सेवा कौन करेगा? यह प्रेम नहीं है। प्रेम तो इसी में है कि घुट-घुटकर मरो। अगर अच्छे रहे तो सुख से रहना। पैर में जैसे बेड़ी पड़ गई। वह महज़ एक आशा थी।

तब तक आप जाग रहे थे। बोले—आओ चारपाई पर बैठकर पंखा खींचो।

मैं पंखा झलने लगी। शायद उन्होंने रोना तो नहीं देखा था, पर अन्दाज़ से जान लिया कि मैं रो रही थी। मेरा बायाँ हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—तुमको सुस्त देखता हूँ तो घबरा जाता हूँ। कहीं तुम बीमार

पड़ गईं तो मैं मर जाऊँगा। अच्छा भी होनेवाला होऊँगा तो तुम्हारे बीमार पड़ने पर बचने का नहीं।

मैं बोली—मैं बीमार कहाँ पड़ी जाती हूँ। बीमारी तो उन्हें ही आती है जो सबको सुखी करते हैं। मुझ ऐसों को बीमारी नहीं आ सकती!

मेरे गाल पर धीरे से एक चपत लगाते हुए बोले—अगर तुम बीमार पड़ जाओ तो मैं कहीं का न होऊँ। औरों को चाहे तुम्हारी ज़रूरत न हो, पर मुझे तो तुम्हीं सबसे ज़्यादा ज़रूरी हो।

इन शब्दों में कितना प्यार और अपनाप है। चाहे इन्सान और कुछ न चाहे पर प्यार तो चाहता ही है। इन दोनों के पीछे आदमी जो भी लुटा दे थोड़ा है।

बीमारी के उन्हीं दिनों में नाथूराम प्रेमी बम्बई से मिलने के लिए आये। उन्हीं दिनों 'हंस' की ज़मानत भी देनी थी।

आप बोले—'हंस' की जमानत जमा करा दो।

मैं बोली—अच्छे होने पर सब ठीक हो जायगा, घबड़ाइए नहीं।

आप बोले—रानी, 'हंस' ज़रूर निकलेगा, चाहे मैं रहूँ या न रहूँ।

जब मैंने यह सुना तो चुप रह गई। बोली—कल जमा करवा दूँगी।

प्रेमीजी कई दिन रहे। एक दूसरे सज्जन भी इलाहाबाद से मिलने के लिए आये थे। वे मेरे भाई के मित्र थे। इन दोनों महाशयों को चिन्ता हुई कि कहीं मैं भी न बीमार पड़ जाऊँ। इन दोनों ने उनके छोटे भाई से कहा—यह रात-दिन जागती हैं। अगर ये बीमार पड़ीं तो सब चौपट हो जायगा।

उनके भाई बोले—अगर वे कहें तो मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।

प्रेमीजी मुझसे धीरे-धीरे कह रहे थे कि आप कह दीजिए कि वही जागा करें।

मैं उन्हें कह रही थी कि मैं क्यों किसी से कहूँ। मैं ही क्या कम हूँ, फिर मुझे दूसरों की सेवा पर विश्वास भी नहीं है।

न मालूम कैसे यह आवाज़ उनके कान में चली गई। मुझे बुलाकर

बोले—यहाँ तो आओ। जब मैं गई तो बोले—प्रेमीजी क्या कह रहे थे ?

मैं बोली—आपने कहाँ से सुन लिया ?

बोले—आख़िर क्या बात थी ? मैं किसी और की सेवा कराना नहीं चाहता। बस केवल तुम्हारी सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा—मैंने कहा ही आख़िर किससे जो आप ऐसा कह रहे हैं ? आप ही दुलहिन से पैर दबवाने के लिए कहते हैं, तभी भेजती हूँ, कहिए उन्हें भी मना कर दू।

बोले—उनसे तो मैं अपनी इच्छा से पैर दबवाता हूँ। उनको मेरी सेवा करने का शौक़ है तो मैं क्यों रोकूँ ?

मैं बोली—मैं भी नहीं चाहती कि दूसरे आपकी सेवा करें। यों लड़की-लड़का चाहे जो कर दें। कहिए तो मैं उनसे भी मना कर दूँ ?

तब बोले—नहीं जी, ये तो अपने ही हैं।

दूसरे दिन तीज की सुबह थी। दुलहिन बैठकर पैर दबा रही थी। मैं आकर पास खड़ी हो गई। बेटी मन मारे ज़मीन पर बैठी थी। दुलहिन लाल रंग की साड़ी पहने उनके पैर दबा रही थी। मेरी तरफ़ इशारा करके बोले—आज बड़ी अच्छी पहनी है। अच्छा, कल शायद तीज थी।

मैंने कहा—बेटी की साड़ी नहीं आई।

आप बोले—ख़ैर, मैं अच्छा होते ही ढेर की ढेर साड़ियाँ ला दूँगा।

मेरी ओर देखकर बोले—तुमने बड़ी ग़लती की। इन लोगों के लिए साड़ियाँ मँगा देनी चाहिए थीं।

बेटी और दुलहिन दोनों बोलीं—आप अच्छे होते तो बड़ी साड़ी ला देते।

बोले—सब्र करो। अच्छा होने पर अच्छी से अच्छी ला दूँगा।

आज सभी हमेशा के लिए निराश हो गये। उनकी बात में कितना प्रेम भरा रहता था।

प्रेमी जी कई दिन रहे। घंटों बैठकर उनसे बातें करते। प्रेमीजी जिस

दिन दो बजे रात की गाड़ी से जाने को तैयार थे, मैं शायद सो गई थी, मुझे जगाकर बोले—रानी, उठो प्रेमी को पहुँचा आओ।

प्रेमीजी बोले—नहीं, नहीं सोने दीजिए।

मैं जाग गई थी। बोली—कहिए क्या है ?

बोले—प्रेमीजी जा रहे हैं। इनको कुछ दूर तक पहुँचा दो।

मैं प्रेमीजी को पहुँचाने गई। मगर मेरे हृदय में एक अजीब तरह की व्यथा देने लगा उनका वह शब्द कि मेरी ड्यूटी तुम पूरी करो। मैं अपने दिल में उन शब्दों को बार-बार दुहराने लगी। बार-बार मेरे दिल में यही शब्द नाच रहा था। ये अपनी ड्यूटी मुझे सौंप रहे हैं। ये तो अपने मित्रों का स्वागत स्वयं करते थे। अपने मित्रों को पाकर ये निहाल हो जाते थे। यहाँ तक कि अपने मित्रों को पाकर खाना-पीना तक भूल जाते थे। इसी तरह मुंशी दया-नारायण साहब के जाते समय भी यही दृश्य हुआ था। उस दिन आँखों से आपने इशारा किया था। उनमें दिखावा नहीं था। वे प्रेम से ऐसा करते थे। यह उनकी आदत की बात थी। उनसे मिलने कोई भी आता, उससे हँसकर मिलते।

आज यही मेरी ज़िम्मेदारी है। यही बार-बार आता है कि ईश्वर, तुमने इनको उतना विवश कर दिया था। पहले किसी भी काम को नहीं करने देते थे। आज मेरी ड्यूटी बताते हैं। प्रेमीजी को पहुँचा आने पर जब मैं लौटी तो मुझे घण्टों रुलाई आई। पर ज़्यादा साँस लेने की गुज्जाइश मुझे न थी।

दाँतों के बीच ज़बान की तरह मैं अपने बोझे से दबी थी। क्योंकि साँस लेने की मुझे बिल्कुल गुञ्जाइश न थी। सब कुछ सहने के लिए मैं भी तैयार थी। मगर यह देखने के लिए नहीं तैयार थी कि वे दुःखी हो जायँ। मुझे विश्वास था कि वे अच्छे हो जायँगे।

मेरी आशा की रस्सी टूट चुकी है। उनको तो खो ही चुकी, उनकी आशा और विश्वास भी खो बैठी और उसके बिना जीवन मेरे लिए अमावस्या की रात की तरह है। इसके आगे और क्या कहूँ।

× × ×

एक पुरानी घटना और मुझे याद आती है।

'प्रेस' खुल गया था, और आप स्वयं वहाँ काम करते थे; जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोधपूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपए दिये, परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मज़दूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा—कपड़े कहाँ हैं? तब आप हँसकर बोले—कैसे कपड़े? वे रुपये तो मैंने मज़दूरों को दे दिये; शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई। तब वे अपने सहज स्वर में बोले—रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे वह भूखों मरे और मैं गरम सूट पहनूँ, यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली—मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—जब तुमने मेरा ठेका ले लिया है, तब मेरा रहा ही क्या? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं; हमारा तुम्हारा कर्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है वह तुम्हारा भी है क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। मैं निरुत्तर हो गई और बोली—मैं तो ऐसा सोचना नहीं चाहती। तब उन्होंने असीम प्यार के साथ कहा—तुम पगली हो।

जब मैंने देखा कि इस तरह वे जाड़े के कपड़े नहीं बनवाते हैं तब मैंने उनके भाई साहब को रुपये दिये और कहा कि इनके लिए आप कपड़े बनवा दें। तब बड़ी मुश्किल से आपने कपड़ा खरीदा। जब सूट बनकर आया तब आप पहनकर मेरे पास आये और बोले—मैं सलाम करता हूँ, मैंने तुम्हारा हुक्म बजा लाया हूँ। मैंने भी हँसकर आशीर्वाद दिया और बोली—ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और हर साल नये नये कपड़े पहिनो। कुछ रुककर फिर मैंने कहा—सलाम तो बड़ों को किया जाता है; मैं न तो उमर में बड़ी हूँ, न रिश्ते में, न पदवी में, फिर आप मुझे सलाम क्यों करते हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया—उम्र, रिश्ता, या पदवी कोई चीज़ नहीं है; मैं तो हृदय देखता हूँ और तुम्हारा हृदय माँ का हृदय है; जिस प्रकार माता अपने बच्चों को खिला

पिलाकर खुश होती है, उसी प्रकार तुम भी मुझे देखकर प्रसन्न होती हो और इसलिए अब मैं हमेशा तुम्हें सलाम किया करूँगा। हाय! मई १९३६ में उन्होंने स्नान करके नई बनियान पहनी थी और मुझे सलाम किया था—यही उनका अन्तिम सलाम था।

उनके अन्तिम दिन

एक दिन बेहोशी दूर हुई तो बोले—शिवप्रसादजी गुप्त ने एक मातृ-मन्दिर बनवाया है, महात्माजी उसका उद्घाटन करेंगे; उसे देखने के लिए लाखों की भीड़ वहाँ जमा होगी।

मैंने कहा—आप अगर तब तक अच्छे हो जायँगे तो मैं भी आपके साथ चलूँगी।

आप हँसकर बोले—मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि रानी, तुम्हारी बातें सच निकलें। पर मैं देखता हूँ रानी, तुम्हारी इस जन्म की तपस्या सफल होती नहीं दीखती।

मैंने कहा—आप मन को क्यों छोटा करते हैं। हमने किसका क्या बिगाड़ा है, भगवान् हमारी आशा सफल करेंगे।

आप बोले—रानी, तुम मेरे पास से कहीं भी मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मेरा धैर्य नहीं टूटता। कल तुमने जो मांस की यख़नी खिला दी थी, वह मुझे नहीं पची। तुम ऐसी चीज़ें क्यों मुझे खिलाती हो?

मैं बोली—डाक्टर की राय से मैंने वह चीज़ आपको खिलाई है। डॉक्टर की राय मानूँ कि आपकी?

आप हँसकर बोले—डॉक्टर को तो तकलीफ़ नहीं है; तकलीफ़ तो मुझे है।

मैंने कहा—उससे आपको नुक़सान क्या हो गया?

आप बोले—रानी, देखा नहीं तुमने, कितनी ज़ोर का दस्त मुझे हुआ था।

मैं बोली—इससे तो फ़ायदा ही है। सब पानी निकल जायगा।

आप चिन्ता के स्वर में बोले—पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है रानी !

मैं उनके ये शब्द सुनकर रो पड़ी। टप् टप् करके मेरे आँसू ज़मीन पर लुढ़क पड़े। यद्यपि मैं बड़ी कोशिश में रहती थी कि आपके सामने मेरी आँखों से आँसू न निकले। पर इस बार मेरा मन विवश हो गया। मेरे धैर्य का बाँध टूट पड़ा।

दूसरे दिन फिर आपको बेहोशी हुई। बहुत ज़ोर का पाख़ाना भी हुआ। मैं उसे साफ़ करने के लिए बढ़ रही थी कि भाई ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—बहन, वे अब नहीं रहे ! कहाँ जाती हो ?

मैं खुलकर रो पड़ी। और तभी से आज तक रो रही हूँ। अब मुझे किसका डर रहा ! पाठको, आगे अब मुझसे लिखा नहीं जा रहा है। अब मेरी सारी ज़िन्दगी रोने के लिए ही बच रही है।

मैं न कोई लेखिका हूँ, न कोई कलाकार। इस रचना से पाठकों का ज़रा भी लाभ हो सका तो मैं अपने को धन्य मानूँगी।

